व्यापारिक सन्नियम

(COMMERCIAL LAW)

लेखक

बी० एन० अग्रवाल, एम० ए०, एम० कॉम०,

अध्यापक, वाणिज्य विभाग,

एस० एम० कॉलिज, चन्दौसी ।

तृतीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण

आगरा

नवयुग साहित्य सदन,

उच्च कोटि के शिक्षा सम्बन्धी साहित्य के प्रकाशक

मूल्य : ६।) या ६ रुपये २५ नये पैसे

प्रथम संस्करण—सन् १९५७
द्वितीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण—सन् १९५९
तृतीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण—सन १९६१

विषय-सूची

रिकों का नागरिककरण, नागरिकता का लोप, भारतीय नागरिकता, नागरिकता कर्तव्यों के उचित क्रम-निर्माण पर आश्रित है, आदर्श नागरिक बनने के मार्ग में कुछ बाधाएँ, इन बाधाओं को दूर करने के उपाय।

अधिकार और कर्त्तव्य—अधिकारों का स्वभाव, अधिकार सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्त, अधिकार सर्वदेशीय हैं, अधिकार और राज्य, अधिकार केवल कर्तव्यों की दुनिया में ही जीवित रह सकते हैं, अधिकारों के भेद, प्राकृतिक अथवा नैसर्गिक अधिकार, नैतिक अधिकार, कानूनी या वैधानिक अधिकार, मौलिक अधिकार, अधिकारों का वर्गीकरण, नागरिक अधिकार, राजनैतिक अधिकार, अधिकारों की संख्या अनिश्चित है, संयुक्त राष्ट्र संस्था का मानव अधिकार सम्बन्धी कार्य, उपरोक्त अधिकारों का पालन, अधिकारों की उपयोगिता, कर्तव्य, कर्तव्यों का अर्थ और उनके प्रकार, कर्तव्यों के क्षेत्र, भारतीय संविधान में नागरिकों के मूल अधिकार।

स्वतंत्रता—स्वतंत्रता का स्वभाव, स्वतंत्रता शब्द का भ्रममूलक अर्थ, स्वतंत्रता शब्द का सही अर्थ, [illegible] तथा स्वतंत्रता, कानून या विधि और स्वतंत्रता, स्वतंत्रता की आवश्यकता, स्वतंत्रता का वर्गीकरण।

समानता—समानता शब्द के अर्थ के विषय में कुछ भ्रमात्मक धारणाएँ, समानता का असली अर्थ, समानता का वर्गीकरण, समानता तथा स्वतंत्रता में सम्बन्ध, समानता की आवश्यकता।

. राज्य और उसके तत्व—राज्य का अर्थ, राज्य के आवश्यक तत्व, राज्य तथा कुछ अन्य संस्थाओं में भेद, राज्य तथा समाज में अन्तर, राज्य और संघ में अन्तर, राज्य और शासन में अन्तर, क्या भारत तथा दूसरे स्वतंत्र उपनिवेश राज्य हैं? राज्य और राष्ट्र में अन्तर, राज्य और देश में अन्तर, राज्य की आवश्यकता, अराजकतावादियों का दृष्टिकोण, राज्य सभ्य जीवन की पहली दशा है, राज्य की आज्ञा पालन करना क्यों आवश्यक है? राजनीतिक कर्तव्य का सच्चा स्वभाव, राजनीतिक आज्ञापालन की सीमा, राज्य की किस प्रकार अवहेलना की जानी चाहिए?

. राज्य की उत्पत्ति—दैवी सिद्धान्त, शक्ति सिद्धान्त, सामाजिक समझौता या संविदा सिद्धान्त, ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त, राज्य निर्माण के अंग।

संप्रभुता—संप्रभुता के गुण, संप्रभुता के सिद्धान्त का औचित्य, संप्रभुता तथा सरकार में अन्तर, संप्रभुता के विविध रूप, नामधारी संप्रभु बनाम वास्तविक संप्रभु, वैध संप्रभु बनाम राजनैतिक संप्रभु, लोकप्रिय संप्रभुता, तथ्यतः बनाम विधानतः संप्रभुता।

विधि या कानून—कानूनों का अर्थ तथा स्वभाव, कानूनों का वर्गीकरण, कानून और कुछ दूसरे तत्वों का संबंध, कानून और आचार शास्त्र का सम्

श्यक गुण, कार्यपालिका की नियुक्ति का तरीका, कार्यपालिका के कर्तव्य, न्यायपालिका की नियुक्ति, न्यायपालिका की स्वतंत्रता।

१८. प्रजातंत्र शासन की व्यवस्था—मताधिकार का प्रश्न, आम चुनाव, सर्व मताधिकार, मताधिकार का स्वभाव, सम्पत्ति की योग्यता पर निर्धारित मताधिकार, शिक्षा सम्बन्धी योग्यता पर निर्धारित मताधिकार, महिला मताधिकार, चुनाव के सम्बन्ध में कुछ जानने योग्य बातें, निर्वाचन के तरीके, उपर्युक्त प्रथाओं से लाभ तथा हानि, अल्पसंख्यक जातियों के प्रतिनिधित्व का प्रश्न, आनुपातिक निर्वाचन प्रथा, प्रथा से लाभ तथा हानि, सूची प्रथा, प्रथा से लाभ तथा हानि, सीमित मत प्रथा, एकत्रित मतदान प्रथा, पृथक् निर्वाचन-पद्धति, सुरक्षित स्थान युक्त संयुक्त निर्वाचन-प्रणाली, प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष चुनाव, प्रतिनिधि तथा उसके निर्वाचकों का परस्पर सम्बन्ध, आदर्श प्रतिनिधि प्रथा।

१९. राजनीतिक दल—राजनीतिक दलों के निर्माण का आधार, राजनीतिक दलों के कार्य, द्विदल और बहुदल प्रणाली के गुण-दोष, राजनीतिक दलों से लाभ, राजनीतिक दलों के दोष, राजनीतिक दलों की सफलता की शर्तें।

२०. जनमत—प्रजातंत्र और जागृत जनमत, तानाशाही और जनमत, जनमत क्या है? सही जनमत तैयार करने के रास्ते में रुकावटें, सही जनमत बनाने और उसके व्यक्त करने की शर्तें।

२१. स्थानीय स्वराज्य—स्थानीय स्वराज्य की उपयोगिता, स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें, स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएँ, अधिकार-विभाजन का सिद्धान्त, स्थानीय संस्थाओं के मुख्य कार्य, स्थानीय संस्थाओं के आय के साधन, भारत की स्थानीय स्वराज्य संस्थाएँ।

२२. राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता—राष्ट्रीयता की परिभाषा, राष्ट्रीय भावना के पोषक तत्व, भारतवर्ष एक राष्ट्र है अथवा नहीं? राष्ट्रीय भावना के गुण, राष्ट्रीय आत्म निर्णय के सिद्धान्त का महत्व, राष्ट्रीय भावना के दोष, साम्राज्य-वाद, अन्तर्राष्ट्रीय विश्व सरकार, क्या संयुक्त राष्ट्र संघ विश्व सरकार है?

२३. नागरिक आदर्श—नागरिक जीवन में अधिकारों का स्थान, मनुष्य जीवन शक्ति-आदर्श, सेवा या कर्तव्य पालन का सिद्धान्त। ३

उपसंहार ३

अध्याय १

नागरिकशास्त्र का अर्थ, क्षेत्र, उपयोगिता तथा दूसरे विषयों से सम्बन्ध

§ १. नागरिकशास्त्र क्या है ?

(What is Civics)

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह समाज मे ही जन्म लेता है, समाज में ही पलता है और समाज मे ही बडा होकर अपना विकास करता है। वह समाज को छोड नही सकता। जिस प्रकार मछली पानी से अलग अधिक समय तक जीवित नही रह सकती, ठीक उसी प्रकार मनुष्य भी समाज से अलग होकर न जीवित रह सकता है और न अपने व्यक्तित्व का विकास ही कर सकता है। परिवार में, स्कूल मे, गाँव में, खेत में, मन्दिर में, दफ्तर मे अर्थात जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे मनुष्य एक-दूसरे के साथ मिल-कर रहता, काम करता और कमाता है। इस प्रकार एक साथ रहना और एक-दूसरे के सहयोग से मिल-जुलकर काम करना मनुष्य जीवन की सबसे बडी देन है।

परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नही कि हमारे सामाजिक जीवन या एक-दूसरे के साथ मिल-जुलकर रहने में किसी प्रकार का सघर्ष पैदा नही होता। पुरानी कहावत है कि चार बर्तन होते पर वे खड़कते ही हैं। हमारी बहुत-सी ऐसी इच्छाएँ हैं जो दूसरों से मेल नही खाती। उदाहरण के लिए किसी को सिनेमा से प्रेम है, दूसरा उसे जरा भी पसन्द नही करता। कुछ लोग घुडदौड पसन्द करते हैं, दूसरे इसे घृणा की दृष्टि से देखते है। कुछ मास खाना चाहते है, दूसरे इसे छूने तक नही। इस प्रकार यह हो सकता है कि असमान इच्छा रखनेवाले मनुष्यो मे झगडा हो जाय।

झगडे के और भी अनेक कारण हो सकते है। जैसे एक धर्म और सम्प्रदाय के लोग एक प्रकार से अपने भगवान की पूजा करते है और दूसरे धर्म और सम्प्रदाय के लोग ठीक इसके विपरीत ढग से। हमारे देश के हिन्दू और मुसलमानो की आरती और नमाज का झगडा इसी प्रकार के सघर्ष का उदाहरण है। समाज में मनुष्यों की विभिन्न प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति के लिए सामग्री की कमी और सरकारी कुप्रबन्ध के कारण अनेक प्रकार के झगडे हो जाया करते है। अकाल के समय एक-एक अन्न के दाने लिए लोगों का एक-दूसरे से लड़ना और सरकार के प्रबन्ध में जरा-सी शिथिलता आने पर जगह-जगह लड़ाई-दगों और फिसादो का होना इसी बात को बतलाता है।

झगडे और सघर्ष से मनुष्य के सामाजिक जीवन को भारी ठेस पहुँचती है। मनुष्य दूसरे से प्रेम करने की अपेक्षा घृणा करने लगते है। वह अपने भाइयों की सहायता

करने की अपेक्षा उनके विनाश के उपाय सोचने लगते हैं। सामाजिक जीवन में संघर्ष से आपस का स्नेह और विश्वास उठ जाता है, मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियाँ जागृत हो उठती हैं, उसके अन्दर से दैवी गुणों का लोप होने लगता है, समाज की उन्नति रुक जाती है और देश की शान्ति और व्यवस्था खतरे में पड़ जाती है।

नागरिकशास्त्र इसी प्रकार के संघर्ष, कलह, झगड़े और सामाजिक विषाद को दूर करने की विद्या है। यह वह विज्ञान है जो मनुष्यों को आपस में मिल-जुलकर रहना, एक-दूसरे से प्रेम करना, एक-दूसरे के प्रति स्नेह और विश्वास उत्पन्न करना और एक-दूसरे के सहयोग से जीवन में उन्नति करना सिखाता है। हम अपने जीवन को पूर्णरूप से किस प्रकार सुखी और समृद्ध बना सकते हैं, अपने व्यक्तित्व का किस प्रकार पूर्ण-रूप से विकास कर सकते हैं और अपने आपको किस प्रकार एक आदर्श समाज का नागरिक बना सकते हैं—ये कुछ प्रश्न हैं जिनका नागरिकशास्त्र हमें स्पष्ट उत्तर देता है।

नागरिकशास्त्र की परिभाषा (Definition of Civics)

नागरिकशास्त्र की भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की है। कुछ लेखकों का मत है कि "नागरिकशास्त्र नागरिकता का विज्ञान है।"[1] दूसरे लेखकों का मत है कि नागरिकशास्त्र वह विद्या है जो "हमारे अधिकारों और कर्त्तव्यों का ज्ञान कराती है।"[2] एक प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक डाक्टर एफ० जी० गोल्ड (Dr. F. G. Gould) का कहना है कि "नागरिकशास्त्र उन संस्थाओं, आदतों, कार्यों और शक्तियों का अध्ययन है जिनके द्वारा कोई पुरुष या स्त्री अपने कर्त्तव्यों की पूर्ति कर सके और एक राज-नीतिक समुदाय के सदस्य होने के लाभ प्राप्त कर सके।"[3] एक दूसरे विचारक डा० ई० एम० व्हाइट का कहना है, "नागरिकशास्त्र मानवज्ञान की वह शाखा है जो नागरिकों से सम्बन्धित समस्त विषयों (सामाजिक, बौद्धिक, राजनीतिक और धार्मिक) पर विचार करती है। इसके साथ ही वह नागरिकता के अतीत, वर्तमान, भविष्य, स्थानीय, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय पहलुओं का विश्लेषण करती है।"[4] प्रसिद्ध भारतीय लेखक पुन्ताम्बकर का कथन है कि "नागरिकशास्त्र नागरिकता का विज्ञान और दर्शन है?"[5]

---

1 "Civics is the science of citizenship."

2 "Civics is the science of rights and duties of man."

3 "Civics is the study of institutions, habits, activities and spirit by means of which a man or a woman may fulfill the duties and receive the benefits of membership of a political community."—*F. G. Gould*

4 "Civics is that more or less useful branch of human knowledge which deals with everything (*e. g.*) social, political, intellectual, economic and even religious aspects) relating to a citizen, past, present and future, local, national and human."—*Dr. E. M. White*

5 "Civics is the science and philosophy of citizenship."—*Puntambekar*

यदि हम इन ऊपर दी हुई नागरिकशास्त्र की परिभाषाओं में से प्रत्येक परिभाषा का विश्लेषण करें तो हमें इस बात का ज्ञान हो जायेगा कि नागरिकशास्त्र का मुख्य उद्देश्य मनुष्य के सामाजिक जीवन की उन अवस्थाओं का ज्ञान करना है जिनके द्वारा वह समाज में सबसे अच्छा, सुखी, उपयोगी और समृद्ध जीवन व्यतीत कर सकता है। इसलिए हमारी राय में इस विज्ञान की सबसे सुन्दर परिभाषा यह है कि "नागरिकशास्त्र वह विज्ञान है जो सबसे अच्छे सामाजिक जीवन की दशाओं का अध्ययन करता है।"[1]

हम अपने पड़ोसियों के साथ कैसे रहें, किन बातों से हमारा और हमारे पड़ोसियों का जीवन सुन्दर और सुखी हो सकता है, किन बातों को पूरा करने से हम अपने और अपने पड़ोसियों के बीच का भेदभाव तथा संघर्ष मिटा सकते हैं, किन बातों को करने से हम इस पृथ्वी पर स्वर्ग की स्थापना कर सकते हैं, ये कुछ प्रश्न हैं जिनका नागरिकशास्त्र हमें सही उत्तर देता है। दूसरे शब्दों में नागरिकशास्त्र हमारे जीवन के उन मुख्य प्रश्नों का उत्तर देता है जिन पर मनुष्य की सामाजिक उन्नति और शांति निर्भर है।

§ २· नागरिकशास्त्र का क्षेत्र
(Scope of Civics)

प्रत्येक शास्त्र का अपना क्षेत्र होता है। कोई शास्त्र जड़ पदार्थों का अध्ययन करता है तो कोई जीव-जन्तुओं का। कोई शास्त्र रेखाओं का ज्ञान कराता है तो कोई अंकों का। कोई शास्त्र मनुष्य-जीवन के आर्थिक सम्बन्धों का अध्ययन करता है तो कोई राजनीतिक पहलुओं का। यह सच है कि इन शास्त्रों का और विशेषकर सामाजिक विज्ञानों का एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। हम एक सामाजिक विज्ञान और दूसरे सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र के बीच कोई लोहे की दीवार खड़ी नहीं कर सकते। किन्तु फिर भी प्रत्येक विज्ञान की अपनी परिधि होती है—निश्चित सीमा होती है। उस सीमा के बाहर की चीजों का वह विज्ञान अध्ययन नहीं करता।

नागरिकशास्त्र के विज्ञान की भी एक परिधि है। पुराने जमाने में लोगों का विचार था कि नागरिकशास्त्र का सम्बन्ध केवल मनुष्य के नागरिक जीवन से है। वह राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। इस प्रकार का गलत विचार पुराने लेखकों में इस प्रकार हुआ कि नागरिकशास्त्र का जन्म यूनान और रोम के नगरों में हुआ। उस जमाने में मनुष्य का सामाजिक जीवन शहर की चहारदीवारी तक ही सीमित था। शहर के बाहर न आने-जाने के साधन थे, न तार-टेलीफोन और न पुलिस और फौज का ही प्रबन्ध। इस कारण मनुष्य का सारा

---

1 "Civics is the science which studies the conditions of the best possible social life."

जीवन नगर में ही व्यतीत होता था और उस जमाने के नागरिक और सामाजिक जीवन में किसी प्रकार का अन्तर न था। अतः रोम और यूनान के विचारकों ने यही समझा कि नागरिकशास्त्र केवल नगर के सामाजिक जीवन की अच्छाई की अवस्थाओं का ही अध्ययन करता है।

परन्तु आजकल सामाजिक जीवन नगर की चहारदीवारी में ही बन्द नहीं, वह तो आज सारे भूमण्डल पर ही फैल गया है। एक प्रकार से यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि आज सारी पृथ्वी ही एक नगर बन गई है। यातायात के साधनों की क्रान्ति ने देश-देश के फासलों का अन्त करके उनको एक ही सामाजिक जीवन का अंग बना दिया है। आज अमरीका में बैठे हुए व्यक्ति का रेडियो पर दिया गया भाषण हम तुरन्त ही अपने घर में बैठकर सुन सकते हैं। यदि हमें इंगलैण्ड पहुँचना हो तो कुछ ही घंटों की हवाई जहाज की उड़ान के पश्चात् हम लंदन या मैनचेस्टर के शहरों की सैर कर सकते हैं। देश-विदेश की बनी हुई चीजें कुछ ही दिनों में हमारे नगरों में पहुँच जाती हैं। इसलिए यह कहना उचित होगा कि आजकल सामाजिक जीवन उतना ही व्यापक है जितना भूमण्डल का क्षेत्र। अतः नागरिकशास्त्र आजकल मनुष्य के केवल नागरिक जीवन का ही अध्ययन नहीं करता, वरन् उसके सामाजिक जीवन का अध्ययन करता है, फिर वह सामाजिक जीवन चाहे घर हो अथवा शहर का, गांव का हो या नगर का, देश का हो अथवा सारे संसार का।[1]

नागरिकशास्त्र मनुष्य के वर्तमान सामाजिक जीवन का अध्ययन करता है—इतना ही नहीं नागरिकशास्त्र मनुष्य के सामाजिक जीवन की उन सारी संस्थाओं, समुदायों तथा वर्गों का भी अध्ययन करता है जिनको वह अपने जीवन को नियमित और संगठित बनाने के लिए, जाने या अनजाने, जन्म देता है। उदाहरणार्थ नागरिकशास्त्र विवाह-पद्धति, शिक्षा, सम्पत्ति, दण्ड, कानून, शासन-संगठन इत्यादि ऐसी सारी संस्थाओं का अध्ययन करता है जिनका मनुष्य के सामाजिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह शास्त्र मनुष्य की उन सारी संस्थाओं—जैसे कुटुम्ब, राज्य, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक संस्थाओं, सांस्कृतिक संगठन इत्यादि का भी अध्ययन करता है, जिनको मनुष्य अपने जीवन का विकास करने के हेतु जन्म देता है।[2]

मनुष्य के वर्तमान सामाजिक जीवन के अंतर्गत नागरिकशास्त्र जिन चीजों का अध्ययन करता है उनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है :—

(१) मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन का अध्ययन—सर्वप्रथम यह शास्त्र मनुष्य

---

1 "Civics studies not only the village and the city but also the *nation and the world.*"

2 "Civics studies all associations, institutions and communities with which man is connected in his social life."

के व्यक्तिगत जीवन की अच्छाइयों का अध्ययन करता है और यह बतलाता है कि कोई व्यक्ति अपने आपको किस प्रकार ऊँचा उठा सकता है।

(२) **पड़ोस का अध्ययन**—नागरिकशास्त्र की एक प्रसिद्ध परिभाषा यह भी है कि यह शास्त्र हमें एक आदर्श पड़ोसी बनना सिखाता है। हमारा अपने पड़ोसियों के प्रति क्या कर्तव्य है, तथा किस प्रकार हम उनकी सहायता कर सकते हैं, इस बात का अध्ययन इस शास्त्र के अन्तर्गत किया जाता है।

(३) **अधिकारों और कर्तव्यों का अध्ययन**—हमारे अपने स्वयं के प्रति, पड़ोसी के प्रति, समाज तथा राष्ट्र के प्रति क्या कर्तव्य हैं तथा उनके बदले हमें किन सामाजिक, राजनीतिक तथा व्यक्तिगत अधिकारों की प्राप्ति होती है, इसका अध्ययन नागरिकशास्त्र के अन्तर्गत ही किया जाता है।

(४) **सामाजिक जीवन का अध्ययन**—मनुष्य के जीवन में कौन-सी संस्थाएँ तथा संघ अधिक प्रमुख भाग लेते हैं तथा उनका हमारे जीवन में क्या महत्व है, इन बातों का अध्ययन भी नागरिकशास्त्र के अन्तर्गत किया जाता है।

(५) **सामाजिक शक्तियों का अध्ययन**—शिक्षा, सम्पत्ति, दण्ड, विवाह तथा इस प्रकार की दूसरी सामाजिक शक्तियों का हमारे जीवन में क्या स्थान है, इन बातों पर भी नागरिकशास्त्र में विचार किया जाता है।

संक्षेप में हम यह कहते हैं कि नागरिकशास्त्र मनुष्य के सामाजिक जीवन की उन सभी अवस्थाओं का अध्ययन करता है जिससे उसका जीवन पूर्ण रूप से सुखी तथा समुन्नत बन सके। यह शास्त्र नागरिक का सर्वांगीण अध्ययन है।

नागरिकशास्त्र मनुष्य के भूतकाल के सामाजिक जीवन का अध्ययन करता है—नागरिकशास्त्र केवल वर्तमान सामाजिक जीवन से ही सम्बन्ध नहीं रखता, वरन् भूतकाल के सामाजिक जीवन पर भी दृष्टि डालता है। ऐसा करना नागरिकशास्त्र के लिए अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि ऐसा न करने पर वर्तमान सामाजिक जीवन का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। आज का सामाजिक जीवन भूतकाल की देन है। अतः, हमें यह जानना आवश्यक है कि किन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए, वह किन परिस्थितियों में पैदा हुआ, वह उनको कहाँ तक सफलता के साथ पूरा कर सका। तभी हम सामाजिक संस्थाओं और सभाओं के महत्व को ठीक-ठीक समझ सकते हैं। अतः नागरिकशास्त्र को एक सरसरी नजर भूतकाल के सामाजिक जीवन पर भी डालनी पड़ती है।

नागरिकशास्त्र भविष्य का आदर्श निश्चित करता है—नागरिकशास्त्र केवल वर्तमान और भूतकाल से ही सम्बन्ध नहीं रखता, वरन् भविष्य से भी उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसका ध्येय, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ऐसी अवस्थाओं का अध्ययन करना है जिनमें सामाजिक जीवन अच्छे से अच्छा हो सके। दूसरे शब्दों में नागरिकशास्त्र इस बात पर ध्यान देता है कि हमारा भविष्य का समाज कैसा हो और किस प्रकार हो। एक प्रकार से हम यह कहते हैं कि नागरिकशास्त्र समाज का

वह निरीक्षण है जो समाज-सेवा में लगाया जाता है।[1] वह समस्त समाज के भूत-कालीन और वर्तमान स्वरूप का अध्ययन इस दृष्टि से करता है कि भावी समाज निरंतर आनंद और प्रेम के वातावरण में फल-फूल सके। यह एक व्यावहारिक ज्ञान है जो हमें उन सिद्धान्तों की शिक्षा देता है जिनसे हम अपना सामाजिक जीवन श्रेष्ठ बना सकें। इस प्रकार यह सामाजिक पर्यवेक्षण को सामाजिक सेवा में लगाने की विद्या है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नागरिकशास्त्र का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। यह ग्राम और नगर, देश और दुनिया, घर और बाहर, खेत-कारखाने, मन्दिर और रंगभूमि, भूत, वर्तमान और भविष्य सब के ही जीवन से सम्बन्धित है।[2] दूसरे शब्दों में इसका क्षेत्र सभ्यता और नागरिकता के समान विस्तृत और उनका सहगामी है।[3]

नागरिकशास्त्र का क्षेत्र व्यापक ही नहीं, वरन् बढ़ता ही जा रहा है। ज्यों-ज्यों मनुष्य की सभ्यता का विकास होता है त्यों-त्यों नागरिकशास्त्र का क्षेत्र भी बढ़ता है। इसलिए यह कहना उचित होगा कि नागरिकशास्त्र केवल एक स्थायी विज्ञान ही नहीं, वरन् प्रगतिशील विद्या भी है।

§ ३. नागरिकशास्त्र विज्ञान है या कला ?
(Is Civics a Science or an Art ?)

नागरिकशास्त्र विज्ञान है (Civics is a Science)

नागरिकशास्त्र विज्ञान है अथवा नहीं, इस प्रश्न पर विद्वानों में काफी मतभेद है। कुछ विद्वानों की सम्मति में यह विज्ञान है और कुछ की सम्मति में नहीं। जो विद्वान् नागरिकशास्त्र को विज्ञान नहीं बताते वे विज्ञान शब्द का अर्थ केवल यह समझते हैं कि विज्ञान वह विद्या है जो अपनी अध्ययन-वस्तु के व्यवहार के विषय में निश्चित और स्थिर सिद्धान्त निर्धारित कर सके, जैसे भौतिकशास्त्र (Physics) या रसायनशास्त्र (Chemistry) में हम कह सकते हैं कि चीजें गरम करने से फैलती और ठंडा करने से सिकुड़ती हैं, या दो अंश हाइड्रोजन और एक अंश ऑक्सीजन मिलाने से पानी बन जाता है। भौतिक और रसायनशास्त्र के ये नियम अटल हैं, उनमें कभी किसी प्रकार की गलती नहीं हो सकती। सामाजिक शास्त्रों के नियम इस प्रकार सत्य नहीं हो सकते। अनुभव के आधार पर हम ऐसे नियम तो अवश्य बना

---

1 "Civics is social survey applied to social service."—*Ward*

2 White defines civics as "that branch of human knowledge which studies everything appertaining to citizenship--past, present and future, local, national and human."

3 "Civics is co-extensive with civilisation and citizenship."—*F. J. Gould*

सकते है जो अधिकांश दशाओ मे सत्य हो परन्तु हम ऐसे नियम नही बना सकते जिनके बारे मे हम यह सकें कि वह शत-प्रतिशत सत्य है और उनमे कभी किसी प्रकार की त्रुटि नही हो सकती। उदाहरणार्थ नागरिकशास्त्र के एक नियम का हम इस प्रकार उल्लेख कर सकते है कि यदि किसी देश मे सच्चा प्रजातन्त्र शासन हो तो वहाँ की जनता सुखी रहती है। परन्तु यह नियम जरूरी नही कि प्रत्येक देश और प्रत्येक प्रजातन्त्रवादी शासन के लिए सही साबित हो। संसार में कितने ही प्रजातन्त्रवादी देश है जहाँ जनता सुखी नही और इसके अनेक कारण है। इसलिये सामाजिक शास्त्रों के नियमो के विषय मे यह कहना उचित होगा कि वह संभावनाएँ तो बतला सकते है परन्तु एक निश्चित व सर्वथा सत्य नियम नही। इसी कारण नागरिकशास्त्र और दूसरे सामाजिक शास्त्रों के विषय मे कुछ विद्वानों का तो कहना है कि इन शास्त्रों को विज्ञान (Science) का नाम ही नही देना चाहिए। परन्तु यह मत ठीक नही।

किसी शास्त्र का वैज्ञानिक होना इस बात पर निर्भर नही कि उसके सिद्धान्त सर्वथा सत्य है या नही। विज्ञान का असली अर्थ तो यह विद्या है जिसका अध्ययन एक **क्रमबद्ध नियम के अनुसार किया जा सके और जो कारण और कार्य का सम्बन्ध स्थापित कर सके।**[1] गार्नर के मतानुसार "विज्ञान वह क्रमबद्ध ज्ञान है जो उचित प्रकार के निरीक्षण, प्रयोग, अध्ययन तथा वर्गीकरण द्वारा प्राप्त हुआ हो।"[2] नागरिकशास्त्र इस दृष्टि से विज्ञान है कि उसकी एक निश्चित शास्त्रीय अध्ययन-पद्धति है, और उसमे ऐसे नियमो की खोज की जाती है जिन पर चलकर मनुष्य एक आदर्श नागरिक जीवन व्यतीत कर सके, तथा समाज मे स्थायी शान्ति और आनन्द का वातावरण निर्माण हो सके। यह सच है कि नागरिकशास्त्र के नियम अटल और निश्चित नही होते, परन्तु कुछ भौतिक विज्ञान भी ऐसे होते है जिनके नियम निश्चित नही है परन्तु जिनकी वैज्ञानिकता के विषय में किसी को सदेह नही होता। उदाहरणार्थ ऋतु विज्ञान (Meteorology) मौसम का अध्ययन करता है और अपने सिद्धान्तों के आधार पर मौसम के विषय में पूर्वानुमान करता है। कई बार यह अनुमान गलत भी निकलते है। परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नही कि उक्त शास्त्र एक अन्धे की सूझ के समान है, वरन् इसका अर्थ तो यही है कि इस शास्त्र का विषय इतना विषम है कि उसके सम्बन्ध मे हम अभी संभावना ही व्यक्त कर सकते है। ऐसे ही और भी बहुत से ज्ञान है जिनका हम विधिपूर्वक अध्ययन करते है जो जीवन के लिए उपयोगी है परन्तु जो निश्चित सिद्धान्त न बनाकर केवल सम्भावित सिद्धान्त ही निश्चित करते है। ऐसे

---

1 "Science is a body of systematized knowledge. It is something which lays down a relationship between a cause and an effect."

2 "Science is a knowledge relating to a particular subject acquired by a systematic observation, experience or study which have been co-ordinated, systematized and classified."—*Garner*

शास्त्रों को विज्ञान न मानना भारी भूल है। वास्तव में वह सब विज्ञान हैं, कारण उनका क्रमबद्ध तथा सुव्यवस्थित स्वरूप है और उनके सिद्धान्त निरीक्षण, प्रयोग तथा दार्शनिक विवेचन पर आधारित होते हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि नागरिकशास्त्र एक विज्ञान नहीं वरन् कला है।

नागरिकशास्त्र कला भी है (Civics is also an Art)

कला का अर्थ वास्तविक जीवन में ज्ञान का प्रयोग है।[1] मनुष्य एक अच्छा नागरिक, नागरिकशास्त्र के ज्ञान से या इस शास्त्र की मोटी-मोटी पुस्तकों के पढ़ने से नहीं बनता; किन्तु इस ज्ञान को अपने रोजाना के जीवन में परिणत करने से बनता है। यह बात ठीक है, परन्तु इससे यह मतलब निकालना कि नागरिकशास्त्र केवल कला है, विज्ञान नहीं सर्वथा अनुचित है। संगीत कला भी है और विज्ञान भी। संगीत का विज्ञान हमें राग-रागिनियों की पहचान और स्वरों का शुद्ध स्वरूप सिखाता है। संगीत की कला का सम्बन्ध गाने से है। संगीतशास्त्र के पंडित के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह अच्छा गायनाचार्य भी हो, परन्तु अच्छे गायक के लिए संगीतशास्त्र का ज्ञान अनिवार्य है। ठीक इसी प्रकार नागरिकशास्त्र एक विज्ञान भी है और कला भी। अच्छे नागरिक के लिए यह आवश्यक है कि वह नागरिकता के नियम भी जानता हो और उन पर ठीक प्रकार से अमल भी करता हो। नागरिकशास्त्र का अध्ययन निश्चित विधियों से किया जाता है, इसलिए वह विज्ञान है और अच्छा नागरिक बनने के लिए मनुष्य को नागरिकता के सिद्धान्तों को ठीक रूप से व्यवहार में लाना पड़ता है, इसलिए नागरिकशास्त्र कला भी है।

सामाजिक और भौतिक शास्त्रों के नियमों में अन्तर (Difference between laws of social and physical Sciences)

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह अर्थ कदापि नहीं निकालना चाहिये कि नागरिकशास्त्र और भौतिकशास्त्र के नियमों में किसी प्रकार का भेद नहीं। भौतिकशास्त्रों के सिद्धान्त बहुत कुछ अमिट होते हैं। उन नियमों में न तो समय ही कोई परिवर्तन ला सकता है और न स्थान ही। सामाजिक शास्त्रों के नियम, जैसा पहले कहा जा चुका है, इस प्रकार अमिट नहीं हो सकते। यह सिद्धान्त तो केवल अधिक से अधिक सम्भावनाओं को व्यक्त कर सकते हैं निश्चितता को नहीं।[2] नागरिकशास्त्र दूसरे सामाजिक शास्त्रों की तरह, इस प्रकार, एक अनिश्चित विज्ञान है। इसके निम्न कारण हैं :—

(१) असमान अवस्थाएँ—भौतिकशास्त्र में हम ऐसे विषयों का अध्ययन करते हैं

---

1 "Art is the application of knowledge to real life."

2 "Social sciences indicate the highest possibilities but cannot lay down certainties."

जिसके व्यवहार या गुण, समय अथवा स्थान बदलने पर नही बदलते। वह हर स्थान पर और हर समय में वैसे ही बने रहते है। उदाहरणार्थ आक्सीजन के गुण भूतकाल में भी वही थे जो आज हैं और भविष्य में भी वही रहेंगे। इसी प्रकार उसके गुण भारत में भी वही है जो अमरीका में हैं। परन्तु नागरिकशास्त्र की अध्ययन वस्तु है 'मनुष्य का सामाजिक जीवन' और यह जीवन समय और देश के अनुसार बदलता रहता है। वह कल कुछ और था, आज कुछ और है और आगे कुछ और होगा। वह भारत में एक प्रकार का है और अमरीका में दूसरी प्रकार का। अत नागरिकशास्त्र इसके विषय में ऐसे सिद्धान्त नही बना सकता जैसे कि भौतिकशास्त्र अपने विषयो के सम्बन्ध में बना सकता है।

(२) विभिन्न विधि—भौतिकशास्त्र अपने अध्ययन में ऐसी विधियो को काम में लाते हैं जिनसे कि उनके निश्चयो में भूल की मात्रा नहीं के बराबर हो। वह प्रयोगशाला में उन विषयो के व्यवहारो अथवा गुणो का अध्ययन अपने अनुकूल पैदा की हुई दशाओ में कर सकते है। अपने प्रयोगो को बार-बार दोहराकर उनके परिणामो की तुलना कर सकते हैं और इस प्रकार भूल की मात्रा को मिटा सकते हैं। परन्तु नागरिकशास्त्र का विद्वान् ऐसी पद्धति का प्रयोग नही कर सकता। इसके अनेक कारण हैं। समाज की परिस्थितियाँ मनुष्य के हाथ में नही और इस कारण वह यह नहीं कह सकता कि जो परिणाम उसके सामाजिक प्रयोगो से हुए है वह कहाँ तक उसके प्रयोग से पैदा हुए और कहाँ तक वह समाज की परिस्थितियो का परिणाम है। उदाहरणार्थ हम यदि एक नये प्रकार का कानून बनाते हैं और उसके बनाने के बाद समाज में कुछ परिवर्तन होता है तो हम यह नही कह सकते कि कहाँ तक वह परिवर्तन उस कानून के कारण हुआ और कहाँ तक वह समाज की अन्य परिस्थितियो का परिणाम है।

(३) अपूर्ण यंत्र—भौतिकशास्त्र अपने प्रयोगो में सही यन्त्रो जैसे केमिकल बैलेंस (वैज्ञानिक तराजू) इत्यादि की सहायता ले सकता है परन्तु सामाजिक विज्ञानवेत्ता के पास ऐसे नापने या तोलने के यत्र नहीं होते। इस प्रकार सामाजिक विज्ञानो में भौतिक विज्ञानो की अपेक्षा अधिक गलतियो की सभावना होती है।

§ ४. नागरिकशास्त्र के अध्ययन की पद्धतियाँ
(Methods of the Study of Civics)

नागरिकशास्त्र के अध्ययन में हम निम्नलिखित पद्धतियो का प्रयोग करते हैं—

(१) ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method)—सामाजिक जीवन के तथ्य को समझने के लिए इतिहास हमें बड़ी सहायता देता है। हमारी जितनी भी सामाजिक संस्थाएँ अथवा सभाएँ हैं वह सब हमें भूतकाल से प्राप्त हुई हैं। भूतकाल में वह मनुष्य के जीवन की आवश्यकताओ को पूरा करने के हेतु जाने या अनजाने पैदा हुई थी। अत. उन सब का मूल्य समझने के लिए आवश्यक है कि हम यह पता लगावें कि वह किन दशाओ में और किन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पैदा हुई और कहाँ

तक वह इन बातों को पूरा करने में सफल हुई। इन सब बातों का ज्ञान हमें इतिहास से ही हो सकता है। अतः इतिहास की सहायता से हम इन सब का ठीक-ठीक महत्व समझ सकते हैं। साथ ही इतिहास की सहायता से भविष्य के लिए भी इन संस्थाओं का अच्छी प्रकार निर्माण कर सकते हैं। हमको इतिहास बतलाता है कि मनुष्यों की सामाजिक संस्थाओं का उसके जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा। हम उन सिद्धान्तों को, जो उसकी प्रगति और उन्नति में सहायक हुए, रख सकते हैं और जो उसमें बाधक हुए उन्हें बदल सकते हैं। इस प्रकार इतिहास की सहायता से हम सामाजिक जीवन को समझ सकते हैं और उसकी अच्छाई की अवस्थाओं का पता लगा सकते हैं।

परन्तु इतिहास की सहायता हमको निष्पक्ष रूप से लेनी चाहिये। हमारा प्रयत्न तो केवल यह होना चाहिये कि हमको सत्य का पता लग जाय, यह नहीं कि इतिहास की सहायता से हम अपनी इच्छित बातों को सिद्ध करें।

(२) अवलोकन अथवा पर्यवेक्षण अर्थात् संस्थाओं और सभाओं के कार्य की प्रत्यक्ष देखभाल (Observational Method)—ऐतिहासिक पद्धति के प्रयोग से सामाजिक जीवन को हम एक हद तक ही समझ सकते हैं। उसका पूर्णरूप से अध्ययन करने के लिए हमें दूसरे तरीकों का भी आसरा लेना पड़ता है। उदाहरणार्थ वर्तमान संस्थाओं का अवलोकन करना हमारे लिए इतना ही आवश्यक है जितना उनका इतिहास। मनुष्य किन संस्थाओं का सदस्य है, वह संस्थाएँ क्या-क्या उपयोगी कार्य करती हैं, उनमें से कौन-सी संस्थाएँ बुरी हैं, इत्यादि वे प्रश्न हैं जिनका नागरिकशास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी को समुचित ज्ञान होना चाहिए। परन्तु हमारा अवलोकन पक्षपात-रहित होना चाहिये। यदि हम पक्षपात के साथ कोई देखभाल करेंगे तो हम सच्चाई का पता न लगा सकेंगे। हमें बिना किसी पूर्वनिर्धारित निर्णय के ही किसी संस्था अथवा सभा का काम देखना चाहिए और साथ ही यह देखभाल काफी समय तक होनी चाहिये। थोड़े दिनों की देखभाल में त्रुटि रह सकती है।

(३) तुलनात्मक पद्धति (Comparative Method)–देखभाल की पद्धति से हम सामाजिक जीवन के विविध अंगों के विषय में बहुत-सी सामग्री इकट्ठी कर सकते हैं परन्तु यह नहीं जान सकते कि उस प्रकार की संस्थाओं और सभाओं का दूसरे देशों में क्या स्वरूप है। अपने देश की संस्थाओं की उपयोगिता जानने के लिए हमें उसी प्रकार की दूसरे देशों की संस्थाओं का भी अध्ययन करना चाहिये। उदाहरण के लिए यदि हम विवाह या तलाक प्रथा की अच्छाई और बुराई जानना चाहते हैं तो हमें चाहिए कि इन प्रथाओं के परिणामों को प्रत्येक देश में देखकर और उनकी आपस में तुलना करके यह पता लगा लें कि अमुक परिणाम प्रत्येक देश में मिलते हैं या किसी-किसी देश में ही। एक देश के परिणामों के आधार पर ही किसी प्रथा को अच्छा या बुरा समझना ठीक नहीं, क्योंकि सम्भव है कि उस देश में वह परिणाम विवाह-प्रथा या तलाक की अच्छाई अथवा बुराई से न होकर किसी दूसरे कारण से हों। परन्तु यदि एक ही जैसे परिणाम सभी देशों में मिलते हों तो हम कह सकते हैं कि विवाह-प्रथा या तलाक

के ही वह परिणाम हैं। इसलिए हमें तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग अवश्य करना चाहिये।

(४) **प्रयोग-पद्धति** (Experimental Method)—नागरिकशास्त्र में हम उस प्रकार के प्रयोग तो नही कर सकते जैसे कि हम भौतिकशास्त्र में कर सकते है, क्योंकि नागरिकशास्त्र के प्रयोगो की वस्तु अर्थात् मनुष्य के सामाजिक जीवन की दशा एक-सी नही रहती। परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि हम नागरिकशास्त्र मे प्रयोग पद्धति अपना ही नही सकते। हम सामाजिक जीवन में बराबर ही प्रयोग करते रहते है। कोई नया कानून, नई धनोत्पादन पद्धति आदि सामाजिक जीवन मे प्रयोग ही है और उनके परिणामों की बुनियाद पर ही हम इसी प्रकार की और संस्थाएँ बनाते है। अत प्रयोग-पद्धति से भी हम सामाजिक जीवन के तथ्यो को समझ सकते है।

(५) **दार्शनिक पद्धति** (Philosophical Method)—उपरोक्त पद्धति के अतिरिक्त हम नागरिकशास्त्र के अध्ययन में दार्शनिक मार्ग का भी अवलम्बन करते है। नागरिकशास्त्र में हम अच्छा और बुरा क्या है इस प्रश्न को हल करते हैं। यह प्रश्न दार्शनिक तत्वों की सहायता से ही हल किये जा सकते है। इस पद्धति के अन्तर्गत कुछ अटूट सत्यो के आधार पर जैसे प्रत्येक मनुष्य अपना भला स्वयं जानता है, वह स्वतन्त्रता प्रेमी है, इत्यादि, राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाता है। उपयोगिता का सिद्धान्त इसी पद्धति पर आश्रित है। इस पद्धति का सबसे अधिक प्रयोग प्लेटो, रूसो तथा मिल आदि लेखकों ने किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नागरिक शास्त्र में बहुत कुछ हम उन्ही पद्धतियो को अपनाते हैं जिनका कि हम भौतिकशास्त्र में उपयोग करते है और हर प्रकार से इस बात का प्रयत्न करते है कि हमारे निश्चयों में भूल की मात्रा कम से कम हो।

§ ५. नागरिकशास्त्र का मानव-ज्ञान की विभिन्न शाखाओं से पारस्परिक संबंध

(Relationship of Civics with other Social Sciences)

नागरिकशास्त्र मानव-ज्ञान की एक शाखा है। मानव-ज्ञान तत्वत एक है परन्तु सुविधा के लिए वह शाखाओ में बाँट दिया गया है। अत मानव-ज्ञान की इन सब शाखाओं में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। प्रत्येक शाखा को दूसरी शाखाओ से अपने विषय को समझने में बहुत कुछ सहायता मिलती है। नागरिकशास्त्र भी अपने विषय को समझने में दूसरे सामाजिक और भौतिकशास्त्रो से बड़ी सहायता प्राप्त करता है। दूसरे शब्दो में अन्य शास्त्रो की नीव पर बहुत कुछ नागरिकशास्त्र के तथ्य स्थिर हैं। आगे के पृष्ठो में नागरिकशास्त्र के अन्य निकटतम शास्त्रो के साथ सम्बन्ध का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है :—

नागरिकशास्त्र और इतिहास (Civics and History)

इतिहास मनुष्य जीवन के उत्थान-पतन की कहानी है। इतिहास हमें बताता है कि

मनुष्य का भूतकालीन सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक, कलात्मक तथा बौद्धिक स्वरूप क्या था, तथा पिछले समय में उसने किस प्रकार की संस्थाओं को जन्म दिया था। सभ्यता तथा संस्कृति के उदय की कहानी हमें इतिहास में ही मिलती है। परिस्थितियों से बाध्य होकर मनुष्य की कौन-सी संस्थाएं नष्ट हो गई तथा कौन-सी आज भी कायम हैं, पिछले काल में क्रान्तियों का क्या स्वरूप था तथा देश का शासन किस प्रकार किया जाता था—इन सब बातों का ज्ञान हमें इतिहास के अध्ययन से ही होता है। एक प्रकार से हम इतिहास को नागरिकशास्त्र के सिद्धान्तों की प्रयोगशाला कह सकते हैं। इतिहास हमें बताता है कि दास-प्रथा तथा इसके पश्चात् सामन्तवाद एवं साम्राज्यवाद का किस प्रकार जन्म हुआ; निरंकुश शासनों की प्रणाली के स्थान पर प्रजातन्त्रवाद का किस प्रकार जन्म हुआ; खुली प्रतियोगिता तथा पूंजीवादी शासन-व्यवस्था के स्थान पर कल्याणकारी राज्य के सिद्धान्त का किस प्रकार उदय हुआ। इन सब तथ्यों को जानने के पश्चात् ही हम नागरिक जीवन के सही आदर्शों को निश्चित कर सकते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इतिहास रूपी जड़ का नागरिकशास्त्र फल है। इतिहास के अध्ययन से ही नागरिकशास्त्र के सिद्धान्त निर्धारित किये जाते हैं तथा वह कहाँ तक सही साबित हो सकेंगे इसका अनुमान लगाया जाता है। सीले के कथनानुसार "नागरिकशास्त्र इतिहास का फल है और इतिहास इस शास्त्र की जड़ है।"

इतिहास हमें भूतकाल का ही ज्ञान कराने में सहायता नहीं देता, वरन् भविष्य का आदर्श निश्चित करने में भी पथ-प्रदर्शक का कार्य करता है। वह हमें बताता है कि पिछले जमाने में मनुष्य के सामाजिक प्रयोगों का क्या परिणाम हुआ तथा भविष्य में आदर्श समाज की ओर बढ़ने के लिए हमें किस प्रकार के प्रयोग करने चाहिए।

परन्तु यहाँ हमें इतिहास और नागरिकशास्त्र का अन्तर भी समझ लेना चाहिए। इतिहास में नामों, तिथियों तथा स्थानों की भरमार रहती है, नागरिकशास्त्र का इनसे विशेष सम्बन्ध नहीं। न ही वह युद्धों के विस्तृत वर्णन, या राजाओं के उत्थान-पतन से ही विशेष सम्बन्ध रखता है। परन्तु फिर भी इतिहास नागरिकशास्त्र की पृष्ठभूमि एवं नींव है।

नागरिकशास्त्र और अर्थशास्त्र (Civics and Economics)

अर्थशास्त्र मनुष्य के उन सम्बन्धों और कार्यों का अध्ययन करता है जिनका सम्बन्ध धन की उत्पत्ति, धन का विभाजन, धन के उपयोग और धन के विनिमय से होता है। धन का समाज की शान्ति और सुख से बहुत गहरा सम्बन्ध है। समाज का कोई भी मनुष्य उस समय तक सुखी और सन्तुष्ट नहीं रह सकता और न आगे ही बढ़ सकता है जब तक उसे पेट भरने के लिए रोटी और तन ढांकने के लिए कपड़ा नहीं मिलता। ऐसा मनुष्य न केवल स्वयं ही दुखी रहता है वरन् वह समाज की शान्ति को भी खतरे में डाल देता है। एक कहावत प्रसिद्ध है "भूखा मरता क्या पाप

नहीं कर सकता।" रोटी मिल जाने के पश्चात् ही मनुष्य चरित्र-निर्माण, लोक-सेवा और आदर्शवादिता की बातें सोचता है। रोटी के बिना मनुष्य न धर्म की ही बातें सोच सकता है और न एक आदर्श सामाजिक जीवन की ही। अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मनुष्य को सुखी और समृद्ध जीवन बिताने के लिए धन कमाना सिखाता है। नागरिकशास्त्र समाज के प्रत्येक मनुष्य के जीवन को सुखी और सन्तुष्ट देखना चाहता है। इन दोनों विद्याओं का इसलिए बहुत गहरा सम्बन्ध है। नागरिक-जीवन उस समय तक सुखी नहीं हो सकता जब तक उसका संगठन अर्थशास्त्र के नियमों के आधार पर न किया जाय।

परन्तु इन सब बातों का अर्थ यह कदापि नहीं कि अर्थशास्त्र और नागरिकशास्त्र में किसी प्रकार का भेद नहीं। अर्थशास्त्र का मुख्य उद्देश्य धन की उत्पत्ति है, किन्तु नागरिकशास्त्र का मूल सिद्धान्त आदर्श सामाजिक संगठन है। अर्थशास्त्र की बहुत-सी बातों, जैसे—विनिमय दर, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के नियम, बजट इत्यादि से नागरिकशास्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं और इसी प्रकार नागरिकशास्त्र की बहुत-सी बातों से अर्थशास्त्र का। परन्तु फिर भी यह कहना ठीक ही होगा कि अर्थशास्त्र नागरिकशास्त्र की, इतिहास के पश्चात्, दूसरी नींव है।

नागरिकशास्त्र और मनोविज्ञान (Civics and Psychology)

मनोविज्ञान (Psychology) वह विद्या है जो मनुष्य के मन के व्यवहार की जाँच-पड़ताल करती है। यह मनुष्य की भावनाओं, स्वाभाविक वृत्तियों और आन्तरिक वेदनाओं आदि का अध्ययन करती है। यह बात तो स्वयं सिद्ध है कि मनुष्य का सामाजिक जीवन मनुष्य के इन्हीं मानसिक व्यवहारों पर निर्भर है। मन की गति को समझे बिना सामाजिक जीवन को अच्छा बनाने का प्रयास सर्वथा ही निष्फल है। इतना ही नहीं, वरन् मानसिकशास्त्र के ज्ञान के बिना सामाजिक जीवन का समझना भी असम्भव है। अतः नागरिकशास्त्र सही नतीजों के लिए मानसिकशास्त्र के ज्ञान से लाभ उठाता है और सामाजिक जीवन का पुनर्निर्माण करने में मानसिकशास्त्र के सिद्धान्तों का ध्यान रखता है। उदाहरणार्थ मानसिकशास्त्र हमें बताता है कि बच्चों के साथ कैसा व्यवहार करने से वह नागरिक बन सकते हैं, मानसिक विकारों को किस प्रकार दूर किया जा सकता है, कारखानों के मजदूरों के साथ कैसा बर्ताव करना चाहिए, इत्यादि। इन सब बातों के ज्ञान से नागरिकशास्त्र को सहायता मिलती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनोविज्ञान से नागरिकशास्त्र को मार्मिक व्यवहार का ज्ञान प्राप्त होता है। इसकी सहायता से नागरिकशास्त्र सामाजिक जीवन की सफलता और उसकी अच्छाई की अवस्थाओं का निर्णय करता है। यहाँ हम यदि इस प्रकार कहें तो अनुचित न होगा कि आज तक सामाजिक जीवन के विषय में जितने विद्वानों ने भी विचार व्यक्त किये हैं उन सबने अपने पूर्व अनुमानित सिद्धान्तों पर ही अपने इन विचारों की नींव रखी है। इससे बड़ा अहित हुआ है और सामाजिक

जीवन के विषय में बहुत-सी भूलें हो गई हैं । अतः इस बात की नितान्त आवश्यकता है कि हम अब मनोविज्ञान के सर्वमान्य सिद्धान्तों को ही ठीक मानकर उसकी नींव पर ही अपने नागरिकशास्त्र के निश्चयों को स्थिर करें । इस प्रकार प्रत्यक्ष है कि मनोविज्ञान नागरिकशास्त्र की तीसरी नींव है ।

नागरिकशास्त्र और समाजशास्त्र (Civics and Sociology)

समाजशास्त्र मनुष्य के सामाजिक जीवन का शास्त्र है । यह सामाजिक जीवन की उत्पत्ति, उसका विकास, उसका संगठन और उसके ध्येय का अध्ययन करता है । यह रीति-रिवाज, विश्वास, संस्कृति तथा सभ्यता के विकास का उल्लेख करता है । एक प्रकार से समाजशास्त्र को सब सामाजिक शास्त्रों का जनक कहा जा सकता है । समाजशास्त्र इन सब शास्त्रों की नींव का तो काम करता ही है, इसके नियम इन सब शास्त्रों को अपना विषय समझने में भी सहायता देते हैं । नागरिकशास्त्र को समाजशास्त्र से सामाजिक विकास के नियमों का ज्ञान प्राप्त होता है । अतः समाजशास्त्र नागरिकशास्त्र की एक महत्त्वपूर्ण नींव है । इसकी साहयता के बिना नागरिकशास्त्र अपना कार्य सम्पन्न नहीं कर सकता । परन्तु नागरिकशास्त्र को समाजशास्त्र की एक शाखामात्र मानना भूल होगी क्योंकि समाजशास्त्र का सम्बन्ध जीवन को अच्छा या बुरा बनाने से नहीं । वह तो जैसा सामाजिक जीवन है या रहा है उसी का अध्ययन करता है, उसके पुर्ननिर्माण का प्रयत्न नहीं करता । इसके विपरीत नागरिकशास्त्र सामाजिक जीवन की अच्छाई की अवस्थाओं का पता लगाता है । अतः यह समाजशास्त्र से भिन्न भी है ।

नागरिकशास्त्र और आचार या नीतिशास्त्र (Civics and Ethics)

नीति या आचारशास्त्र (Ethics) वह विद्या है जो मनुष्य को अच्छे और बुरे कामों की पहचान करना सिखाती है । यह आदर्श अच्छाई (Ideal good) का अध्ययन करती है और मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक, दोनों ही जीवन की आलोचना करती है । इसका क्षेत्र, इसी कारण, नागरिकशास्त्र से भी अधिक विस्तृत है । नागरिकशास्त्र केवल मनुष्य के सामाजिक जीवन की अच्छाइयों का अध्ययन करता है, उसके व्यक्तिगत जीवन की अवस्थाओं से नहीं । किन बातों पर चलने से मनुष्य आदर्श नागरिक बन सकता है और किस प्रकार के व्यवहार से वह अपने और समाज के पतन का कारण बन जाता है, इन बातों का ज्ञान नागरिकशास्त्र आचारशास्त्र से ही प्राप्त करता है । अतः नागरिकशास्त्र को आचारशास्त्र के सिद्धान्तों से बहुत सहायता मिलती है । यह उसके सिद्धान्तों को ही ध्यान में रखकर अपने आदर्श निश्चित करता है । परन्तु इतना होने पर भी दोनों विद्याएँ एक-दूसरे से भिन्न हैं ।

नागरिकशास्त्र और राज्यशास्त्र (Civics and Politics)

राज्यशास्त्र राज (State) का विज्ञान है । यह हमें राज्य की उत्पत्ति, विकास, स्वभाव, ध्येय, संगठन आदि के विषय में ज्ञान देता है । राज्य सामाजिक जीवन में बहुत

ही महत्त्व रखता है। किसी देश में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखना राज्य का ही कार्य है। इसलिए यदि यह कहा जाय कि राज्य सामाजिक जीवन की अच्छाई की पहली नीव है तो कोई अत्युक्ति न होगी। यह सभ्यता और समाज का रक्षक और पोषक है। अतः राज्य का पूरा ज्ञान नागरिकशास्त्र के अध्ययन के लिए बहुत आवश्यक है। राज्यशास्त्र के ज्ञान के बिना जीवन को सुन्दर बनाने का प्रयास अन्धकार में छलांग लगाने के समान है। जब तक किसी देश में उचित राजनीतिक व्यवस्था न हो और लोगों को यथेष्ट राजनीतिक अधिकार और स्वतन्त्रता प्राप्त न हो तब तक उच्च कोटि की नागरिकता का विकास होना असम्भव है। इस प्रकार राज्यशास्त्र ही लोगों को उच्च-कोटि के नागरिक बनाने की सुविधाएं देता है।

कुछ विद्वान् तो यह भी कहते हैं कि नागरिकशास्त्र कोई अलग शास्त्र ही नही, वह तो राज्यशास्त्र की ही एक शाखा है, जो राज्य द्वारा निर्धारित अधिकारो और कर्त्तव्यो का अध्ययन करती है। सभवत उनका यह विचार नागरिकशास्त्र और राज्यशास्त्र के अग्रेजी नामो के एकार्थी होने से ही उत्पन्न हुआ है। अग्रेजी में नागरिक शास्त्र का नाम सिविक्स (Civics) और राज्यशास्त्र का नाम पालिटिक्स (Politics) है। सिविक्स का धात्वर्थ है 'शहर सम्बन्धी बातें' और पालिटिक्स का धात्वर्थ भी यही है। पहला शब्द लैटिन भाषा का है और दूसरा यूनानी भाषा का। इन नामो के आशय की समानता के भ्रम में पडकर कुछ पुराने लेखको ने कह दिया है कि सिविक्स पालिटिक्स से कोई भिन्न शास्त्र नही। परन्तु वास्तव में नागरिकशास्त्र राजनीति शास्त्र की शाखा नही, वरन् अलग ही विज्ञान है। राज्यशास्त्र में मनुष्य का हम केवल राज्य का सदस्य होने के नाते अध्ययन करते हैं। इसके विपरीत सिविक्स मे हम मनुष्य का दूसरी सामाजिक सस्थाओ और सभाओं का सदस्य होने के नाते भी अध्ययन करते है। मनुष्य-जीवन में केवल राज्य-निर्धारित अधिकारो और कर्त्तव्यो का ही प्रश्न नही उठता, वरन् दूसरी सस्थाओ द्वारा निर्धारित अधिकारो और कर्त्तव्यो का भी प्रश्न उठता है। राज्यशास्त्र इन सस्थाओं का अध्ययन नही करता। अत. नागरिकशास्त्र का क्षेत्र राज्यशास्त्र से इस दशा में अधिक विस्तृत और व्यापक है। सक्षेप में नागरिकशास्त्र राज्यशास्त्र से निम्नलिखित बातो में भिन्न है —

(१) नागरिकशास्त्र के अध्ययन का क्षेत्र है समाज के सारे अग। इसके विपरीत राज्यशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र है केवल राज्य या सगठन।

(२) नागरिकशास्त्र केवल नगर और राष्ट्र के सामाजिक जीवन का ही विवेचन नही करता, अपितु अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक जीवन का भी। राज्यशास्त्र केवल राष्ट्रीय जीवन और एक राज्य का दूसरे राज्यो के साथ सम्बन्ध का अध्ययन करता है।

(३) नागरिकशास्त्र सामाजिक जीवन की अच्छाई की अवस्थाओं का अध्ययन है किन्तु राज्यशास्त्र सामाजिक जीवन की अच्छाई के मुख्य साधन—राज्य का अध्ययन है।

हानि उठानी पड़ती है। इस कारण भी यह आवश्यक है कि नागरिकशास्त्र के सिद्धान्त सब को ज्ञात हों।

नागरिकशास्त्र के अध्ययन से अच्छे नागरिक बनने में किस प्रकार सहायता मिलती है ?

नागरिकशास्त्र का अध्ययन श्रेष्ठ नागरिकता के विकास के लिए अनिवार्य है। इस शास्त्र के अध्ययन के बिना मनुष्य उन तथ्यों को नहीं जान पाता जिन पर समाज की संस्कृति और सभ्यता निर्भर है। यह शास्त्र उन सिद्धान्तों का विवेचन करता है जिन पर चलकर कोई भी मनुष्य एक आदर्श सामाजिक जीवन व्यतीत कर सकता है तथा अपनी जाति, राष्ट्र और समाज की उन्नति में योगदान दे सकता है। इस शास्त्र की शिक्षा के बिना मनुष्य एक सच्चा मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं बनता। संक्षेप में इस शास्त्र के अध्ययन से होने वाले लाभों का वर्णन हम इस प्रकार कर सकते हैं :—

(१) **सुखमय तथा सुन्दर जीवन की शिक्षा**—सर्वप्रथम नागरिकशास्त्र मनुष्य तथा समाज के जीवन को प्रेम, सत्य, अहिंसा तथा शान्ति के अमिट सिद्धान्तों पर निर्माण करना सिखाता है। हम किस प्रकार अपने अन्दर उन गुणों का विकास कर सकते हैं जिससे हमारा नित्य का जीवन सुखमय तथा सुन्दर बन सके, यह ज्ञान हमें नागरिकशास्त्र के अध्ययन से ही प्राप्त होता है।

(२) **कर्त्तव्यों का ज्ञान**—दूसरे, नागरिकशास्त्र मनुष्य को उसके भिन्न-भिन्न समुदायों तथा संस्थाओं जैसे कुटुम्ब, नगर, जाति, राष्ट्र तथा समस्त मानव-समाज के प्रति कर्त्तव्यों का ज्ञान कराता है और उसे इस बात की भी शिक्षा देता है कि यदि दो या दो से अधिक संस्थाओं के बीच उसके कर्त्तव्यों में संघर्ष हो तो वह किस प्रकार दूर किया जा सकता है।

(३) ***आदर्श नागरिकता का पाठ***—यह विज्ञान मनुष्य में प्रेम, सद्भावना, सहानुभूति, सेवा, बलिदान और बन्धुत्व की भावना उत्पन्न करता है। संक्षेप में यह शास्त्र हमें जीवन की उन अवस्थाओं का ज्ञान कराता है जिन पर आदर्श नागरिकता अवलम्बित है।

(४) ***अधिकारों की रक्षा***—यह विज्ञान मनुष्यों को अपने अधिकारों का ज्ञान तथा उनकी रक्षा के लिए लड़ने तथा आन्दोलन करने की शिक्षा प्रदान करता है। अधिकारहीन मनुष्य समाज में पशुवत् जीवन ही व्यतीत कर सकता है, सुखी तथा समृद्धशाली जीवन नहीं।

(५) ***राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं की जानकारी***—यह विज्ञान हमें राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का ज्ञान भी कराता है और उनको हल करने की क्षमता प्रदान करता है।

(६) **शासन व्यवस्था का ज्ञान**—अन्त में यह विज्ञान हमें अपने देश की शासन-व्यवस्था का ज्ञान कराता है तथा हमें इस योग्य बनाता है कि बड़े होकर हम अपने राज्य के कामों में भाग ले सकें तथा अपने देश की सेवा कर सकें।

नागरिकशास्त्र के अध्ययन की विद्यार्थियों के लिए विशेष उपयोगिता

वैसे तो नागरिकशास्त्र के सिद्धान्तों का जानना सभी मनुष्यों के लिए आवश्यक है परन्तु विद्यार्थियों के लिए उसका अध्ययन और भी उपयोगी है। एक कवि ने कहा है कि **'बालक मनुष्य का पिता होता है।'** इसका मतलब यही है कि बच्चों का मस्तिष्क अत्यन्त कोमल होता है। जो भी आदतें और भावनाएँ मनुष्य के बचपन में पड जाती है वह उसके सारे जीवन को प्रभावित करती हैं। अत यह आवश्यक है कि युवकों और युवतियों को नागरिकशास्त्र के सिद्धान्त बचपन मे ही सिखा दिये जायँ जिससे उनका प्रभाव इनके जीवन पर अमिट रूप से पड सके।

आज के विद्यार्थी हमारे देश के भावी नागरिक है। आज जो बच्चे स्कूल और कालेजों की बेंचों पर बैठकर अपना पाठ्यक्रम याद करते है वही आगे आने वाले युग मे विधान सभा, मन्त्रिमण्डल, जिला और म्युनिसिपल बोर्ड और शासन की दूसरी संस्थाओ को चलायेंगे। इसलिए यह आवश्यक है कि हमारे विद्यार्थी शासन की पेचीदगियों और नागरिक जीवन के तथ्यों से भली प्रकार परिचित हो जायें जिससे वे आगे आनेवाले युग में एक आदर्श समाज का निर्माण कर सकें।

विद्यार्थी अपने देश में एक स्वस्थ नागरिक जीवन की उन्नति में अत्यन्त सहायक सिद्ध हो सकते है, कारण विद्यार्थी ही आनेवाले युग की रूपरेखा निश्चित करते है। यदि हमारे आज के विद्यार्थी स्वस्थ नागरिक जीवन के तथ्यों को भली-भाँति समझते हैं, तथा अपने वर्तमान जीवन में उन आदर्शों पर चलने का प्रयास करते है जो अच्छे सामाजिक जीवन की जड है तो हमारा भावी समाज एक आदर्श, प्रेमरत, सहयोगी, संघर्ष-रहित तथा शान्तिमय समाज बन सकता है। इसलिए विद्यार्थियों को चाहिए कि वह छात्रकाल में संयम, अनुशासन, सहयोग, प्रेम, सेवा, बलिदान तथा भ्रातृत्व के भाव निर्माण करें और असंयम, साम्प्रदायिकता, द्वेष, मिथ्याभिमान, स्वार्थ-परता तथा दंभ का सर्वथा त्याग करे। उन्हें चाहिए कि वह अध्ययन में ही अधिक मन लगावें और किसी प्रकार की दलगत नीति के फेर में न पडें। विद्यार्थी-जीवन चरित्र-निर्माण का काल होता है और जो भी आदतें इस जीवन में पड जाती है, वह सारी उम्र साथ रहती है। हमें चाहिए कि इस काल में हम अपने समाज, जाति तथा राष्ट्र की समस्याओं का अध्ययन करें और उन्हें किस प्रकार सुलझाया जा सकता है इस प्रश्न पर गहराई से विचार करें।

नागरिकशास्त्र के अध्ययन की भारतीय विद्यार्थियों के लिए विशेष उपयोगिता

अधिकारों का ज्ञान—हमारे देश के विद्यार्थियों के लिए नागरिकशास्त्र का अध्ययन और भी आवश्यक है। हमारा देश सदियों की गुलामी के बाद आजाद हुआ है। हमारी स्वतन्त्रता कुछ ही वर्षों की है। इस स्वतन्त्रता को सदा बनाये रखने के लिए आवश्यक है कि हम स्वतन्त्र देश के नागरिकों के कर्त्तव्य और अधिकारों को समझें और उनका पालन करना सीखें। कल तक, जब हम गुलाम थे, तो हम कह सकते थे कि हमें

अंग्रेजों ने किसी प्रकार की शिक्षा नहीं दी। उन्होंने हमें सदा पशुओं जैसा जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य किया। भारतवर्ष में किसी भी बुराई के लिए हम अपने विदेशी शासकों को दोषी ठहरा सकते थे। परन्तु आज जब हम आजाद हैं तो अपने दोषों के लिए हम दूसरों पर लांछन नहीं लगा सकते। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम स्वतन्त्र देश के स्वतन्त्र नागरिक की भाँति आचरण करें। हम आजाद देश के नागरिकों के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों को समझें और सदा इस बात का प्रयत्न करें कि हमारे देश का गौरव तथा मान बढ़े और दूसरे देश के लोग यह न कह सकें कि भारतवर्ष आजादी प्राप्त करने के योग्य नहीं था और उसके नागरिक अपने कर्त्तव्यों को नहीं समझते।

भारत की प्राचीन संस्कृति तथा सभ्यता की रक्षा—हमारा इतिहास अत्यन्त उज्ज्वल है। हमें चाहिए कि अपने देश की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति को याद करें और अपने चरित्र के बल से संसार को दिखा दें कि भारतवर्ष आज भी आध्यात्मिक और नैतिक क्षेत्र में संसार का गुरु बन सकता है। संसार की आँखें आज भारत की ओर लगी हैं। दुनिया के दूसरे देश देख रहे हैं कि हम अपनी आजादी का किस प्रकार प्रयोग करते हैं और किस प्रकार अपनी नई जिम्मेदारियों को निभाते हैं। कभी-कभी हमारे देश में साम्प्रदायिकता का भूत सर उठाने लगता है। आजादी प्राप्त करने के कुछ ही दिन बाद हमारे देश में जो गुण्डाशाही और अन्धी साम्प्रदायिकता का ताण्डव नृत्य रचा गया उसे देखकर संसार के सभ्य देश हमारी पुरानी सभ्यता और हमारी आध्यात्मिकता की ढोंग की खिल्ली उड़ाने लगे और हमारे प्यारे देश को तरह-तरह के अभियोग लगाकर बदनाम करने लगे। नागरिकशास्त्र की सच्ची शिक्षा ही ऐसे संकट-काल में हमारे देश-वासियों को उनके असली कर्त्तव्यों का ज्ञान करा सकती है और हमको साम्प्रदायिकता के विषैले वातावरण से निकालकर मानवता के पुण्य क्षेत्र में डाल सकती है।

कर्त्तव्यों का ज्ञान—स्वतन्त्र देश के नागरिक होने के नाते आज हमारी अनेक जिम्मेदारियाँ हैं। हमें अपनी सरकार स्वयं चलानी है, हमें शासन की पेचीदगियों को समझना है और अपने देश में एक सच्चे राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक प्रजातंत्रवादी शासन का निर्माण करना है। हमें मताधिकार का उचित उपयोग सीखना है, अपने देश से निर्धनता और निरक्षरता को मिटाना है। इन सब के लिए हमें नागरिक शास्त्र के सिद्धान्तों को समझना चाहिए।

सामाजिक कुरीतियों का निवारण—संसार के किसी देश में इतनी सामाजिक कुरीतियाँ नहीं जितनी हमारे देश में। आज स्वतंत्र होने पर भी हम जाति-पाँति, छूत-छात, परदा और इसी प्रकार की दूसरी सामाजिक व्याधियों के शिकार हैं। इन सब को दूर करने के लिए भी और अपने देश में एक नए प्रगतिशील समाज की स्थापना करने के लिए हमें नागरिकशास्त्र की शिक्षा की नितान्त आवश्यकता है।

भ्रातृभाव का निर्माण—विभिन्न सम्प्रदायों के बीच भाईचारे का भाव उत्पन्न करने के लिए विद्यार्थी बहुत सबल कार्य कर सकते हैं। स्कूल और कालेजों में विभिन्न धर्मों, विश्वासों तथा मतों के लोग शिक्षा प्राप्त करते हैं, छात्रालयों में भी हर प्रकार के

विद्यार्थी एक साथ रहकर शिक्षाध्ययन करते हैं। ऐसे सब विद्यार्थियों को चाहिए कि वह आपस का जातीय भेद-भाव भुलाकर एक-दूसरे के साथ सगे भाइयों जैसा व्यवहार करें। उन्हें चाहिए कि वह झूठे जातीय अभिमान तथा वर्णीय उच्चता के भावों का सर्वथा त्याग कर दें और यह समझें कि उनकी श्रेष्ठता किसी उच्च वर्ण या जाति में उत्पन्न होने के कारण नहीं, वरन् उनके अपने कर्मों पर निर्भर रहती है। यदि उन्होंने प्रेम, दया, सहयोग, सेवा, बलिदान तथा त्याग का मार्ग अपनाया तो वह समाज में ऊँचे से ऊँचा स्थान प्राप्त कर सकेंगे और यदि व्यर्थ के जातीय अभिमान तथा दम्भ में पड़े रहेंगे तो आज के प्रजातंत्रवादी युग में उन्हें कोई कौड़ी के भाव भी नहीं पूछेगा और उन्हें अपना जीवन नारकीय परिस्थितियों में व्यतीत करना पड़ेगा। विद्यार्थियों को चाहिए कि वे अच्छे कामों के द्वारा समाज में ऊँचे उठने का प्रयत्न करें, अपने दृष्टिकोण को विशाल बनायें तथा पुराने हानिकारक रूढ़िवादी विचारों का सर्वथा त्याग कर दें। अपने नाम के आगे जातीय चिह्न लगाने से भी उन्हें बचना चाहिए। आज हमारे समाज में कुछ फैशन-सा चल पड़ा है कि जब तक नाम के आगे कोई उपनाम शर्मा, वर्मा, गुप्ता, टंडन, माथुर, यादव, नेहरू, पटेल इत्यादि न लगाया जाय, लोग यही समझते हैं कि उनका नाम अधूरा है। परन्तु इस उपनाम के लगाने से विद्यार्थियों को अपनी जाति तथा धर्म का सदा बोध रहता है और वह दूसरी जाति के विद्यार्थियों के साथ आत्मीयता का भाव निर्माण नहीं कर पाते। विद्यार्थियों को यह भी चाहिए कि वे अपने फालतू समय में समाज के पिछड़े हुए वर्गों को प्रगतिशील लोगों के समान जीवन-स्तर पर लाने के लिए शिक्षा-प्रसार तथा सामाजिक उत्थान का कार्य करें। इस प्रकार का कार्य करने से हमारे भारतीय समाज की जातिगत बुराइयाँ दूर हो जायेंगी।

योग्यता-प्रश्न

१. नागरिकशास्त्र के विषय की व्याख्या कीजिये और इसका क्षेत्र बताइये। (यू० पी०, १९२०, ४६, ४८, ५१),

२. कॉलिजों में नागरिकशास्त्र के पढ़ाने की क्या आवश्यकता है? (यू० पी०, १९३१, ३३)

३. 'नागरिकशास्त्र अथवा राज्यशास्त्र का अध्ययन ठीक भौतिकशास्त्र और रसायनशास्त्र की शैलियों के अनुसार होना चाहिए' इस कथन की व्याख्या कीजिए। (यू० पी०, १९२८)

४. आधुनिक सामाजिक जीवन में नागरिकशास्त्र के अध्ययन का क्या महत्त्व है? नागरिकशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, इतिहास और अर्थशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्ध और भेद की व्याख्या कीजिए। (यू० पी०, १९३४, ३६)

५. नागरिकशास्त्र की परिभाषा क्या है? नागरिकशास्त्र का समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र और इतिहास से क्या सम्बन्ध है, स्पष्ट व्याख्या कीजिए। (यू० पी०,१९४१)

६. नागरिकशास्त्र से आप क्या समझते हैं? इसका इतिहास, राज्यशास्त्र, अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र से क्या सम्बन्ध है? (यू० पी०, १९३८, १९४४, १९५३)

७. राजनीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र के क्षेत्रों से नागरिकशास्त्र के क्षेत्र की भिन्नता स्पष्ट कीजिए। (यू० पी०, १९४१)

८. क्या नागरिकशास्त्र विज्ञान अथवा कला है? अथवा दोनों है? (पंजाब, १९५२; राजस्थान १९५८)

९. नागरिकशास्त्र के नियमों का स्वरूप क्या है? भौतिक विज्ञानों के नियमों से उनमें क्या भिन्नता है?

१०. नागरिकशास्त्र के अध्ययन का क्या महत्त्व है? यह शास्त्र इतिहास और अर्थशास्त्र से किस प्रकार सम्बन्धित है? (यू० पी०, १९४७, १९४९)

११. 'सामाजिक निरीक्षण का सामाजिक सेवा में लगाना ही नागरिकशास्त्र है', इस कथन की विवेचना कीजिए। (यू० पी०, १९५१)

१२. नागरिकशास्त्र विज्ञान और कला दोनों है। इस कथन को समझाइये और बताइये कि इस शास्त्र के अध्ययन का क्या लाभ है? (यू० पी०, १९५२)

१३. भारत के विभिन्न संप्रदायों के बीच अधिक उत्तम भाव उत्पन्न करने में सामंजस्य स्थापित करने के लिए भारत के विद्यार्थी क्या-क्या काम कर सकते हैं? (यू० पी०, १९५३)

१४. नागरिकशास्त्र से आप क्या समझते हैं? यह बताइये कि नागरिक-शास्त्र के अध्ययन से अच्छे नागरिक बनने में क्या सहायता मिलती है? (यू० पी०, १९५४; पंजाब १९५०)

१५. विद्यार्थी जीवन में आप अपने देश में एक स्वस्थ नागरिक जीवन की उन्नति में किस प्रकार सहायक हो सकते हैं? (यू० पी०, १९५४)।

१६. नागरिकशास्त्र के विषय और विस्तार (क्षेत्र) का वर्णन कीजिए और यह लिखिए कि इसके अध्ययन का आधुनिक जीवन में क्या महत्त्व है? (यू० पी०, १९५५; पंजाब १९५४, ५५)

१७. "नागरिकशास्त्र उन समस्त समुदायों, संस्थाओं तथा वर्गों का अध्ययन करता है जिन पर सामाजिक जीवन निर्भर है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए। (यू० पी०, १९५६)

१८. "नागरिकशास्त्र सामाजिक निरीक्षण को सामाजिक सेवा में लगानेवाला व्यावहारिक ज्ञान है।" उपरोक्त कथन की व्याख्या कीजिए। (यू० पी०, १९५७; पंजाब १९५०)

१९. नागरिकशास्त्र का अर्थशास्त्र, इतिहास और राजनीतिशास्त्र से क्या सम्बन्ध है? इसका सावधानी से विवेचन कीजिए। (यू० पी०, १९५७; पंजाब १९५३)

२०. नागरिकशास्त्र की विस्तृत परिभाषा लिखिए तथा इसके क्षेत्र का विवेचन कीजिए। (यू० पी०, १९५८)

२१. 'सहयोग जीवन का मुख्य आधार है'। आलोचना कीजिए। (यू० पी०, १९५८)

अध्याय २

व्यक्ति और समाज

(Individual And Society)

[मनुष्य स्वभाव और आवश्यकता से एक सामाजिक-प्राणी है—अरस्तू]

समाज का अर्थ (Meaning of Society)

समाज शब्द का अर्थ अत्यन्त व्यापक है। मनुष्य के सर्व प्रकार के सम्बन्धों तथा संस्थाओं के समूह का नाम समाज है। अकेला रहना मनुष्य की प्रकृति के विरुद्ध है। मनुष्य अपने जीवन की रक्षा, अपनी भावनाओं की तुष्टि तथा अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए समाज में रहता है। वह जन्म से मरण तक अपनी प्रत्येक इच्छा की पूर्ति के लिए दूसरों पर आश्रित रहता है। छोटा बच्चा माता-पिता के लालन-पालन, भाई-बहिनों के मधुर प्यार तथा हमजोलियों की खेल-क्रीडा के बिना जीवित नहीं रह सकता। कुछ बड़ा होने पर उसे पाठशाला जाने तथा विद्या प्राप्त करने की आवश्यकता होती है और बड़ा होकर वह कॉलिज में पढ़ता है तथा संसार का ज्ञान प्राप्त करता है। इसके पश्चात् जीवन के आर्थिक संग्राम में उसे पग-पग पर दूसरों के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार पारस्परिक सहयोग मानव जीवन की महान् विशेषता है।

एक साथ रहने और दूसरों के साथ मिल-जुलकर काम करने के समय मनुष्य अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक संस्थाओं को जन्म देता है। जैसे विद्याध्ययन के लिए मनुष्य को स्कूल और कॉलेजों की आवश्यकता होती है, खेल-कूद और आमोद-प्रमोद के लिए क्लब, सिनेमाघर, थियेटर, संगीत गृह, चित्रशाला, अजायबघर, पशुशाला इत्यादि की जरूरत पड़ती है; आय-प्राप्ति के लिए नौकरी, व्यवसाय या किसी उद्योग-धंधे की आवश्यकता होती है, आर्थिक अधिकारों की रक्षा के लिए ट्रेड यूनियन या व्यावसायिक सभों की जरूरत पड़ती है, इत्यादि। यह सारी संस्थाएँ मनुष्य समाज में रहकर तथा दूसरों के सहयोग द्वारा ही बना सकता है।

समाज के आधारभूत तत्व (Essential Elements of Society)

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि मनुष्यों के ऐसे समूह को ही समाज कहा जाता है जो शान्तिमय एवं मैत्रीपूर्ण जीवन व्यतीत करने का इच्छुक हो। लोगों के किसी आकस्मिक जमाव को समाज नहीं कहा जाता। जब विशाल

जनसमुदाय एक-दूसरे के सहयोग से जीवन व्यतीत करने का इच्छुक होता है और वह प्रेमपूर्ण तथा संघर्ष-रहित जीवन में अपनी भलाई देखता है तो समाज का जन्म हो जाता है। मनुष्य का स्वभाव ही कुछ इस प्रकार का है कि वह शान्ति चाहता है और दूसरों के साथ रहने-सहने, खेलने तथा सहयोग में ही आनन्द का अनुभव करता है। कोई मनुष्य अकेला रहना पसन्द नहीं करता। इसलिए समाज का अर्थ 'मनुष्यों को आपस में एक-दूसरे के साथ मिल-जुलकर रहना है।' डाक्टर जेन्कस के शब्दों में समाज मनुष्यों की मैत्रीपूर्ण अथवा शान्तिमय जीवन की दशा का नाम है।[1] मकाइवर ने समाज की परिभाषा करते हुए लिखा है कि 'मनुष्यों का एक-दूसरे के साथ ऐच्छिक सम्बन्ध ही समाज है।'[2]

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समाज में निम्न तत्वों का होना आवश्यक है :—

(१) एक विशाल जनसमूह,

(२) जनसमूह में शान्तिपूर्ण तथा सहयोगात्मक जीवन व्यतीत करने की स्वाभाविक इच्छा, तथा

(३) इस प्रकार का जीवन व्यतीत करने के लिए एक निश्चित सामाजिक योजना तथा प्रबन्ध।

समाज के आकार का विकास दूसरी संस्थाओं की तरह धीरे-धीरे ही हुआ है। वैसे समाज मनुष्य के स्वभाव में ही व्याप्त है। समाज उतना ही पुराना है जितना मानव जीवन, परन्तु आरम्भ में समाज का आकार छोटा था। पहले मनुष्य परिवारों के समूह में रहते थे, फिर बहुत से परिवारों के मिलने से जातियाँ बनीं, जातियों से ग्रामों का निर्माण हुआ और धीरे-धीरे बड़े-बड़े राष्ट्र समाज बन गए। आजकल सारा विश्व ही एक मानव समाज का अंग बन गया है कारण संसार के सभी मनुष्य आपस के सहयोग तथा प्रेम के साथ रहना चाहते हैं। सामाजिक संगठन के लिए किसी राजनीतिक या सरकारी व्यवस्था की आवश्यकता नहीं होती। जब सब मनुष्य सहयोग तथा अपनी आन्तरिक नैतिक भावना से आपस का सम्बन्ध कायम रखते हैं तो समाज का संगठन काम करने लगता है। समाज एक शाश्वत और स्थायी संस्था है। इसकी तुलना शरीर के साथ की जा सकती है। जिस प्रकार शरीर में विभिन्न अवयव होते हैं, उसी प्रकार समाज में भिन्न-भिन्न समुदाय तथा संस्थाएँ होती हैं जिनका उद्देश्य शरीर रूपी समाज का भला करना होता है।

---

1 "The term Society means harmonious at best peaceful relationship."—*Jenks.*

2 "Society includes every willed relationship of man to man."—*Mac Iver.*

§ १. समाज की आवश्यकता
(Necessity of Society)

प्रश्न उठता है कि मनुष्य के लिए समाज में रहना क्यों आवश्यक है ? समाज में रहने से मनुष्य को बहुत-सी चिन्ताओं और आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। क्या हम इन चिन्ताओं और आपत्तियों से दूर समाज को छोड़ कर जंगल के किसी कोने में अपना जीवन व्यतीत नहीं कर सकते ? क्या मनुष्य के लिए यह सम्भव नहीं कि वह सामाजिक जिम्मेदारियों, नाना प्रकार के दुखों, असफलताओं और बाधाओं के बोझ से बरी होकर एकान्तवास कर सके ?

अर्जुन ने कुरुक्षेत्र के रणस्थल में अपने सम्बन्धियों के नाश की सम्भावना से त्रस्त होकर भगवान श्रीकृष्ण से ऐसा ही प्रश्न किया था कि 'हे योगिराज इस प्रकार के दुखी जीवन से क्या मेरे लिए जंगल में एकान्तवास करना अच्छा नहीं होगा ?' उस समय भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया था कि 'हे वत्स, रण-स्थल में अपने कर्तव्यों की पूर्ति न करना कायरता है, संसार के दुःख और झमेलों से घबरा कर सन्यास का नाम लेना मूर्खता है। तू समाज में रह कर निष्कर्म कर्म कर। उसी में तेरा और सारे समाज का कल्याण है।'

एकान्त जीवन निष्क्रिय जीवन है। योगी और सन्यासी भी समाज को परित्याग नहीं करते। वह अपनी तपस्या, स्वाध्याय, निस्पृहता तथा भगवद् भजन द्वारा समाज की बहुत बड़ी सेवा करते है। वह समाज के आचरण को ऊँचा उठाते है। वह केवल पारिवारिक और सामाजिक बंधनों का त्याग करते हैं, सामाजिक जीवन का नहीं। साधारण मनुष्य के लिए समाज को त्यागना न केवल अहितकर है, वरन् असम्भव भी है। समाज के द्वारा ही मनुष्य के चरित्र का निर्माण होता है, वह अपनी आत्मोन्नति कर सकता है, वह स्वार्थपरता का त्याग कर अपने अन्दर समन्वय की भावना का संचार कर सकता है, वह अपने जीवन की रक्षा तथा सभ्यता और संस्कृति का विकास कर सकता है। संक्षेप में हम सामाजिक जीवन की महत्ता तथा समाज की आवश्यकता के पक्ष में निम्न दलील दे सकते हैं —

समाज मनुष्य की जीवन रक्षा के लिए आवश्यक है (Society is necessary for Physical Existence)

मनुष्य सामाजिक सहयोग के बिना जीवित नहीं रह सकता। इसके निम्नलिखित कारण हैं :—

(१) **मनुष्य को रोटी और कपड़े की आवश्यकता**—समस्त प्राणी-जगत् को जीवित रहने के लिए रोटी और तन ढाँकने के लिए कपड़े की आवश्यकता पड़ती है। यह चीजें मनुष्य दूसरों के सहयोग के बिना प्राप्त नहीं कर सकता। अनाज पैदा करने, बोने या कपड़ा तैयार करने में अनेक मनुष्यों की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। जंगली अवस्था में भी मनुष्य अपने साथियों की सहायता के बिना न शिकार ही कर सकता था

और न पेड़ों से फल ही तोड़ सकता था। इसके अतिरिक्त मनुष्य जीवन में ऐसे बहुत से अवसर आते हैं जब परिस्थितियों से विवश होकर वह स्वयं कुछ भी काम नहीं कर सकता। बीमारी या बुढ़ापे में ऐसी ही परिस्थिति हो जाती है। बचपन में भी यही दशा रहती है। बच्चे को अपने जीवन के लिए अपनी माँ के सहारे ही रहना पड़ता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य को जीवित रहने के लिए समाज की आवश्यकता पड़ती है।

(२) **जंगली पशुओं से रक्षा**—वर्तमान सभ्यता के युग में जंगली जानवरों का भय चाहे काल्पनिक प्रतीत हो, परन्तु प्राचीनकाल में मनुष्य को अनेक भयंकर पशु-पक्षियों से अपनी रक्षा करनी पड़ती थी। शेर, चीते, बाघ, अजगर, सर्प, बिच्छू, मगरमच्छ, घड़ियाल, बन्दर, चील इत्यादि अनेक घातक प्राणी मनुष्य के शत्रु हैं। भगवान ने मनुष्य को बुद्धि तो अवश्य दी है परन्तु इतनी शारीरिक शक्ति नहीं दी कि वह अकेला जंगली जीवों से अपनी रक्षा कर सके। मनुष्य समाज की सामूहिक शक्ति तथा अपने मस्तिष्क द्वारा आविष्कृत हथियारों से, जंगली जानवरों के आक्रमण से अपनी रक्षा करते हैं। बंदूक, तलवार और भाले किसी एक व्यक्ति के प्रयत्न का फल नहीं, वरन् समाज में संचित प्रयत्न की देन हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि केवल समाज ही मनुष्य को वह शक्ति प्रदान करता है जिसके द्वारा वह संसार के घातक प्राणियों से अपनी रक्षा कर सकता है।

(३) **ऋतुओं से रक्षा**—मनुष्य जीवन को केवल जंगली जानवरों का ही डर नहीं, वर्षा, तूफान, बिजली, बर्फ, लू, सर्दी, गर्मी आदि ऋतुओं के प्रकोप का भी डर बना रहता है। इन प्राकृतिक प्रकोपों से बचने के लिए उसे घर की चहारदीवारी की आवश्यकता पड़ती है। स्पष्ट है कि कोई भी मनुष्य अन्य व्यक्तियों की सहायता के बिना न घर ही बना सकता है और न गर्मी-सर्दी से बचने के लिए अन्य आधुनिक सामग्री ही, जैसे—एयर कण्डीशनर, कूलर इत्यादि।

(४) **स्वास्थ्य रक्षा**—मनुष्य जीवन के साथ अनेक रोग, व्याधि तथा पीड़ाएँ लगी रहती हैं। बहुत बार उसे दुर्घटना का शिकार भी होना पड़ता है। ऐसे समस्त अवसरों पर मनुष्य को चिकित्सा और उपचार की आवश्यकता होती है। यह सुविधा भी मनुष्य समाज के सहयोग द्वारा ही प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज मानव के अस्तित्व तथा उसकी रक्षा के लिए नितान्त आवश्यक है।

समाज मनुष्य के लिए स्वाभाविक है (*Society is Natural for Man*)

मनुष्य समाज में केवल इसलिए ही नहीं रहता कि उसका जीवन समाज के बिना सम्भव नहीं वरन् इसलिए भी रहता है कि उसी के द्वारा वह अपनी भावनाओं और इच्छाओं को पूरी कर सकता है। आधुनिक मनोविज्ञान का दावा है कि मनुष्य में कुछ स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ होती हैं, जैसे—पैतृक प्रवृत्ति, संग्रह की प्रवृत्ति, आत्मरक्षा की प्रवृत्ति, क्षुधा शान्त करने की प्रवृत्ति, प्रेम, घृणा और क्रोध की प्रवृत्ति, दूसरों के ऊपर अपने विचार प्रकट करने की प्रवृत्ति, ख्याति प्राप्त करने की प्रवृत्ति, उपकार की

प्रवृत्ति, खेलने, हँसने तथा दूसरों पर हुक्म चलाने की प्रवृत्ति, दिखावे की प्रवृत्ति इत्यादि।

मनुष्य की यह मौलिक भावनाएँ एकान्त जीवन में कभी व्यक्त नहीं हो सकती। इन भावनाओं को व्यक्त करने के लिए उसे दूसरे प्राणियों की आवश्यकता पड़ती है। उदाहरणार्थ, पैतृक प्रवृत्ति की सन्तुष्टि के लिए पुरुष या स्त्री के साथ रहना आवश्यक है। सम्भवत. इसी प्रवृत्ति के कारण मनुष्य के पहले संगठन अर्थात् परिवार का प्रादुर्भाव हुआ, क्योंकि पितृभाव की सन्तुष्टि के लिए मनुष्य को बच्चों की आवश्यकता पड़ती है। प्रेम और दुलार का भाव तभी पूरा हो सकता है जब प्यार करने के लिए दूसरे व्यक्ति हों। ख्याति, दिखावा तथा आत्मप्रदर्शन का भाव भी दूसरों के समक्ष ही पूरा हो सकता है। अनुकरण, संग्रह, हँसने, खेलने इत्यादि की प्रवृत्तियाँ भी समाज में ही व्यक्त हो सकती है। घृणा, क्रोध मोह और इसी प्रकार की दूसरी स्वाभाविक भावनाएँ भी समाज में ही पूर्ण हो सकती है। सारांश में इन भावनाओं को पूर्ण करने के लिए दूसरों की उपस्थिति की आवश्यकता पड़ती है। सच बात तो यह है कि मनुष्य अपने समान प्राणियों की उपस्थिति में ही पूर्ण सन्तुष्ट और प्रसन्न रह सकता है। निर्जन एकान्तवासी मनुष्य बहुत दुखी और दयनीय प्राणी होता है। उसका जीवन निस्सार और भारस्वरूप बना रहता है। यही कारण है कि किसी भी अपराधी को एकान्त कारावास का दण्ड देना अन्य सभी दण्ड से अधिक कड़ा समझा जाता है। एकाकी जीवन की अपेक्षा मनुष्य मृत्यु का भी स्वागत करता है। जिस प्रकार मछली पानी के बिना छटपटाती रहती है, ठीक उसी प्रकार मनुष्य अपने साथियों के अभाव में बेचैन रहता है। किसी दूसरे देश में जाने पर कोई व्यक्ति अपने देशवासी या प्रान्तवासी से मिलकर जिस आनन्द का अनुभव करता है, वह बात भी इसी प्रवृत्ति को साबित करती है। इस प्रकार हम कह सकते है कि प्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक अरस्तू का यह कथन कि 'मनुष्य स्वभाव से सामाजिक प्राणी है', पूर्णत सत्य है।

समाज मनुष्य के उत्थान के लिए आवश्यक है (Society is Necessary for good life)

अन्त में यह कहा जा सकता है कि समाज के द्वारा ही मनुष्य को ज्ञान-संचय की सुविधा तथा अपने सांस्कृतिक विकास का अवसर मिलता है। समाज वह विशाल कोष है जिसमे युग-युग का ज्ञान संचित है। व्यक्ति समाज में रह कर इस संचित ज्ञान का लाभ उठाता है तथा इस प्रकार अपना बौद्धिक विकास करता है।

(१) **सभ्यता का आधार**—समाज सभ्यता का आधार है। सामाजिक जीवन के कारण ही सभ्यता की उन्नति होती है। पारस्परिक सहयोग के सहारे ही मनुष्य अपने वातावरण पर विजय पाता है। वह दूसरों से मिलकर तथा समाज के संचित ज्ञान से लाभ उठाकर रेलगाड़ी, भाप से चलनेवाली मशीनें, हवाई जहाज, रेडियो, टेलीफोन,

डाक, तार, वायरलेस, औषधियाँ इत्यादि तैयार करता है जिससे सभ्यता की प्रगति होती है तथा मनुष्य का जीवन अधिक सुखी तथा सुरक्षित बनता है।

(२) सांस्कृतिक विकास का स्रोत—सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की उपासना का नाम ही संस्कृति है। सत्य क्या है, ईश्वर की महिमा का क्या सार है तथा सुन्दर और असुन्दर में क्या भेद है, इन चीजों का ज्ञान हमें समाज में रहकर ही प्राप्त होता है। समाज के द्वारा ही कला की उन्नति होती है। चित्रकला, संगीत, नृत्यकला, फोटोग्राफी इत्यादि कलाओं का जन्म भी समाज में ही होता है। भाषा का विकास भी समाज द्वारा ही सम्भव है। अकेला जंगल में रहनेवाला मनुष्य कोई भी भाषा नहीं सीख सकता। भाषा के द्वारा ही हम अपने भाव और विचार दूसरों पर प्रकट कर सकते हैं और इस प्रकार अपनी संस्कृति का विकास कर सकते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि समाज मानव भावनाओं का आश्रय स्थल तथा सांस्कृतिक विकास का मूल स्रोत है।

(३) ज्ञान का अथाह भण्डार—अकेला मनुष्य अपने थोड़े से जीवनकाल में संसार के अथाह ज्ञान का केवल एक थोड़ा-सा अंश ही प्राप्त कर सकता है। परन्तु समाज के सब सदस्य मिलकर एक दूसरे व्यक्ति के अध्ययन का लाभ उठाकर तथा पिछली पीढ़ियों के संचित ज्ञान का उपभोग करके, विश्व के ज्ञान-भण्डार को बहुत आगे बढ़ा सकते हैं। संसार में जितनी भी वैज्ञानिक उन्नति एवं दार्शनिक व कलात्मक प्रगति हुई है उसके पीछे युगों का अनुसंधान एवं समाज के असंख्य व्यक्तियों का सम्मिलित प्रयत्न छिपा हुआ है। इस प्रकार सामाजिक जीवन ही ज्ञान-संचय का अमिट स्रोत है।

(४) संचित ज्ञान का रक्षक—समाज के द्वारा ही विश्व के संचित ज्ञान की रक्षा होती है। यदि मनुष्य अकेला रहता तो उसकी मृत्यु के साथ ही उसके अनुभव व सीमित ज्ञान का अन्त हो जाता। परन्तु समाज के कारण आज लाखों और करोड़ों वर्ष का संचित मानव ज्ञान सुरक्षित है। एक मनुष्य की मृत्यु के पश्चात् उसका ज्ञान दूसरे लोगों की निधि बन जाता है।

(५) ज्ञान की वृद्धि के लिए उपयुक्त वातावरण का निर्माता—अकेले मनुष्य के पास इतना समय नहीं होता कि वह अपने पेट के धंधे से अवकाश पाकर कला और विज्ञान की प्रतिष्ठा में लग जाय। सामाजिक संगठन के कारण अलग-अलग मनुष्य भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। कुछ खेती करते हैं तो कुछ व्यापार, कुछ उद्योगों का संचालन करते हैं तो कुछ परिवहन के साधनों का संगठन और कुछ अन्य व्यक्ति केवल विद्याध्ययन और अनुसंधान में ही अपना जीवन लगा देते हैं। इससे विद्या की उन्नति होती है और विश्व का ज्ञान आगे बढ़ता है।

(६) आर्थिक विकास का मूल—आधुनिक काल में व्यक्ति को उत्पत्ति और धनोपार्जन के अनेक सुलभ और कुशल साधन प्राप्त हैं। वह बड़ी-बड़ी मशीनों की सहायता से बिना अधिक शारीरिक परिश्रम किये हुए, अतुल धन-संपत्ति एकत्रित कर

सकता है। यह समस्त आर्थिक प्रगति सामाजिक सहयोग पर अवलम्बित है। अकेला मनुष्य न मशीनें बना सकता है और न उनका उपयोग ही कर सकता है।

(७) राज्य की व्यवस्था का सार—राज्य समाज का अंग है। राज्य की व्यवस्था सामाजिक संगठन पर ही निर्भर है। सामाजिक भावना के कारण ही व्यक्ति राज्यों के नियमों का स्वेच्छा से पालन करते हैं और इस प्रकार शान्ति और सुव्यवस्था बनाये रखने में सहायता देते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सामाजिक जीवन व्यक्तित्व के विकास का स्तर है। यह राजनीतिक संगठन का आश्रय स्थल है। वह संस्कृति का रक्षक एवं सभ्यता का आधार है। वह ज्ञान के संचय एवं आर्थिक विकास का मूल है। वह व्यक्तिगत समानता का वाहन है और मानव जीवन के विकास का आधार है।

§ २. व्यक्ति और समाज के संबन्ध का स्वरूप
(Nature of Relationship between Individual and Society)

हम पहले कह आये हैं कि मनुष्यों का एक साथ एक दूसरे के सम्पर्क तथा सहयोग के साथ रहने का नाम ही समाज है। मनुष्य में जन्म से ही एक सामाजिक भावना होती है। उस भावना के कारण व्यक्ति अपने समान आयु, समान स्वभाव एवं समान विचार-वाले अन्य व्यक्तियों के साथ रहना पसन्द करता है। मनुष्य के अन्दर विचारों का भी एक सागर होता है। इन विचारों को वह दूसरों पर व्यक्त करना चाहता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह अनेक संघ तथा संस्थाओं को जन्म देता है। उदाहरणार्थ वह शिक्षा की आवश्यकता पड़ने पर शिक्षणालय, आमोद-प्रमोद की इच्छा होने पर क्लब, सिनेमा और थियेटर, राजनीति में भाग लेने के लिए राजनैतिक दल, ईश्वर की आराधना करने के लिए मन्दिर और गिरजाघर तथा अपने विचारों को दूसरों पर व्यक्त करने के लिए अनेक प्रकार की सभा व सोसाइटी बनाता है। इस प्रकार समाज व्यक्ति की आन्तरिक भावनाओं एवं विचारों को बाह्य जगत् में लाने का माध्यम है। यदि मनुष्य के अन्दर सामाजिक भावना न होती तो समाज का जन्म नहीं हो सकता था। वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता है कि सामाजिक मेल-जोल व सम्बन्धों के बिना उसका जीवन निःसार है। वह अपने व्यक्तित्व के विकास और भावनाओं की संतुष्टि के लिए समाज में रहना आवश्यक समझता है। इस प्रकार समाज और व्यक्ति दोनों का घनिष्ठ पारस्परिक सम्बन्ध है। वह एक-दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते।

परन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि समाज के भीतर व्यक्ति का क्या स्थान है? क्या व्यक्ति समाज से बड़ा है? अथवा समाज व्यक्ति से महान् है? क्या समाज व्यक्ति के लिए है अथवा व्यक्ति समाज के लिए?

इस सम्बन्ध में सामाजिक विचारकों ने दो भिन्न-भिन्न प्रकार के मत व्यक्त किये

हैं। कुछ विचारकों का कहना है कि समाज व्यक्ति से महान् है। व्यक्ति का धर्म है कि वह समाज के लिए तथा उसकी ही प्रतिष्ठा के लिए कार्य करे। समाज अन्तिम लक्ष्य है और व्यक्ति केवल माध्यम (Society is the end and individual only the means) इसके विपरीत कुछ दूसरे विचारकों का मत है कि व्यक्तियों से मिलकर ही समाज बनता है। समाज का अपना अलग कोई अस्तित्व नहीं होता। मनुष्य अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए समाज को जन्म देता है। समाज कृत्रिम है। इसलिए समाज का अन्तिम लक्ष्य व्यक्ति है, व्यक्ति का लक्ष्य समाज नहीं। समाज का धर्म है कि वह व्यक्ति के लाभ एवं हितों के कार्य करे। व्यक्ति के विरुद्ध उसे अधिकार प्राप्त नहीं।

व्यक्ति और समाज के बीच सच्चे सम्बन्ध का सिद्धान्त व्यक्त करने से पहले हम इन दोनों मतों का विस्तार से विश्लेषण कर देना आवश्यक समझते हैं। इसके पश्चात् हम सही मत का विवेचन करेंगे।

समाज अन्तिम लक्ष्य है (Society is the End and Individual the Means)

आंगिक सिद्धान्त (Organic theory)—जो विचारक समाज को अंतिम लक्ष्य मानते हैं उनमें आंगिक सिद्धान्तवादी सबसे प्रमुख हैं। यह सिद्धान्तवादी समाज और व्यक्ति के बीच सम्बन्ध को सावयवी या आंगिक (Organismic) बताते हैं। हम ऐसी वस्तु को सावयविक कहते हैं जिनमें संगठन शक्ति के भाग अपना अलग अस्तित्व न रखते हुए एक केन्द्रीय शक्ति पर अवलम्बित हों। इस शब्द का अर्थ सम्भवतः मनुष्य शरीर की रचना पर ध्यान देने से ठीक समझ में आ जायगा। मनुष्य के शरीर में हाथ, पैर, आँख, नाक इत्यादि बहुत से भाग होते हैं परन्तु केवल इन भागों को हम शरीर नहीं कह सकते। शरीर को एक जीवित वस्तु उसी समय कहा जा सकता है जब उसमें एक गुप्त शक्ति, जिसे प्राण कहते हैं, विद्यमान हो। इस जीवन-शक्ति के शरीर के अन्दर आ जाने पर ही शरीर के विभिन्न भागों का महत्त्व और उनकी उपयोगिता दिखलाई पड़ती है। इस शक्ति के बिना मनुष्य-शरीर एक मिट्टी के ढेले के समान कहा जा सकता है। ठीक इसी प्रकार प्रत्येक आंगिक या सावयविक वस्तु अपनी एक केन्द्रीय शक्ति रखती है। उस शक्ति के बिना उसके भिन्न-भिन्न भागों का कोई भी मूल्य नहीं होता। हम ऐसी प्रत्येक चीज को आंगिक या सावयविक (Organism) कह सकते हैं जिसमें जीवन हो और जो एक छोटे स्वरूप से बढ़कर अपने यौवन और वृद्धावस्था को प्राप्त कर अन्त में मृत्यु का ग्रास बन जाय। इस प्रकार छोटे-छोटे पेड़-पौधे, जीव-जन्तु, पशु-पक्षी सभी आंगिक कहे जा सकते हैं।

शरीर और समाज में समानता (Similarities between Society and Organism)—आंगिक सिद्धान्त में विश्वास रखनेवाले दार्शनिकों का कथन है कि मनुष्य समाज भी एक आंगिक वस्तु है। इस कथन की पुष्टि के लिए वह मनुष्य शरीर और समाज के संगठन के स्वरूप में अनेक प्रकार की समानता बताते हैं। उदाहरणार्थ इन

दार्शनिकों का कहना है कि जिस प्रकार मनुष्य का शरीर छोटे-छोटे जीवित परमाणु (Cells) के संयोग से बनता है, ठीक उसी प्रकार समाज व्यक्तियों के सामंजस्य से बनता है। जिस प्रकार मनुष्य शरीर के भिन्न-भिन्न भाग होते हैं और एक भाग दूसरे की सहायता के बिना काम नहीं कर सकता, उसी प्रकार समाज में अनेक श्रेणियाँ और समुदाय होते हैं और उनका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जिस प्रकार शरीर भोजन के बिना जीवित नहीं रह सकता, उसी प्रकार समाज उत्पत्ति के बिना जीवित नहीं रह सकता। शरीर को एक जगह से दूसरी जगह लाने-ले-जाने के लिए नसें इत्यादि होती है, समाज में इसी प्रकार यातायात के अनेक साधन होते हैं। शरीर पर मस्तिष्क राज्य करता है और समाज में सेना और सरकार का प्रबन्ध होता है।

केवल इतना ही नहीं, आंगिक सिद्धान्त में विश्वास रखनेवाले दार्शनिकों का कहना है कि मनुष्य-शरीर का विकास भी सामाजिक संगठन के विकास से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। मनुष्य शरीर, प्राणिशास्त्र (Biology) के सिद्धान्त के अनुसार, एक छोटे से जीव से बढ़कर बनता है। इस प्रारम्भिक जीव में एक पेट और एक प्रवाहक अंग के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। इसी प्रकार सबसे प्राचीन समाज में मनुष्य जंगली अवस्था में रहता है। धीरे-धीरे इस समाज में भिन्न-भिन्न संस्थाओं और समुदायों का प्रादुर्भाव होता है और उनके कारण समाज मनुष्य-शरीर की भाँति जटिल बन जाता है। मनुष्य-शरीर और समाज की उन्नति, अध पतन और विनाश का विवरण भी बहुत-कुछ आपस में मिलता-जुलता है। शरीर का जन्म होता है, फिर युवावस्था और वृद्धा-वस्था प्राप्त करने के पश्चात् एक दिन उसका अन्त हो जाता है। यही दशा समाज की भी होती है। धीरे-धीरे करके समाज सभ्यता के उच्चतम शिखर पर पहुँचता है। इसके पश्चात् उसमें दोष उत्पन्न होने लगते है और अन्त में उसकी सभ्यता का लोप हो जाता है।

आंगिक सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य और समाज का सम्बन्ध—आंगिक सिद्धान्त में विश्वास रखनेवाले दार्शनिकों में मुख्य प्लेटो (Plato), सिसरो (Cicero), मार्सी-लिओ (Marsiglio), हाब्स (Hobes) और ब्लशली (Bluntschili) के नाम लिये जा सकते हैं। इन दार्शनिकों का कहना है कि मनुष्य का अपने समाज के प्रति वही सम्बन्ध होना चाहिए जो एक जीवित शरीर के भाग का सारे शरीर के प्रति होता है। जिस प्रकार शरीर का कोई भी भाग स्वयं जीवित नहीं रह सकता, उसका अपना अलग कोई अस्तित्व ही नहीं होता; ठीक उसी प्रकार मनुष्य भी समाज से अलग रहकर न जीवित ही रह सकता है और न अपने व्यक्तित्व का विकास ही कर सकता है। इसलिए मनुष्य को अपने व्यक्तिगत जीवन को समाज को ही अर्पण कर देना चाहिए। दूसरे शब्दों में मनुष्य को समाज की भलाई और समाज के वैभव के लिए ही जीना चाहिए, अपने लिए नहीं। यदि समाज पर किसी प्रकार की आपत्ति पड़े तो व्यक्ति का धर्म है कि वह सब-कुछ छोड़कर समाज की रक्षा में लग जाय। व्यक्ति की भलाई समाज की भलाई में निहित है। समाज के प्रति व्यक्ति के केवल कर्तव्य ही हैं, उसके विरुद्ध किसी प्रकार के अधिकार नहीं। व्यक्ति का धर्म है कि वह समाज की भलाई के लिए हर

प्रकार की कठिनाई का प्रसन्नता के साथ सामना करे। उसको केवल एक ही बात का ध्यान रखना चाहिए और वह यह कि उसके समाज की मान-प्रतिष्ठा संसार में निरन्तर बढ़ती रहे।

आंगिक सिद्धान्त की आलोचना—मनुष्य और समाज के सम्बन्ध के विषय में आंगिक सिद्धान्त के अनुयायी दार्शनिकों का मत सर्वथा भ्रमपूर्ण है। यह सत्य है कि समाज और मनुष्य-शरीर की बनावट में कुछ बातों में समानता है परन्तु यह विचार सर्वथा निर्मूल है कि इन दोनों के संगठन और विकास में किसी प्रकार का अन्तर नहीं। आंगिक सिद्धान्तवादी चित्र के केवल एक पहलू पर दृष्टि डालते हैं, दूसरे पर नहीं। वे समानता की बातों को तो देख लेते हैं परन्तु भिन्नता की नहीं। हरबर्ट स्पैंसर ने जो स्वयं एक आंगिक दार्शनिक था परन्तु जिसने इस सिद्धान्त की सहायता से घोर व्यक्तिवाद का प्रचार किया, इन असमानताओं की ओर ध्यान दिलाया है। उसने बताया कि मनुष्य और समाज-रचना में मुख्यतः दो अन्तर होते हैं: प्रथम यह कि मनुष्य-शरीर में चेतना का केवल एक केन्द्र होता है। उसी केन्द्र से सारा जीवन चलता है और उसका अन्त होने पर शरीर का भी अन्त हो जाता है। समाज में इसके विपरीत चेतना के उतने ही केन्द्र होते हैं जितने उस समाज में रहनेवाले व्यक्ति के। प्रत्येक व्यक्ति अलग सोचता है, अलग कार्य करता है और अलग ही उसका जन्म और अन्त भी होता है। व्यक्ति के मरने पर समाज का कार्य नहीं रुकता परन्तु शरीर से आत्मा निकल जाने पर उसके सारे अंग मिट्टी के ढेर के समान रह जाते हैं। दूसरी बात यह है कि शरीर के अलग-अलग भागों की न कोई स्वतंत्र इच्छा होती है, न कोई आवश्यकता। इसके विपरीत समाज का प्रत्येक सदस्य अलग सोचता है, कार्य करता है और अपनी आवश्यकताओं का अनुभव करता है। तीसरी बात यह है कि समाज और शरीर के विकास में भी विशेष भिन्नता है। मनुष्य का शरीर आन्तरिक गुणों के कारण फलता-फूलता है किन्तु समाज के उत्थान या पतन पर बाहरी वातावरण का अधिक प्रभाव पड़ता है। मनुष्य-शरीर नष्ट हो जाता है परन्तु समाज का कभी अन्त नहीं होता।

इन कारणों से आंगिक सिद्धान्त का जिस रूप में वर्णन किया जाता है, वह गलत है। इस सिद्धान्त से मनुष्य और समाज के सम्बन्ध के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता। फिर भी इस सिद्धान्त में बहुत बड़ा सत्य छिपा हुआ है। और वह यह है कि समाज मनुष्य की सेवा के लिए केवल निर्जीव यंत्र नहीं, उसका अपना भी मूल्य है जिसे हमें कभी भी अस्वीकार नहीं करना चाहिए।

समाज व्यक्ति के सर्वोच्च विकास का साधन है (Individual is the End and Society the Means)

अनुबंध सिद्धान्त (Social Contract Theory)—आंगिक सिद्धांत से बिलकुल उल्टा मत अनुबंध सिद्धान्तवादियों द्वारा व्यक्त किया जाता है। इस विचारधारा

के अनुसार समाज स्वाभाविक न होकर कृत्रिम है। समाज का जन्म मनुष्य की स्वेच्छा से हुआ है। सब मनुष्यों ने मिलकर कुछ समान उद्देश्यों की पूर्ति के लिए समाज का सगठन किया है। प्राकृतिक दशा में मनुष्य झगडालू प्रकृति का था। उसका प्रति दिन दूसरों से झगडा होता था। उसका जीवन सतप्त था। एक दिन सब मनुष्यों ने यह निश्चय किया कि वह आपसी झगडो को मिटाने के लिए एक समाज की रचना करें। इस समाज का काम ठीक प्रकार से चलाने के लिए उन्होंने कुछ सामाजिक नियम भी बनाये। सब लोगो ने यह निश्चय किया कि वे इन नियमों का पालन करेंगे। इस प्रकार एक समझौते के अधीन समाज का जन्म हुआ। समाज के लिए कुछ उद्देश्य निश्चित कर दिये गये। यदि समाज इन उद्देश्यों की पूर्ति नहीं करता और व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा में असमर्थ है, तो वह इसे जब चाहे तोड सकते हैं। समाज का केवल एक ही लक्ष्य है और वह है मनुष्य के सुख और आनन्द के लिए कार्य करना। जिस समय तक समाज इस उद्देश्य की पूर्ति करता है, उसकी आवश्यकता रहती है, परन्तु जब किन्ही भी कारणो से वह यह कार्य सम्पन्न नही कर सकता, तब मनुष्य समाज का अत कर सकता है।

अनुबंध सिद्धान्त की आलोचना—यह सिद्धान्त मानव स्वभाव की गलत धारणा पर आधारित है। यह मनुष्य को सामाजिक प्राणी नही मानता। वास्तव में मनुष्य जन्म लेने के पश्चात् समाज का निर्माण नही करता, वह तो समाज की गोद में ही जन्म लेता है। समाज के बिना उसका जीवन असभव है। इसलिए इस मत में व्यक्त यह धारणा कि समाज साधन है और व्यक्ति साध्य, गलत है। इस मत में केवल इतनी सचाई है कि यह समाज के मनुष्य के प्रति कर्तव्य पर भी जोर देता है।

समाज साध्य और साधन दोनो है (Society is both Means as well as End)

समाज और व्यक्ति के सम्बन्धों का सही सिद्धान्त यह है कि समाज साध्य (end) और साधन (means) दोनों है। व्यक्ति और समाज के हितों में कोई पारस्परिक विरोध नही है। वह एक-दूसरे के पूरक हैं। व्यक्ति का हित इस बात में है कि समाज की मान प्रतिष्ठा बढ़े, सब व्यक्ति समाज के नियमो का पालन करें, व्यक्तिगत हित को सामाजिक हित की अपेक्षा हेय मानें, समाज के उत्थान के लिए कार्य करे। समाज का हित इस बात में है कि वह व्यक्ति की अधिकाधिक उन्नति के लिए कार्य करे, उसकी भलाई की योजनाएँ बनाये, उसके विकास के मार्ग में आनेवाली बाधाओं को हटाये तथा उसके अधिकारों की रक्षा करे। यह दोनों उद्देश्य केवल उस समय पूरे हो सकते हैं जब व्यक्ति और समाज दोनों एक-दूसरे के लिए कार्य करें। समाज व्यक्ति के लिए कार्य करे और व्यक्ति समाज के लिए। दोनों अधिकारों की अपेक्षा अपने कर्तव्यों पर अधिक ध्यान दें। वे एक-दूसरे के लिए जियें, एक-दूसरे की महत्ता को समझें। व्यक्ति यह समझे कि उसके व्यक्तित्व का विकास समाज के बिना सम्भव नही। समाज के बिना न तो वह जीवित रह सकता है और न एक प्रगतिशील और सभ्यतापूर्ण जीवन

ही व्यतीत कर सकता है। समाज से ही हमें धन, विद्या, ऐश्वर्य, बुद्धि और ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसलिए ऐसे समाज के प्रति हमारा धर्म है कि हम उसकी सेवा और भलाई के लिए सब-कुछ न्यौछावर करने के लिए सदा तत्पर रहें। यहाँ समाज की सेवा से अर्थ ऐसी चीज की पूजा से नहीं जो मनुष्यों से भिन्न कोई ईश्वरीय वस्तु हो। समाज की सेवा का अर्थ है—मनुष्यमात्र की सेवा, अपने पड़ोसियों की सेवा, दीन-दुखियों की सेवा। दूसरे शब्दों में मनुष्य को केवल अपनी ही भलाई और अपने ही पेट के निर्वाह के लिए जीवित नहीं रहना चाहिए, वरन् मानव-समाज की भी सेवा करनी चाहिए। संसार में जितने भी संतप्त और दुखी प्राणी हैं, उनकी ही सेवा समाज की सेवा है। व्यक्ति और समाज में इस कारण किसी प्रकार का विरोध नहीं। व्यक्तियों के मेल से ही समाज की उत्पत्ति होती है और समाज की प्रगति और उसकी सभ्यता के विकास से मनुष्य की उन्नति होती है तथा मनुष्य की उन्नति से समाज का वैभव बढ़ता है। इसलिए आंगिक सिद्धांतवादी दार्शनिकों का यह समझना कि समाज ही सब कुछ है, व्यक्ति कुछ भी नहीं, या संविदा सिद्धान्त के पोषकों का यह कहना कि समाज कुछ नहीं, व्यक्ति ही सब कुछ है, दोनों गलत है। वास्तव में 'समाज मनुष्य के लिए और मनुष्य समाज के लिए' है। इन दोनों में कोई विरोध नहीं। समाज का कर्तव्य है कि वह मनुष्य की भलाई के लिए अधिक से अधिक उपयुक्त वातावरण को जन्म दे और मनुष्य का धर्म है कि वह समाज की सेवा-शुश्रूषा के लिए सदा तत्पर रहे। यही सिद्धान्त मनुष्य और समाज के सम्बन्ध के असली स्वरूप को व्यक्त करता है।

§ ३· समाज की उत्पत्ति

(Origin and Evolution of Society)

समाज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बहुत से सिद्धान्त हैं। उनमें से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ये हैं—(१) दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त, (२) समझौता सिद्धान्त, (३) भाव सिद्धान्त और (४) ऐतिहासिक विकासवादी सिद्धान्त।

दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त (Divine Origin Theory)

यह सिद्धान्त इस धारणा पर अवलंबित है कि संसार में एक ऐसी ईश्वरीय शक्ति है जो मनुष्यों के कर्मों का स्वयं नियन्त्रण करती है। इसी शक्ति ने मनुष्य, समाज और उसके विरोधी रूपों को जन्म दिया है। इसी शक्ति के द्वारा समाज का पालन-पोषण होता है। मनुष्य की सारी संस्थाएँ और संघ ईश्वरकृत हैं। उसे उन्हें बदलने या उनके स्थान पर नयी संस्थाओं को जन्म देने का कोई अधिकार नहीं।

आलोचना—वर्तमान युग में समाज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दैवी सिद्धांत एकदम अमान्य ठहराया गया है। यह सिद्धान्त अवैज्ञानिक, अनैतिहासिक तथा अविवेकशील है। यह मनुष्य की सारी संस्थाओं को ईश्वरकृत बताकर तथा उन्हें पवित्रता का

जामा पहनाकर परिवर्तन तथा विकास के क्षेत्र से दूर हटा देता है। यह सिद्धान्त एकदम प्रतिक्रियावादी है। यह मनुष्य को दैवी शक्ति के हाथ में एक खिलौना मात्र बनाकर, उसके बौद्धिक विकास को अवरुद्ध कर देता है। वर्तमान वैज्ञानिक प्रगति के युग में इस सिद्धान्त मे कोई भी विचारशील व्यक्ति विश्वास नही करता।

अनुबंध या सामाजिक समझौता सिद्धान्त (Social Contract Theory)

समाज की सृष्टि ईश्वरीय है, इस सिद्धान्त के विरोध में मध्यकालीन युग और योरोप के पुनर्जागरण (Renaissance) काल में एक नये सिद्धान्त की उत्पत्ति हुई जिसे "सामाजिक समझौते" का सिद्धान्त कहते है। यह सिद्धान्त संस्थाओं की पवित्रता के विरुद्ध पीडित मनुष्यों का विद्रोह था। इसने यह घोषित किया कि समाज की उत्पत्ति ईश्वर के द्वारा नही, वरन् मनुष्य के द्वारा हुई। इस सिद्धान्त के अनुसार ऐतिहासिक और सामाजिक युग से पहले मनुष्य अकेला एकान्त में रहता था। यह उसकी प्राकृतिक अवस्था थी। इस अवस्था में मनुष्य का अपने सहयोगियो के साथ कोई सम्बन्ध न था। कुछ समय के पश्चात् जनसंख्या की वृद्धि से जीवन-निर्वाह के साधन घट गये और इस कारण आपस में झगडे होने लगे। जीवन असहनीय हो गया। तब मनुष्य ने समाज को जन्म दिया।

आलोचना—'समझौता' सिद्धान्त के अनुसार समाज की उत्पत्ति मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होती है। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त मानव-इतिहास मे सामाजिक युग से पहले का भी एक युग मानता है। इस प्रकार की दोनों धारणाएँ *मनुष्य-स्वभाव और ऐतिहासिक सत्य के विरुद्ध हैं। मनुष्यशास्त्र, जन्तु-शास्त्र और* शरीर-विज्ञान से हमको ज्ञात होता है कि मनुष्य ने अपने पूर्वज पशुओं के समाज का गुण ग्रहण किया है। जानवरों मे भी समाज होता है। और समाज के बिना प्राय जीवन असम्भव है। इस कारण मनुष्य ने समाज की रचना नही की, समाज तो मनुष्य के स्वभाव में व्याप्त है। इसलिए सामाजिक समझौते का सिद्धान्त भी ईश्वरीय सिद्धान्त के समान सच्चाई की कसौटी पर पूरा नही उतरता।

भाव-सिद्धान्त (Instinct Theory)

समाज की उत्पत्ति का एक और सिद्धान्त भी बताया जाता है और वह यह कि समाज की उत्पत्ति मनुष्य की भावनाओं के कारण हुई है। इस सिद्धान्त में आंशिक सत्यता है। यह ठीक है कि समाज मनुष्य की भावनाओं पर अवलम्बित है परन्तु इसके साथ ही यह नही भूलना चाहिए कि भावनाओं के अतिरिक्त मनुष्य की आवश्यकताओं और मनुष्य की मानसिक और सांस्कृतिक उन्नति के लिए भी समाज आवश्यक हैं।

विकासवादी या ऐतिहासिक सिद्धान्त (Evolutionary Theory)

समाज का वास्तविक स्वरूप विकासवादी सिद्धान्त ही व्यक्त करता है। वास्तव में यह सिद्धान्त समाज की उत्पत्ति नही वरन् उसका विकास बताता है। इस सिद्धान्त के अनुसार समाज का जन्म किसी खास समय या किन्ही विशेष परिस्थितियों के

अन्दर नहीं हुआ। समाज तो सदा से ही मनुष्य के जीवन से सम्बन्धित है, इसका पता तो हमें मनुष्य के पूर्वजों में भी मिलता है। इतनी बात अवश्य है कि इतिहास के प्रारम्भिक काल में मनुष्य का रहन-सहन बहुत साधारण और सामाजिक जीवन बिल्कुल प्रारम्भिक था। धीरे-धीरे इस जीवन में उलझनें पड़ने लगीं यहाँ तक कि आजकल की जटिल संस्थाओं का जन्म हुआ। इसलिए हम सामाजिक जीवन के विकास पर विचार कर सकते हैं, उसकी उत्पत्ति पर नहीं। इस विकास की प्रगति का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है।

§ ४. समाज का विकास
(Evolution of Society)

समाज मानव संगठन का नाम है। मनुष्य के स्वभाव, बौद्धिक विकास और विचारों में ज्यों-ज्यों परिवर्तन हुआ, समाज पर भी उसका प्रभाव पड़ा। परन्तु यह परिवर्तन अथवा विकास संसार भर में एक क्रम से नहीं हुआ। भिन्न-भिन्न काल और स्थानों में मनुष्यों ने भिन्न-भिन्न प्रकार की संस्थाओं को जन्म दिया तथा समय की आवश्यकता के अनुसार उनमें निरन्तर परिवर्तन किया। जिन संस्थाओं तथा रीति-रिवाजों का कोई उपयोग नहीं रहा उन्हें छोड़ दिया गया तथा उनके स्थान पर नयी संस्थाओं व प्रथाओं को जन्म दिया गया। उदाहरणार्थ भारत में बहुत काल पहले सती-प्रथा प्रचलित थी तथा स्त्रियों को किसी प्रकार के अधिकार प्राप्त नहीं थे। आजकल इन प्राचीन प्रथाओं का अंत कर दिया गया है। उसी प्रकार अछूतपन की प्रथा को भी खत्म कर दिया गया है। नयी प्रथाओं में स्त्रियों को पुनर्विवाह का अधिकार, गोद लेने का अधिकार, पिता की संपत्ति में अधिकार इत्यादि का उदाहरण दिया जा सकता है।

संसार में आज भी विभिन्न देश सभ्यता की दौड़ में आगे और पीछे हैं। सब देशों में समान रूप से प्रगति नहीं हुई है। मोटे तौर पर हम सामाजिक विकास के इतिहास को चार भागों में बाँट सकते हैं। ये भाग हैं—आखेट अवस्था, चरवाहा अवस्था, कृषक अवस्था और औद्योगिक अवस्था।

आखेट अवस्था (Hunting Stage)—समाज की प्रारम्भिक अवस्था आखेट युग थी। इस युग में मनुष्यों का मुख्य काम शिकार करना या जंगली फल इकट्ठा करना था। लोग छोटे-छोटे समुदायों में एक-दूसरे से अलग रहते थे।

इस समय का सामाजिक संगठन बहुत साधारण था। लोगों के जीवन में संस्कृति, सभ्यता, कला, ज्ञान, धर्म आदि का कोई स्थान नहीं था। उनका सारा समय शिकार करने में ही व्यतीत हो जाता था। उनका गृहस्थ जीवन अव्यवस्थित था। एक समुदाय की सभी स्त्रियाँ उस समुदाय के पुरुषों की सम्मिलित पत्नियाँ हुआ करती थीं। इस युग के लोग भूत-प्रेतों में विश्वास करते थे। वे आपस में सदा लड़ते रहते थे और किसी सामाजिक नियम का पालन नहीं करते थे। यह मानव समाज का सबसे पिछड़ा हुआ युग था।

आखेट युग में मनुष्य लाखों वर्ष तक रहा। धीरे-धीरे उसमें इस बात का ज्ञान आया कि पशुओं को मारने के स्थान पर उन्हें पालना अधिक उत्तम है। इस ज्ञान के आने पर मानव ने एक नये युग में प्रवेश किया।

चरवाहा अवस्था (Pastoral Stage)—इस युग का नाम चरवाहा अवस्था पड़ा, कारण पशुओं को पालने के लिए मनुष्य को नये-नये तथा हरे-भरे चरागाहों की आवश्यकता पड़ी। मनुष्य पशुओं की रक्षा के लिए बड़े-बड़े समुदायों में रहने लगे। वे कभी एक स्थान पर तथा कभी दूसरे स्थान पर जाने लगे। इस युग में भी उनका जीवन अस्थिर था। परन्तु आखेट अवस्था की अपेक्षा इस युग के सामाजिक जीवन में बहुत से सुधार हुए। मनुष्यों का आपस में लड़ना-झगड़ना कम हो गया। उनके गृहस्थ-जीवन में भी सुधार हुआ तथा विवाह की प्रथा का जन्म हुआ। इस युग में धनी तथा सम्पन्न उन व्यक्तियों को माना जाता था जिनके पास अधिक पशु होते थे। वही आगे चलकर समाज के नेता बने तथा विभिन्न समुदायों के बीच झगड़ों का निपटारा करने लगे।

कृषक अवस्था (Agricultural Stage)—कृषि के आविष्कार से सामाजिक जीवन की तीसरी अवस्था आरम्भ हुई। इससे पहले मनुष्य को बहुत थोड़ी वस्तुओं की आवश्यकता थी, परन्तु कृषि के आरम्भ से उसकी आवश्यकताएँ बहुत बढ़ गयी। अब उसको रहने के लिए मकान और खेती के लिए हल आदि की आवश्यकता हुई। परिणामस्वरूप, श्रम और कार्य-विभाजन का सिद्धान्त प्रयोग में आया। खेती के लिए राज, बढ़ई और लुहार आदि की आवश्यकता होती है। वन-भ्रमण के युग में मनुष्य पशु-पालन के साथ-साथ स्वयं ही लड़ता था, परन्तु कृषि युग में कृषक लड़ने को नहीं जा सकता था। इसलिए योद्धाओं की एक अलग ही श्रेणी बन गयी। इस प्रकार समाज में जाति या श्रेणी-विभाजन हुआ और चार जातियों, पुरोहित, योद्धा, कृषक और कलाकारों की रचना हुई। खेतीबाड़ी के लिए आवश्यक है कि कृषक एक जगह रहकर काम करे। इस प्रकार कृषक एक स्थान पर रहनेवाला बन गया और उसका घूमना-फिरना बन्द हो गया। इस समय, एक ही रक्त के स्थान पर निकटवर्तिता मनुष्यों को परस्पर बाँधनेवाली ग्रंथि बन गयी। एक ही स्थान पर रहना, न कि एक ही रक्त का होना इस समय पारस्परिक सम्बन्ध दृढ़ करता था। अब बाहरवाले लोग भी गाँव में आकर बसने लगे और उनको हस्तकला का काम करने की अनुमति मिल गयी। परन्तु वे ग्राम के अधिकार और सुविधाएँ नहीं पा सकते थे। ये लोग गाँव में विदेशी समझे जाते थे। वे गाँव में रह सकते थे परन्तु वहाँ के अधिकार प्राप्त नहीं कर सकते थे। समाज में जाति-विभाजन के कारण शासक और शासित में अन्तर हो गया। इस प्रकार मनुष्य का मनुष्य के द्वारा शोषण आरम्भ हुआ। राजा और धनियों ने कृषक और उद्योग-धन्धे करनेवालों का शोषण आरम्भ किया। यद्यपि रीति और परिपाटी अभी भी थी किंतु बाहर से आये हुए विजातीय लोगों के लिए नयी रीतियाँ बनायी गयी।

कृषक अवस्था में साम्राज्यों का विस्तार—मनुष्य के भूमि पर निश्चित रूप से

रहने के नियम बन जाने के बाद समाज की वृद्धि भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार से हुई। साधारणतः सामाजिक जीवन का विस्तार इन दोनों विधियों से हुआ, या तो ग्रामों से बढ़कर बड़े-बड़े साम्राज्य बने या व्यापार करनेवाले नगर बसे।

ग्राम-साम्राज्य–जिन देशों की भूमि उपजाऊ थी और खेती के लिए सिंचाई के साधन प्राप्य थे, जैसे मिश्र में नील नदी, मेसोपोटेमिया में दजला और फरात, और भारत में गंगा-यमुना, उन देशों में नदियों की घाटियों में बहुत छोटे-छोटे गांव बस गये और ये गाँव स्वेच्छा से या बलपूर्वक एक साम्राज्य के अन्दर लाये गये। साम्राज्य के ऊपर राजा का शासन होता था जो किसी केन्द्रीय नगर में रहता था। नगरों की स्थापना ग्रामों की खेती से उत्पन्न वस्तु अन्न आदि बेचने के लिए हुई। आज भी बाजार नगरों के मुख्य भाग हैं। पवित्र स्थानों और युद्ध के लिए उपयुक्त स्थानों पर भी नगर बस गये। इस प्रकार के नगरों के तीन उपयोग हुए: व्यापार, सैनिक संगठन और धार्मिक पूजा।

इन साम्राज्यों पर राजाओं का शासन होता था जो झगड़ों के निपटारे के लिये न्यायालय रखते थे। राजाओं की सहायता गाँव में रहनेवाली भद्र मंडली करती थी। इन योद्धाओं और जमींदारों (Feudal Lord)की आय गाँव से होती थी जो उनकी लड़ाई और शांति युग की सेवाओं का पुरस्कार था। इसके बाद राजाओं को पुरोहितों से सहायता मिलती थी, यह दूसरी सुविधा-प्राप्त श्रेणी थी और इनको भी भूमि पर श्रम करनेवाले लोगों से आमदनी होती थी। कृषि-प्रधान समाज में भी परिपाटी और रीति प्रचलित थी। राजा, पुरोहित और धनिक इन रीति-प्रथाओं के अधीन रहकर शासन कर सकते थे।

इन साम्राज्यों में विदेशियों के कोई अधिकार नहीं थे। उनकी कोई रीति-प्रथा न होने के कारण उनको वही अधिकार प्राप्त हो सकते थे जिनकी राजा अनुमति देता था। कृषि-साम्राज्य अधिक सामाजिक उन्नति नहीं कर सके, क्योंकि रूढ़ि-आरूढ़ और अत्याचारपूर्ण थे। इन राज्यों में विभिन्न संस्कृतियाँ और सभ्यताएँ नहीं मिल सकती थीं। इस कारण ये विदेशियों द्वारा शीघ्र ही नष्ट कर दिये गये।

यूनान के नगर-राज्य—(१) समाज के विस्तार में दूसरा स्थान नगर-राज्यों का है, विशेषकर यूनान के नगर-राज्यों का। इन नगर-राज्यों की वृद्धि में भूगोल ने बड़ी सहायता की। इस युग में मिश्र आदि देशों में उन्नतिशील सभ्यताएँ थीं। यूनान के नगरों में व्यापारिक जीवन की वृद्धि हुई जिसके कारण वहाँ के निवासियों ने बहुत धन संचय कर अवकाश का जीवन बिताया। अवकाश के कारण वहाँ के लोगों ने संस्कृति की वृद्धि में अपना समय लगाया। इसी कारण वहाँ का उस समय का जीवन उच्च कोटि के विद्याध्ययन और ज्ञान-प्राप्ति में बीतता था। वहाँ के जीवन की निम्नलिखित विशेषताएँ थीं।(१)वह नागरिकों तक ही परिमित था।(२)पहले तो नानाशाही राज्य थे, परन्तु बाद में राजाओं ने क्रमशः प्रजातंत्र राज्य स्थापित किये। (३) रीति-प्रथा से हटकर सार्वजनिक सभाओं द्वारा कानून बनाये गये। (४) नगर के साथ अधि-

भारों की स्थिति थी। विदेशियों को कोई अधिकार प्राप्त न थे। (५) वहाँ के लोगों का प्रगतिशील, आर्थिक, सांस्कृतिक और कलापूर्ण जीवन था। (६) इन नगरों में पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं थी क्योंकि दासों और मेहनत-मजदूरी करने वालों के कोई अधिकार न थे।

इन नगरों ने प्रारम्भिक काल में बड़ी उन्नति की। इस समय मनुष्य ने अपने आप संस्थाएँ बनानी आरम्भ की। इस प्रकार समाज का विस्तार, पूर्वकाल के समान अनभिज्ञता में नहीं, परन्तु ज्ञानपूर्वक होने लगा।

यूनान के लोगों ने एकता का पाठ नहीं पढ़ा और न कानून का उपयोग सीखा। इसलिए वह रोम के विजेताओं से पराजित हो गये।

रोम के नगर राज्य—रोम में भी यूनान के समान नगर-राज्य थे। इन लोगों ने समाज के विकास में स्वतन्त्रता के स्थान पर कानून और शान्ति पर अधिक जोर दिया। शनैः-शनैः रोम के लोगों ने एक बड़ा साम्राज्य स्थापित कर लिया। इनके समाज की विशेषता यह थी कि इनके ऊपर एक सम्राट् कई सभाओं की राय से राज्य करता था और बड़ी-बड़ी सेवाओं की सहायता लेता था। उस समय साम्राज्य के सब निवासी नागरिक कहलाते थे और रोम का कानून सारे साम्राज्य में प्रचलित था। विदेशियों को कोई भी राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। इसी प्रकार दासों और आश्रितों को भी कोई अधिकार प्राप्त नहीं थे।

इस साम्राज्य का नाश जर्मनी के आक्रमण से हुआ। जर्मनी के लोग अधिक सभ्य न थे। परन्तु उनके राजा सारे सम्प्रदाय की साधारण सभा की राय से राज्य करते थे। इस सभा की अनुमति से ही वे राजा बनते थे। इस प्रकार जर्मनी के लोगों ने स्वायत्त शासन का सिद्धान्त स्थापित किया।

ईसाई धर्म का प्रभाव—रोमन साम्राज्य के नष्ट हो जाने पर यूरोप के समाज को एक सूत्र में बाँधनेवाली, धर्म के अतिरिक्त कोई शक्ति न रही। इस प्रकार मध्यवर्ती युग में समाज ईसाई धर्म के साथ-साथ स्थिर रहा। ईसाई धर्म के माननेवालों को ही अधिकार प्राप्त थे।

सामन्त-शाही—इस समय समाज छोटे-छोटे समूहों में संगठित था जिसके ऊपर सामन्त या जमींदार राज्य करता था। ऐसे बहुत से सामन्तों के ऊपर एक राजा होता था जो स्वयं भी सामन्त होता था और युद्ध के समय सामन्तों का नेता बनता था। समाज में सुविधा-प्राप्त और सुविधा-वंचित इस प्रकार दो श्रेणियाँ थीं। पहली श्रेणी में पुरोहित और धनिक थे जिनको राजनीतिक और नागरिक अधिकार तथा बहुत-सी दूसरी सुविधाएँ प्राप्त थीं। इन सुविधाओं से वंचित श्रेणी के लोग व्यापारी, मेहनत करके पेट पालनेवाले मजदूर और कृषक थे जिनको केवल नागरिक अधिकार प्राप्त थे। व्यापारिक, राजनीतिक, धार्मिक धारणाओं से शनैः-शनैः समाज में पूर्ण क्रान्ति हो गई। जमींदारों और धनिकों के हाथ से शक्ति व्यापारियों और कृषकों के हाथ में आ गई। ये श्रेणियाँ धन और सैनिक शक्ति के आधार पर जमींदार के समुदाय को नष्ट करने लगी।

यूरोप के पुनर्जन्म का काल—यूरोप के पुनर्जन्म के समय में धनिक समुदाय का नाश हुआ और समाज का मुख्य आधार राजा पर अवलम्बित हो गया। इस युग में राजा सर्वशक्तिशाली हुआ। राजा और प्रजा के हितों के एकीकरण से समाज में एकता उत्पन्न हुई। इस युग में संस्कृति यूरोप के पुरोहितों या पंडितों तक ही सीमित थी। इसी समय अमेरिका और भारत के सामुद्रिक मार्गों का पता लगा जिससे यूरोप के विभिन्न देशों के व्यापारियों का व्यापार बढ़ा और इसके साथ-साथ धन में वृद्धि तथा नये व्यापारिक नगरों की स्थापना हुई। व्यापारियों ने सामाजिक उन्नति के कार्य में भाग लिया। राजा ने स्थानीय और विदेशी विद्वानों को आश्रय दिया। प्रत्येक राज्य-सभा अपनी विशेष संस्कृति और सभ्यता का केन्द्र बन गई। लैटिन भाषा से स्थानीय भाषाओं की उत्पत्ति हुई।

राष्ट्रों की उत्पत्ति—इस प्रकार विशेष संगठित समुदाय उत्पन्न हुए। प्रत्येक राष्ट्र में एक पृथक राजा, एक भाषा, एक धर्म और समान आर्थिक हित हो गये। ऐसे ही समूह या समुदाय को राष्ट्र कहने लगे।

औद्योगिक और व्यावसायिक काल—शनैः-शनैः इस युग में यंत्रों के आविष्कार हुए। इंगलैंड और दूसरे देशों में लोहे की मशीन, करघे, भाप से चलनेवाले इंजिन, पानी के जहाज इत्यादि चीजों का आविष्कार हुआ। इन चीजों के आविष्कार से भोजन-सामग्री बढ़ी और साथ ही दुनिया के व्यापार में वृद्धि हुई। व्यापार की वृद्धि के कारण यातायात के साधन, तार, टेलीफोन, रेडियो, वायरलैस, हवाईजहाज, बैंक, बीमा कंपनियाँ आदि अनेक सुविधाओं और संस्थाओं की आवश्यकता पड़ी। समाज का संगठन बहुत पेचीदा बन गया। समाज के आर्थिक हितों के आधार पर अनेक संस्थाओं का जन्म हुआ। धनिक और निर्धनों का संघर्ष बढ़ने लगा।

औद्योगिक क्रान्ति के कारण—बने हुए माल को बेचने के लिए बाजारों की खोज हुई। इससे बड़े-बड़े औद्योगिक राष्ट्रों का संघर्ष हुआ। सन् १९१४ और १९३९ के महान् युद्ध इसी संघर्ष के उदाहरण थे। इन युद्धों में बहुत-सी पुरानी संस्थाएँ नष्ट हो गई। पहले महायुद्ध के बाद यूरोप में विशेषकर जर्मनी और इटली में उत्कट राष्ट्रीयता (Nazism and Fascism) का जन्म हुआ, और इसी के कारण पिछला महायुद्ध छिड़ा। इस महायुद्ध में इन पाशविक शक्तियों का अन्त हुआ परन्तु संसार में आर्थिक संकट बढ़ गया। देश में प्रत्येक चीजों की कीमतें बढ़ गई और भूख तथा महामारी के कारण लाखों मनुष्य मृत्यु के ग्रास बन गये। नये आर्थिक वातावरण में रूस की साम्यवादी सरकार को यूरोप के भूखे और लड़ाई से पीड़ित देशों पर अपना आधिपत्य जमाने का अच्छा अवसर मिला। परन्तु इससे अमेरिका, इंगलैण्ड और रूस का आपसी भेद-भाव अधिक तीव्र हो गया।

आज भी इन दो महान् शक्तियों के बीच संघर्ष हो रहा है और पता नहीं कब तीसरा महायुद्ध संसार में छिड़ जाय। समाज के संगठन की उस समय क्या कायापलट होगी इसका अभी से अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

सामाजिक विकास की कुछ मुख्य विशेषताएँ

पिछले पृष्ठों में जिस सामाजिक विकास का विश्लेषण किया गया है उसके प्रधान लक्षण इस प्रकार है —

विस्तार—सामाजिक जीवन एक बहुत छोटे रूप से आज सारे संसार में फैल गया है। पहले मनुष्य एक आखेटक के रूप में अपने छोटे से दल में रहता था। आज वह संसार की जाति का सदस्य है।

स्वभाव—प्रारम्भिक समाज अनियमित और असंगठित था। आज मनुष्य अनेक संस्थाओं का सदस्य है। *उसके सामाजिक जीवन का क्षेत्र बहुत विशाल और संगठित हो* गया है। इस प्रकार प्रारम्भिक, असंगठित और सादे जीवन के विपरीत, आज का समाज संगठित, जटिल और मिश्रित है।

गति—प्रारम्भिक मनुष्य बहुत धीरे-धीरे चल-फिर सकता था। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के बहुत कम और कठिन साधन थे। परन्तु आज तो मनुष्य सारे संसार में सुविधा से आ-जा सकता है। इस प्रकार आज सामाजिक जीवन अन्तर्राष्ट्रीय और सार्वभौमिक बन गया है। प्रारम्भ में मनुष्य अपने ग्राम में ही रह सकता था और बाहर के लोगों से उसका कोई सम्बन्ध न था। आज मनुष्य विश्व-समाज का एक सभ्य नागरिक है।

आर्थिक जीवन—आधुनिक युग के उद्योग-धंधों में भी एक भारी क्रान्ति हो गई है। आज मनुष्य को जीवन-निर्वाह के लिए प्रकृति से नहीं लड़ना पड़ता और न दिन भर काम ही करना पड़ता है। प्राचीन काल की सभ्यता मानवीय और पाशविक दासता पर अवलम्बित थी। दिन भर काम में जुटे रहने के कारण मनुष्य के पास स्वाध्याय आदि के लिए अवकाश नहीं बचता था। आज यन्त्र ने मनुष्य और पशु का स्थान ले लिया है; इस कारण आज यह सम्भव है कि मनुष्य के द्वारा मनुष्य का शोषण रोका जा सके और समाज का संगठन समता और न्याय के सिद्धान्तों पर किया जा सके।

स्वतंत्रता—पूर्व काल में व्यक्ति अपने समूह से सब प्रकार से बाधित था, आज वह उस दासता से स्वतन्त्र होता जा रहा है। आज मनुष्य संसार में भ्रमण करने के लिए स्वतन्त्र है और कानूनों के द्वारा अपनी रक्षा कर सकता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि मनुष्य को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई है। आज भी मनुष्य पर अनेक अन्याय होते है और अनेक प्रतिबन्ध लगे है। परन्तु फिर भी *मनुष्य की स्वतन्त्रता की सीमा पहले से बढ़ गई है।*

सम्बन्ध का कारण—पूर्व काल में मनुष्य के सम्बन्ध और सहयोग भोजन या निकट रक्त या विशेष स्थान पर स्थित रहने आदि के कारणों पर अवलम्बित थे। मनुष्य का मनुष्य के नाते कोई सम्बन्ध नहीं था। आज समाज अर्थात् सहयोग की भावना के कारण मनुष्य-मनुष्य से मिलता-जुलता है और उसके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करता है।

सामाजिक सत्ता—आज समाज की सत्ता कानून है, परिपाटी नहीं। पूर्वकालीन समाज को एक सूत्र में बाँधने वाली कड़ी ईश्वर का भय था, परन्तु आज का समाज व्यक्तियों की स्वेच्छा तथा सहयोग पर आधारित है।

स्त्रियों की स्थिति—प्रारम्भिक समाज में पुरुष ने स्त्री को सब प्रकार अधीन कर रक्खा था। पुरुष अधिक शक्तिशाली होने के कारण स्त्रियों से अपने लिए श्रम करवाता था। परन्तु आज स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध समता, न्याय और सहयोग पर अवलम्बित है।

आधुनिक सामाजिक जीवन में पूर्वकाल से जो महान् अन्तर हो गये हैं उनकी गणना संक्षेप में ऊपर की जा चुकी है। आज अच्छे सामाजिक जीवन के नियमों को जानने के कारण हम जीवन को सुखी और उन्नत बनाने की राह पर हैं।

५. वर्तमान समाज का संगठन

(*Organisation of Society*)

वर्तमान समाज का स्वरूप बहुत जटिल है। इसमें कितने ही प्रकार के संगठन हैं जो विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न ढंगों से कार्य करते हैं। इन संगठनों की गहराइयों पर विचार करने से पहले हमें कुछ शब्दों की परिभाषाएँ समझ लेनी चाहिए। इन शब्दों का प्रयोग समाज के संगठन का वर्णन करने में किया जायगा :—

संघ या संवास (Association)

संघ उन समुदायों को कहा जाता है जो बहुत से मनुष्य मिलकर किसी समान उद्देश्य की पूर्ति के लिए संगठित करते हैं। संघों में तीन तत्त्वों का होना नितान्त आवश्यक है : (१) बहुत से मनुष्यों की सदस्यता, (२) एक केन्द्रीय अनुशासनपूर्ण संगठन तथा (३) एक समान आदर्श। इन तीन अंगों के बिना कोई भी समुदाय संघ नहीं कहा जा सकता।

सर्वप्रथम संघ केवल कुछ मनुष्यों का संगठन ही हो सकता है। हम वृक्षों या पत्थरों के समूह को संघ नहीं कह सकते। संघ के लिए दूसरी मुख्य आवश्यकता एक केन्द्रीय अनुशासन भी है। जिस संस्था में किसी प्रकार का अनुशासन नहीं, जिसके सदस्य किसी विधान के अनुसार कार्य नहीं करते, वह संस्था संघ नहीं कहलाई जा सकती। तमाशा देखने के लिए सड़क पर खड़ी भीड़ को हम संघ नहीं कह सकते, क्योंकि उसमें किसी प्रकार का अनुशासन नहीं होता। संघ के लिए दूसरी मुख्य आवश्यकता संघ के सारे सदस्यों का एक ही उद्देश्य में विश्वास करना है। रेलगाड़ी में बैठे हुए मनुष्यों के किसी समूह को भी हम संघ नहीं कह सकते क्योंकि उनका कोई एक उद्देश्य नहीं होता। कोई मनुष्य एक जगह जाना चाहता है तो दूसरा कहीं और इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्यों के किसी समुदाय को संघ कहने के लिए अनुशासन और आदर्श का एकीकरण आवश्यक है।

बहुत से मनुष्य संघ और समाज में भेद नहीं करते और ऐसी संस्थाओं को, जिन्हें वास्तव में उन्हें संघ के नाम से पुकारना चाहिए, समाज का नाम दे देते है जैसे वाद-विवाद समाज (Debating Society), साहित्यिक समाज (Literary Society) इत्यादि। ऐसी संस्थाओं को समाज का नाम देना उचित नहीं। कहने को चाहे हम उन्हें समाज कह दें, पर वास्तव मे वे संघ ही होते है।

संघ और समाज में अन्तर (Difference between Associations and Society)—हम संघ और समाज में भेद इस प्रकार कर सकते हैं —

(१) संघ समाज का एक अंग मात्र होता है, समाज के अन्दर हजारों संघ हो सकते है।

(२) समाज के अन्दर भिन्न-भिन्न आचार-विचार तथा उद्देश्यों के मनुष्य रह सकते है, संघ में केवल एक ही विचार के मनुष्य रहते है।

(३) समाज में रहना मनुष्य की इच्छा पर निर्भर नहीं, समाज मनुष्य के स्वभाव में व्याप्त है। परन्तु किसी संघ का सदस्य होना मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर है।

जाति-समुदाय (Community)

अंग्रेजी के कम्युनिटी शब्द का हिन्दी अनुवाद कई प्रकार से किया गया है। कुछ लेखक इसे 'जाति' कह कर पुकारते है, कुछ लोग समाज अथवा समुदाय और कुछ इसे सम्प्रदाय का नाम देते है। वास्तव में कम्युनिटी शब्द का अर्थ है 'समान भावना'। जब बहुत से मनुष्य किसी एक स्थान अथवा देश मे रहने या किसी एक ही व्यवसाय को करने से रीति-रिवाज, जनश्रुतियाँ अथवा जीवन के प्रति एक से ही आदर्श निर्मित कर लेते है तो वह एक ही जाति या लोक समाज के सदस्य कहलाने लगते है। मैकाइवर के कथनानुसार जाति मनुष्यों के किसी समूचे भाग, जैसे गाँव, नगर या देश को कहते है। जाति की उत्पत्ति के लिए जीवन की मौलिक अवस्थाओं में बहुत से मनुष्यों का एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध वाञ्छनीय है। इस प्रकार का सम्बन्ध बनने से ग्राम जाति, नगर जाति, राष्ट्र जाति, वैश्य जाति, ब्राह्मण जाति, हिन्दू जाति का निर्माण हो जाता है।

आजकल जातियाँ कुछ संकुचित रूप छोड़कर विशाल रूप धारण करती चली जा रही है। उदाहरणार्थ ग्राम जातियाँ, राष्ट्र जातियों में परिवर्तित हो गयी है, धार्मिक जातियों का महत्त्व नष्ट हो गया है और संसार के सभी मनुष्य यह अनुभव करने लगे है कि उनको आपस में संगठित करनेवाली शक्ति का नाम मानवता है। संसार के सभी व्यक्तियों की भावनाओं में मौलिक समानता है, ऊपरी असमानताएँ तथा भेद-भाव अस्थायी है। सारा संसार एक विश्व जाति समुदाय (World Community) के आदर्श की ओर बढ रहा है।

जाति और समाज में अन्तर (Difference Between Community and

Society)—जाति की उपरोक्त परिभाषा से विदित हो गया होगा कि वह समाज से किस प्रकार भिन्न है? फिर भी हम इन दोनों समुदायों के मुख्य अन्तर का वर्णन इस प्रकार कर सकते हैं:—

(१) समाज मनुष्यों के एक वृहद् संगठन को कहा जाता है, जाति-समाज की अपेक्षा एक छोटा संगठन है।

(२) समाज रूपी संगठन में मनुष्यों को बाँधनेवाली सचित सामाजिक भावना होती है, आदर्शों की समानता नहीं। जातियों के संगठन के लिए कुछ अधिक कड़े अनुबन्धों की आवश्यकता पड़ती है, इसलिए एक ही जाति के सदस्य समान रीति-रिवाज, रहन-सहन, खान-पान, उत्सव-त्योहार इत्यादि प्रथाओं में विश्वास रखते हैं।

(३) एक समाज में बहुत-सी जातियाँ रह सकती हैं। समाज एक उस विशाल वट वृक्ष की भाँति है जिसके नीचे विभिन्न जातियाँ, संघ, समुदाय उसी प्रकार आश्रय पाते हैं जैसे थके हुए बहुत से राहियों के गुट उसकी छाया में बैठकर आनन्द का अनुभव करते हैं

संस्थाएँ या संस्थान (Institutions)

एल० टी० हावहाउस संस्थाओं की परिभाषा इस प्रकार करता है कि 'संस्था एक स्वीकृत रीति अथवा आचरण है जो सामाजिक जीवन के यन्त्र का एक भाग है।' इसी प्रकार मैकाइवर कहता है कि संस्थाएँ मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को एक व्यवस्थित रूप देने के साधन हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि संस्थाएँ वह कानून तथा रीति-रिवाज हैं जो कि समाज, जाति तथा संघों में मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार पर नियंत्रण रखती हैं। संस्थाओं के उदाहरण में हम ऐसे रीति-रिवाज तथा रूढ़ियों का नाम ले सकते हैं, जैसे विवाह-पद्धति, संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली, जाति-प्रथा, दंड-व्यवस्था, अस्पृश्यता इत्यादि। अधिकतर संस्थाओं का जन्म सामाजिक और धार्मिक रीति-रिवाजों द्वारा ही होता है। राज्य की ओर से भी संस्थाएँ बनाई जा सकती हैं जैसे कानून या विधि की संस्था, नागरिकता, दंड-व्यवस्था इत्यादि।

संस्थाओं का मुख्य कार्य समाज का नियंत्रण करना है, दूसरे शब्दों में वह उन सम्बन्धों का विवेचन करती हैं जो समाज के अंग अर्थात् संघों और जातियों का एक-दूसरे के साथ होता है।

उपरोक्त सामाजिक संगठनों के प्रत्येक अंग का वर्णन अगले अध्यायों में विस्तृत रूप से किया जायगा।

योग्यता-प्रश्न

१. 'सहयोग जीवन का मुख्य आधार है'। आलोचना कीजिए। (यू० पी०, १९२८)

२. 'व्यक्ति सामाजिक जीवन का अंतिम उद्देश्य है, समाज नहीं', प्रोफेसर मैक्टेगर्ट के इस कथन की व्याख्या कीजिए। (यू० पी०, १९३०)

३. समाज की उत्पत्ति के नियम में विविध सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए और उनकी आलोचना कीजिए। (यू० पी०, १९३२)

४. 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है', इस कथन की व्याख्या कीजिए। (यू० पी०, १९३६)

५. 'समाज' शब्द से आप क्या समझते हैं? संघ, जाति और संस्था से इसमें क्या भिन्नता है? (यू० पी०, १९३२)।

६. 'स्वभाव और आवश्यकता से मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है', उदाहरण देते हुए इस कथन की स्पष्ट व्याख्या कीजिए। (यू० पी०, १९४०, राजस्थान, १९५५)

७. समाज के स्वरूप की व्याख्या कीजिये और बताइये कि यह सभ्यता के लिए क्यों आवश्यक है?

८. समाज के स्वरूप के विषय में भिन्न-भिन्न सिद्धान्त कौन हैं? आपकी सम्मति में व्यक्ति और समाज का वास्तविक सम्बन्ध क्या है? (पंजाब १९५७)

९. 'क्या समाज एक उद्देश्य अथवा एक साधन अथवा दोनों है', इस कथन पर विचार कीजिए।

१०. उन भिन्न-भिन्न दशाओं का वर्णन कीजिए जिनमें समाज का विकास हुआ है।

११. सामाजिक संस्थाओं के आप क्या और कैसे भेद करेंगे? उदाहरण दीजिए। (यू० पी०, १९५०, पंजाब १९५०)

१२. "मानव जाति के संगठन तथा विस्तार के लिए समाज अति आवश्यक है। यदि मनुष्य मिलकर नहीं रहेंगे तो उनका अस्तित्व ही मिट जायगा।" इस कथन की सत्यता सिद्ध कीजिए। (यू० पी०, १९५६)

१३. "मनुष्य समाज की ही उपज है।" क्या आप इस कथन से सहमत हैं, क्यों? मनुष्य और समाज में क्या सम्बन्ध है? स्पष्ट कीजिए। (यू० पी०, १९५७)

अध्याय ३

व्यक्ति और उसके संघ

(Individual And His Associations)

वर्तमान समाज की सबसे उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उसमें कितने ही प्रकार के संघ हैं। यदि हम अपने आसपास के सामाजिक जीवन पर दृष्टि डालें तो हमें कितने ही संघ दिखलाई पड़ेंगे। इन संघों का निर्माण मनुष्य अपनी प्रतिदिन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए करते हैं। मनुष्य समाज में अकेला रहकर कुछ भी नहीं कर सकता, उसे अपनी प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति के लिए दूसरों के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। बहुत से मनुष्य जब एक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किसी नियंत्रण में बँध कर एक साथ काम करते हैं तो वे उस संघ के सदस्य कहलाते हैं। संघों के कितने ही प्रकार होते हैं। यदि कुछ संघ धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बनाये जाते हैं तो दूसरे मनुष्य की सांस्कृतिक और मानसिक उन्नति के लिए। यदि कुछ संघ मनुष्य की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बनाये जाते हैं तो कुछ और उसकी शारीरिक उन्नति के लिए। यदि कुछ संघों का जन्म मनुष्य के मनोरंजन के लिए होता है तो कुछ दूसरों का उनकी राजनीतिक प्रवृत्ति की संतुष्टि के लिए। संघों का आकार और विस्तार भी इस प्रकार अलग-अलग होता है। कुछ संघ स्थायी हैं तो दूसरे अस्थायी हैं। कुछ संघों का संगठन सादा होता है तो दूसरों का अत्यन्त जटिल। कुछ संघों का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित होता है तो दूसरों का संसारव्यापी।

संघों की आवश्यकता (Necessity of Associations)

प्रश्न उठता है कि मनुष्य के लिए संघों का सदस्य होना क्यों आवश्यक है? इस प्रश्न के उत्तर में अनेक कारण दिये जाते हैं। इनमें से कुछ कारण तो ऐसे हैं जो सभी संघों पर समान रूप से लागू होते हैं और कुछ ऐसे जो केवल विशेष प्रकार के संघों पर ही लागू होते हैं।

(१) **संघों के द्वारा व्यक्तित्व की उन्नति होती है**—किसी व्यक्ति के संघ का सदस्य होने का सर्वप्रथम कारण यह है कि मनुष्य एक समाजिक प्राणी है। उसका जन्म संसार में इसलिए होता है कि वह अपने व्यक्तित्व का अधिक से अधिक विकास कर सके। यह सब उसी दशा में सम्भव है जब व्यक्ति विभिन्न संस्थाओं का सदस्य हो। प्रत्येक संगठन का अपना अलग उद्देश्य होता है। किसी एक संगठन के सदस्य बनने से मनुष्य हर प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता। इसलिए हमारे सामाजिक जीवन में कई प्रकार के संगठनों की आवश्यकता पड़ती है। सामाजिक

जीवन में जितनी ही अधिक सस्थाएँ होगी, मनुष्य का सामाजिक जीवन उतना ही अधिक सम्पन्न हो सकेगा ।

(२) सघो के द्वारा अधिक से अधिक सफलता प्राप्त हो सकती है—सगठन के द्वारा उसके सदस्यों को अधिक सफलता मिलने की सभावना रहती है। यदि व्यक्ति सघ के सदस्य न रहकर स्वतन्त्र रूप से काम करे तो उनकी बहुत-सी शक्ति व्यर्थ के प्रयत्न में नष्ट हो जाती है। सगठन को इसीलिए शक्ति की सज्ञा दी गई है। अँग्रेजी में एक कहावत है, "Unity is strength, division is Weakness" इस कहावत का भी यही अर्थ है कि मनुष्य सगठित होकर अपनी मनोवाछित इच्छा आसानी से प्राप्त कर सकते है। सगठन जितना अच्छा तथा सुदृढ होगा, सफलता मिलने में उतनी ही आसानी होगी। इसीलिए पुलिस तथा सेना के सगठन को अनुशासन की दृष्टि से आदर्श सगठन माना जाता है।

सगठन का सबसे बडा लाभ श्रम-विभाजन के सिद्धान्त में मिलता है। हिंदुओं का जाति-विभाजन इसी आधार पर अवलम्बित है। कारखानों में एक ही कार्य के कई हिस्से करके उन्हें विभिन्न लोगों मे बाँट दिया जाता है जिससे कम से कम समय मे अधिक से अधिक काम हो सके।

(३) संघों से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होता है—मनुष्य सस्थाओं के सदस्य इसलिए भी बनते हैं कि वे एक दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर सकें। साधारणतया मनुष्यों की आपस में उस समय तक कोई घनिष्ठता या मित्रता नही होती जब तक वह अपने साथियों के साथ किसी विशेष उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मिल कर नित्यप्रति काम न करें। सघ के सदस्यों को इस प्रकार कार्य करने का अवसर मिलता है और फलस्वरूप वह एक दूसरे के घनिष्ठ मित्र बन जाते है।

(४) संघो के द्वारा मनुष्य सामाजिक विषयों पर सम्मति निश्चित कर सकते है—मनुष्य सघो के सदस्य इसलिए भी बनते है कि वे सामाजिक विषयों पर विचार-विनिमय कर सकें। विचारों के इस आदान-प्रदान से ही सत्य की खोज होती है और हम सही राह पर आगे बढ सकते है। दूसरे शब्दों में सघो की सदस्यता के कारण ही हमारी मानसिक उन्नति होती है।

(५) सघो से सदस्यों के अधिकारों की रक्षा होती है—अन्त मे सघ अपने सदस्यों के सामाजिक, राजनैतिक तथा मौलिक अधिकारों की रक्षा करते है। आधुनिक युग में मनुष्य सगठन के बिना अपने आपको बिलकुल असहाय पाता है। वह अकेला अपने अधिकारों की रक्षा नही कर सकता। सगठन उसे शक्ति का भाव प्रदान करता है और अकारण होनेवाले आक्रमणों से उसकी रक्षा करता है। उदाहरण के लिए एक मजदूर उस समय तक मिल-मालिकों से अपना वेतन नही बढवा सकता जब तक वह अपने साथियों के साथ किसी सुसगठित सस्था का सदस्य न हो। इसी प्रकार ताँगेवाला पुलिस कान्स्टेबल के जुल्म से उस समय तक अपनी रक्षा नही कर सकता जब तक वह अपने साथियों से मिलकर अपना कोई यूनियन नही बना ले।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक काल में संघ मनुष्य की रक्षा और उसकी उन्नति दोनों के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

संघों का वर्गीकरण (Classification of Associations)

जैसा पहले कहा जा चुका है, संघ अनेक प्रकार के होते हैं, उनका क्षेत्र, आकार और उद्देश्य भिन्न-भिन्न होते हैं। इसलिए संघों का किसी एक सिद्धान्त पर वर्गीकरण नहीं हो सकता। इस वर्गीकरण के लिए हमें निम्नलिखित आधार अपनाने पड़ते हैं:—

(१) **संघों की अवधि** (Duration), (२) **सदस्यता** (Membership)। (३) **उद्देश्य** (Purpose) **और** (४) **अधिकार** (Power)

(१) **अवधि**—अवधि के आधार पर संघ अस्थायी या स्थायी कहे जा सकते हैं।

(क) **अस्थायी संघ**—अस्थायी संघ ऐसी संस्थाओं को कहते हैं जो किन्हीं विशेष कारणों में किन्हीं विशेष परिस्थितियों में पैदा हों और अपना कार्य करने के पश्चात् समाप्त हो जायँ। अकाल के समय भूख से पीड़ित जनता की रक्षा के लिए बनाई गई संस्थाएँ या किसी कवि-सम्मेलन या धार्मिक सम्मेलन को करने के लिए बनाई गई सभाएँ या समितियाँ इस प्रकार की अस्थायी संस्थाएँ कहलाती हैं।

(ख) **स्थायी संघ**—अस्थायी संघों के विपरीत कुछ ऐसे संघ होते हैं जिनकी उपयोगिता सदा बनी रहती है। इस प्रकार की संस्थाओं में हम शिक्षा सम्बन्धी संघ, सेवासमिति, राज्य आदि को सम्मिलित कर सकते हैं। इस प्रकार की संस्थाएँ कभी नष्ट नहीं होतीं और वे सर्वदा अपना कार्य करती रहती हैं।

(२) **सदस्यता**—सदस्यता के आधार पर संघों के दो समूह किये जा सकते हैं :—

(क) स्वाभाविक या आवश्यकीय और (ख) कृत्रिम, ऐच्छिक या मनुष्यकृत।

(क) **स्वाभाविक या आवश्यकीय संघ**—स्वाभाविक संघ ऐसी संस्थाओं को कहा जाता है जिनका सदस्य बनना प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक है। इन संघों की सदस्यता मनुष्य की इच्छा पर निर्भर नहीं होती। इच्छा न होने पर भी इन संघों की सदस्यता प्रत्येक मनुष्य को स्वीकार करनी पड़ती है। ऐसी संस्थाओं में कुटुम्ब, जाति और राज्य आदि सम्मिलित हैं। कोई भी मनुष्य इन संस्थाओं के बिना जीवित नहीं रह सकता।

(ख) **मनुष्यकृत, ऐच्छिक या कृत्रिम संघ**—समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रत्येक सामाजिक संघ का सदस्य बनना आवश्यक नहीं। बहुत से संघ मनुष्य अपनी स्वतन्त्र इच्छा से बनाता है और अपनी स्वतन्त्र इच्छा से ही वह उनका सदस्य रहता है। उन संघों को यदि मनुष्य चाहे तो छोड़ भी सकता है। इस प्रकार के संघ, कुटुम्ब और राज्य की तरह, मनुष्य के लिए अनिवार्य तो नहीं, परन्तु वे मनुष्य के व्यक्तित्व

के विकास में सहायक सिद्ध होते है। इस प्रकार के संघों में हम धार्मिक और राजनीतिक संस्थाओं, आर्थिक संगठनो, मनोरंजन सम्बन्धी सभाओं, शिक्षा परिषदों, नाटक-मण्डलियो और इसी प्रकार की दूसरी संस्थाओं के नाम ले सकते है।

बहुत से लोग संघो का वर्गीकरण केवल उन्हें स्वाभाविक या मनुष्यकृत कह कर ही पूरा समझ लेते है। परन्तु इस प्रकार का वर्गीकरण पूर्ण नही कहा जा सकता। संघो का सही वर्गीकरण उनकी अवधि, सदस्यता, उद्देश्य तथा अधिकार-विभाजन के आधार पर ही किया जाना चाहिए।

(३) उद्देश्य—उपर्युक्त आधारो के अतिरिक्त संघो का वर्गीकरण उद्देश्यो के आधार पर भी किया जाता है। मनुष्य अपने समान हित और समान उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए अनेक संघ बनाते हैं। व्यक्ति की इच्छाएँ असंख्य होती है, इसीलिए संघो की गणना करना भी असम्भव है। परन्तु फिर भी मुख्यत: हम संघों को निम्नलिखित भागों में बाँट सकते है —

(१) रक्त सम्बन्धी संघ (Biological),
(२) आर्थिक संघ (Economic),
(३) सांस्कृतिक संघ (Cultural),
(४) परोपकारी संघ (Philanthropical),
(५) राजनीतिक संघ (*Political*),
(६) धार्मिक संघ (Religious),
(७) सुधारवादी संघ (Reformatory),
(८) मनोरंजनार्थ संघ (Recreational)

(१) **रक्त सम्बन्धी संघ**—रक्त सम्बन्धी संघो में सबसे मुख्य स्थान कुटुम्ब को प्राप्त है। कुटुम्ब सामाजिक जीवन का सबसे पहला संगठित रूप है। यद्यपि कुटुम्ब सबसे छोटा संघ है तथापि वह सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसलिए इसका पूरा विवरण एक अगले अध्याय में दिया जायगा। यहाँ हम रक्त सम्बन्ध पर आधारित दूसरी संस्थाओ जैसे कुल, गोत्र, जन, जाति (clan, gotra, gens, tribe, race) इत्यादि का वर्णन करेंगे।

कुल, गोत्र, जन अथवा कबीलो का जन्म परिवारों के विकास से होता है। एक ही पिता के पुत्र जब अलग-अलग रहने लगते है तो बहुत से परिवारों का जन्म हो जाता है। ऐसे बहुत से परिवारो के मिलने से गोत्र या कुल का जन्म होता है। इस प्रकार एक ही पूर्वज की संतान को कुल, कबीला या गोत्र कहा जाता है। कालान्तर में एक कुल के लोग दूसरे कुल के लोगों के साथ शादी-विवाह इत्यादि का सम्बन्ध जोड़ लेते हैं तथा सब एक ही प्रकार का व्यवसाय करने लगते है। इस प्रकार रक्त सम्बन्ध तथा व्यवसाय पर आधारित जातियां तथा उप-जातियां (Castes and sub-castes) का जन्म होता है। ऐसे लोगों के खान-पान, रीति-रिवाज, रहन-सहन, विश्वास तथा पूजा सम्बन्धी मामलों में बहुत-सी समानताएँ होती हैं, इसलिए आगे चलकर यह

लोग एक ही या पास-पास के गाँवों में वस जाते हैं। फिर बहुत से गाँवों के मिलने से राज्य का जन्म हो जाता है।

बहुत बार जातियों के वृहद् स्वरूप को नस्ल या रेस (Race) के नाम से पुकारा जाता है। ऐसे सब लोग भी एक ही पूर्वज से अपना विकास मानते हैं, परन्तु शादी-विवाह तथा गोद इत्यादि लेने की प्रथाओं के कारण विभिन्न नस्लों के बीच रक्त का इतना सम्मिश्रण हो गया है कि किसी नस्ल या जाति के विषय में यह कहना कि वह विशुद्ध है, सर्वथा गलत है। वृहद् रूप में आजकल संसार में कुछ इनी-गिनी नस्लें ही हैं, जैसे आर्यन (Aryan), मंगोल (Mongol), सेमेटिक (Semetic) इत्यादि। भारतवर्ष, मध्यपूर्व के कुछ देश तथा यूरोप में जर्मनी इत्यादि राष्ट्र अपने आपको आर्यों का वंशज मानते हैं। चीन, बर्मा, तिब्बत, मलाया, इण्डोनेशिया, श्याम, हिंद-चीन तथा जापान इत्यादि देश के निवासी मंगोल जाति के वंशज माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त मुसलमान तथा यूरोप के कुछ निवासी सेमेटिक जाति के लोग माने जाते हैं।

आधुनिक काल में शिक्षा की प्रगति तथा संचार एवं परिवहन के साधनों की प्रगति से संसार के विभिन्न लोगों के बीच आपसी मेल-जोल तथा रिश्ते-नाते के सम्बन्ध इतने अधिक बढ़ गये हैं कि जाति, उपजाति, नस्ल, कुल या गोत्रों का विचार प्रायः लुप्त-सा होता जा रहा है। केवल कुछ पिछड़े हुए समाजों जैसे कट्टर हिन्दू या मुसलमानों में जाति-पाँति के बन्धन अब भी माने जाते हैं। इसका मुख्य कारण जाति सम्बन्धी संस्थाओं का संगठन है। जाति संस्थाएँ अपने सदस्यों और दूसरी जातियों के लोगों के बीच पृथकत्व की भावनाएँ बनाये रखती हैं और अपनी विरादरी के लोगों को इस बात के लिए विवश करती हैं कि वह केवल अपनी जाति के अन्दर ही शादी, विवाह इत्यादि रचाएँ। वह सामाजिक बहिष्कार के अस्त्र का प्रयोग कर समाज के विद्रोही तत्वों को अपने कब्जे में रखती हैं।

प्रारम्भिक काल में जाति-संस्थाओं से चाहे जो भी लाभ हुए हों, आधुनिक काल में ये संस्थाएँ एकदम अनुपयोगी तथा हानिकारक सिद्ध हो रही हैं और शिक्षा की प्रगति के साथ उनका महत्त्व धीरे-धीरे कम होता जा रहा है।

(२) आर्थिक संघ—आर्थिक संघ हम ऐसी संस्थाओं को कहते हैं जो अपने सदस्यों के आर्थिक हितों की विशेष रूप से रक्षा करती हैं। मजदूरों के ट्रेड-यूनियन, मिल-मालिकों के संगठन, चैंबर आफ कामर्स, वकील, शिक्षक और डाक्टरों की सभाएँ, टाँगे और ठेलेवालों के यूनियन, सहकारी समितियाँ इसी प्रकार के आर्थिक संघों के उदाहरण हैं। इन संस्थाओं का मुख्य कार्य अपने सदस्यों के आर्थिक हितों के लिए लड़ना और उनकी औद्योगिक और सामाजिक उन्नति करना है। आर्थिक संस्थाएँ अपने सदस्यों में भ्रातृभाव और कार्य के प्रति दक्षता का भाव भी उत्पन्न करती हैं। यदि ये संस्थाएँ योग्य व्यक्तियों द्वारा संचालित हों तो इनसे समाज को अत्यन्त लाभ होता है, राष्ट्र की सम्पत्ति बढ़ती है और देश शक्तिशाली बनता है। परन्तु यदि इन्हीं संस्थाओं

उन्नति और उसकी शान्ति तथा सुव्यवस्था को भारी धक्का पहुँचता है। आर्थिक संस्थाओं पर इसलिए किसी न किसी प्रकार का सरकारी नियन्त्रण अवश्य रहना चाहिए जिससे इन संस्थाओं के अयोग्य व्यक्तियों के हाथ में चली जाने पर वह हड़ताल आदि कराके देश की उत्पादन शक्ति को नष्ट और समाज के आर्थिक जीवन को अस्त-व्यस्त न करने पावें।

आर्थिक संस्थाएँ स्थानीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय हो सकती है। धोबी, नाई या इसी प्रकार के छोटे पेशे करनेवाले कारीगरों की संस्थाएँ अधिकतर स्थानीय होती है। पढ़े-लिखे और कुछ उच्च श्रेणी के व्यवसाय करनेवाले लोगो की संस्थाएँ अधिकतर राष्ट्रीय होती है। इनके अतिरिक्त कई संस्थाएँ अन्तर्राष्ट्रीय भी होती है, जैसे विश्व ट्रेड-यूनियन संघ (वर्ल्ड फेडरेशन आफ ट्रेड यूनियन्स), विश्व श्रमिक संघ (इण्टर-नेशनल लेबर आर्गेनाइजेशन) इत्यादि। वर्तमान समाज मे इन आर्थिक संस्थाओं का महत्त्व बहुत अधिक व्यापक होता जा रहा है।

आर्थिक संघों के अन्तर्गत कभी-कभी एक ही पेशा करनेवाले व्यक्ति अपनी अलग संस्था बना लेते है। ऐसी संस्था को हम पेशे सम्बन्धी (Professional or Vocational) संघ कह सकते है। लुहारो, जुलाहो, सुनारो, चमारो, धोबियो, अध्यापको, वकीलो, पत्रकारो, कपडे के व्यापारियो, आढतियो आदि की संस्थाएँ इस प्रकार के संघों के उदाहरण है। आर्थिक संघों मे यह आवश्यक नही कि उनमें एक ही प्रकार के पेशे-वाले लोग सम्मिलित हो। आर्थिक संघ का अर्थ है कोई भी इस प्रकार की संस्था जो समान आर्थिक हित रखनेवाले सदस्यों की रक्षा करे। मिल मालिकों या मजदूरो के संघ में कपडे, सन, लोहे, रबर और दूसरे किसी प्रकार के कारखानो के मालिक या उनमे काम करनेवाले मजदूर सम्मिलित हो सकते है। बहुत-सी बातो मे इन लोगो के आर्थिक हित एक-से ही होते है और ऐसी मिली-जुली आर्थिक संस्थाएँ इसी प्रकार के अपने सदस्यो के आर्थिक हितो की रक्षा करती है। पेशे सम्बन्धी संघों में सदस्यो के बीच अधिक घनिष्ठता का भाव रहता है और वे अपने पेशे की उन्नति के लिए विभिन्न योजनाओं पर विचार कर सकते है। पेशो से सम्बन्ध रखनेवाले संघों पर भी सरकारी नियन्त्रण की उतनी ही आवश्यकता है जितनी आर्थिक संस्थाओं पर।

(३) **सांस्कृतिक संघ**—सांस्कृतिक संघ उन संगठनों को कहा जाता है जो संस्कृति के उत्थान के लिए स्थापित किये जाते है। इन संघो में सबसे प्रधान विश्व-विद्यालय, कालेज और स्कूल हैं। इन संस्थाओं का उद्देश्य नागरिको को शिक्षित बनाना तथा समाज में ज्ञान की वृद्धि करना होता है। शिक्षा सम्बन्धी संस्थाओं के अतिरिक्त दूसरे सांस्कृतिक संघ भी होते है जैसे साहित्यिक और अनुसंधान संबंधी संस्थाएँ, सार्वजनिक पुस्तकालय, अजायबघर, साहित्यिक सम्मेलन और कला केन्द्र इत्यादि जिनका उद्देश्य भी वही होता है जो स्कूलों और कालेजो का। यह सब संस्थाएँ साहित्य, कला, इतिहास तथा दूसरे विज्ञानो की उन्नति करती है।

(४) **परोपकारी संघ**—परोपकारी संघो मे ऐसी संस्थाएँ सम्मिलित है जिनकी

व्यवस्था विशेष रूप से लूले-लँगड़े, निराश्रित और बेकार लोगों की सहायता के लिए की जाती है। विधवाश्रम, अनाथालय, सेवासमिति आदि इस प्रकार के संघों के उदाहरण हैं।

(५) **राजनीतिक संघ**—राजनीतिक संघों के अन्तर्गत हम दो प्रकार के संघों का वर्णन कर सकते हैं—एक राज्य और दूसरे राजनीतिक दल। राज्य (State) सबसे बड़ा संघ है जो समाज के दूसरे सारे संघों के जीवन को सुव्यवस्थित रखता है। समाज में सुख, शान्ति और ठीक प्रकार की व्यवस्था रखना राज्य का मुख्य कार्य है। राज्य के विना समाज का जीवन नहीं चल सकता और न समाज में संघों का अस्तित्व ही कायम रह सकता है। इसलिए राज्य भी दूसरे संघों की भाँति समाज का अंग ही है। अन्तर केवल इतना है कि दूसरे संघों से राज्य अधिक शक्तिशाली और महत्त्वपूर्ण है।

राज्य के अतिरिक्त राजनीतिक दलों को भी हम राजनीतिक संघ कह सकते हैं। इन दलों का मुख्य कार्य चुनाव के द्वारा सरकार पर अधिकार करना और देश के शासन को चलाना होता है। हमारे देश में कांग्रेस, प्रजा-समाजवादी दल, कम्युनिस्ट दल, जनसंघ इत्यादि इस प्रकार के राजनीतिक संघों के उदाहरण हैं।

(६) **धार्मिक संघ**—एक ही संघ या सम्प्रदाय में विश्वास रखनेवाले लोग कभी-कभी अपना अलग धार्मिक संघ बना लेते हैं। इस प्रकार के संघों का मुख्य उद्देश्य अपने सदस्यों को धार्मिक शिक्षा देना, उनमें धार्मिक-साहित्य का प्रचार करना, पूजा के स्थानों की रक्षा तथा व्यवस्था करना और अपने धर्मावलम्बियों के अधिकारों की रक्षा करना होता है। प्रत्येक सभ्य समाज में धार्मिक संस्थाओं का बहुत ऊँचा स्थान होता है। धर्म मनुष्य को सांसारिक वस्तुओं से परे अध्यात्मवाद की ओर ले जाता है। वह मनुष्य के अन्दर से छल-कपट, द्वेष, प्रतिस्पर्धा, लोभ, मोह और इसी प्रकार के दूसरे दुर्गुणों का नाश करके उसको आदर्श मनुष्य और समाज का उपयोगी नागरिक बनना सिखाता है। धार्मिक संघ बतलाते हैं कि सांसारिक जीवन से परे भी एक जीवन है जिसे पारलौकिक जीवन कहते हैं और व्यक्ति को सांसारिक झमेलों में पड़कर उस आनन्दमय जीवन को नहीं भुला देना चाहिए।

यदि धार्मिक संघ सच्ची धार्मिक भावना का ही मनुष्य के बीच प्रचार करें और व्यर्थ के पाखण्डों और ढकोसलों में न पड़ें तो वह समाज की बहुमूल्य सेवा कर सकते हैं। परन्तु हम देखते हैं कि आजकल के धार्मिक संघ समाज में पवित्रता का नहीं, वरन् दुष्टता और भ्रष्टता का प्रचार करते हैं। धर्म के नाम पर संसार भर की सामाजिक कुरीतियों का प्रचार किया जाता है, धर्म के पंडित पीड़ित और दुःखी जनता को अत्याचारों के नीचे पिसते रहने का आदेश देते हैं, वह राजनीति के क्षेत्र में धर्म की दुहाई देकर पदार्पण करना चाहते हैं, समाज में प्रगतिशील विचारों के प्रचार में रुकावट डालते हैं और मनुष्य के मस्तिष्क को रूढ़िवादी विचारों में ढालना चाहते हैं। आज धर्म के नाम पर व्यभिचार का प्रचार किया जाता है। धर्म आज समाज

का रक्षक नहीं, उसका भक्षक बन गया है। जो धर्म मनुष्य में दया, सहिष्णुता, प्रेम, बलिदान और बन्धुत्व की भावना जागृत करने के लिए जन्मा था, आज उसी धर्म के नाम पर निरपराधी मनुष्यों का खून और अबलाओं और बच्चों का अपहरण सिखाया जाता है। धर्म से आज प्रेम का नहीं, वरन् घृणा का प्रचार किया जाता है। भारतवर्ष संसार के सामने सदा धार्मिकता और अध्यात्मवाद की डींग मारता रहा है, परन्तु आधुनिक वातावरण में क्या हम कह सकते हैं कि धर्म में हमारी लेशमात्र भी श्रद्धा है? धर्म के नाम पर आज भारतवर्ष में छुआछूत, विधवापन, देवदासीप्रथा, पशुबलि, पर्दाप्रथा आदि का प्रचार किया जाता है। भारत में ही क्यों, दूसरे देशों में भी धर्म के नाम पर क्या-क्या अत्याचार नहीं किये गये?

धार्मिक संस्थाओं पर इन्हीं सब कारणों से सरकारी नियन्त्रण अवश्य रहना चाहिए जिससे सरकार यह देख सके कि धर्म के नाम पर कहीं समाज के भोले-भाले व्यक्तियों को पथ-भ्रष्ट तो नहीं किया जाता, कहीं धर्म के ठेकेदार राजनीति के वातावरण को दूषित तो नहीं करते और कहीं वे समाज में अत्याचार की भावना का प्रचार तो नहीं करते? धार्मिक संस्थाओं का वास्तविक क्षेत्र आध्यात्मिक है और इसी क्षेत्र में उन्हें कार्य करना चाहिए।

(७) **सुधारवादी संघ**—सुधारवादी संघ समाज से कुरीतियों को हटाने के लिए संगठित किये जाते हैं। भारतवर्ष में इस प्रकार के संघों के उदाहरण में हम 'हरिजन-सेवक संघ', 'जाति-पाँति तोड़क मंडल', 'बाल-विवाह निवारक समिति', 'विधवा विवाह-प्रचारक सभा' इत्यादि के नाम ले सकते हैं। इस प्रकार के संघ सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक और महत्त्वपूर्ण हैं। वे हमारे सामाजिक संगठन में इस प्रकार की हानिकारक कठिनाइयों एवं सामाजिक बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न करते हैं जो प्राचीनता का सहारा लेकर पवित्रता का रूप धारण कर लेती हैं। सुधारवादी संघ इस प्रकार की मनोवृत्ति के विरुद्ध जागृति उत्पन्न करते हैं और सामाजिक कुरीतियों और अन्यायों को मिटाने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु सुधारवादी संघों को एक बात कभी नहीं भूलनी चाहिए। और वह यह कि प्रत्येक सुधार का समाज पर स्थायी असर केवल उस समय पड़ता है जब जनता को सुधार के लिए ठीक प्रकार की शिक्षा देकर तैयार कर लिया जाय। किसी भी सुधार को जनता पर बलपूर्वक नहीं थोपना चाहिए। ऐसा करने से लाभ नहीं, हानि ही होती है और सुधार का उद्देश्य नष्ट हो जाता है।

(८) **मनोरंजनार्थ संघ**—मनोरंजन संबंधी संघ वे हैं जो अपने सदस्यों के मनोरंजन के लिए स्थापित किये जाते हैं। नाटक-मंडली, सिनेमा, थिएटर, रेडियो, खेल-कूद के क्लब आदि इसी प्रकार की संस्थाओं के उदाहरण हैं। सामाजिक जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए इन संघों की विशेष आवश्यकता रहती है। इनके द्वारा मनुष्य को जीवन में आनन्द और उल्लास की प्राप्ति होती है। ये निरन्तर कार्य करने से थके हुए व्यक्तियों को विश्राम और शान्ति प्रदान करते हैं और उनकी थकावट और चिन्ताओं को दूर करते हैं। इस प्रकार के संघों के वातावरण में आकर मनुष्य

चिन्ताओं को भूल कर अपनी आत्मा में आनन्द के स्रोत का स्पर्श करते हैं। परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सभी मनोरंजन सम्बन्धी संस्थाएँ समाज की सेवा नहीं करतीं। बहुत-सी संस्थाएँ जैसे जुआघर, शराबखाने आदि मनुष्य को अधःपतन और अनाचार की ओर ले जाती हैं। इस प्रकार की संस्थाओं को जड़ से नष्ट कर देना चाहिए ताकि वे मनुष्य के सामाजिक जीवन को दूषित न कर सकें।

(४) **अधिकार**—अधिकारों के आधार पर संघों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जाता है: (१) **संप्रभु**—(Sovereign), (२) **अर्धसंप्रभु** (Semi-sovereign) और (३) **असंप्रभु** (Non-sovereign)।

(१) **संप्रभु संघ**—संप्रभु संघ ऐसी संस्थाओं को कहा जाता है जो अपने सदस्यों पर पूर्णरूपेण अधिकार रखती हैं, अपनी आज्ञा का बलपूर्वक पालन करा सकती हैं और अपने सदस्यों को हर प्रकार का दण्ड भी दे सकती हैं। इस प्रकार का संघ केवल राज्य ही हो सकता है, दूसरी कोई संस्था नहीं।

(२) **अर्धसंप्रभु**—ये वे संगठन हैं जिन्हें सार्वभौमिकता के पूरे नहीं, थोड़े से अधिकार प्राप्त हों। ऐसे संघों में हम म्युनिसिपल बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड आदि के नाम ले सकते हैं।

(३) **असंप्रभु संघ**—ये वे संगठन हैं जिन्हें किसी प्रकार के भी अधिकार प्राप्त नहीं होते। वे केवल प्रार्थना और अपनी सेवा के द्वारा ही अपने सदस्यों से अपनी आज्ञा का पालन करा सकते हैं। इस प्रकार के संघों में हम धार्मिक, सांस्कृतिक, सुधारवादी और मनोरंजन सम्बन्धी संघों के नाम ले सकते हैं।

भिन्न-भिन्न संघों के प्रति नागरिकों के कर्तव्य (Duties towards different Associations)

मनुष्य के सामाजिक जीवन में संघों का जो विशेष स्थान है और उनसे व्यक्ति के जीवन की सफलता में जो विशेष सहायता मिलती है इन सभी बातों का वर्णन हम इसी अध्याय के पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं। संघ मनुष्य की जीवन-यात्रा में मार्ग-प्रदर्शन का कार्य करते हैं और उनके व्यक्तित्व के विकास में सहायक बन कर मनुष्य के सामाजिक जीवन को अधिक सम्पन्न और समृद्धिशाली बनाते हैं। संघों की इन सेवाओं के बदले मनुष्य के उनके प्रति कुछ कर्तव्य भी हैं। उदाहरणार्थ प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि वह उन संस्थाओं की आज्ञाओं का पूर्ण रूप से पालन करे जिनका वह सदस्य है, उनके अधिवेशनों में सम्मिलित हो और उनकी तन, मन, धन से सहायता करे।

परन्तु इन सब बातों का यह आशय कदापि नहीं कि कोई एक संघ अपने सदस्यों से जो चाहे करा सकता है। इस प्रकार का अधिकार तो केवल राज्य (State) को ही है। समाज के दूसरे संघ तो अपने सदस्य से केवल एक विशेष प्रकार के कर्तव्यों का ही पालन करा सकते हैं। वह यह आशा कदापि नहीं रख सकते कि उनके सदस्य उनको छोड़कर किसी और संघ के सदस्य न बनें या उनके प्रति अपने कर्तव्यों का पालन न करें। कोई एक संघ व्यक्ति की पूर्णरूपेण उन्नति या उसका विकास नहीं कर

का नेतृत्व स्वार्थी और अयोग्य व्यक्तियों के हाथ में चला जाय तो इससे देश को सकता और इसी कारण वह यह आशा नहीं कर सकता कि उसका सदस्य दूसरे किसी और संघ में सम्मिलित न हो या उसके प्रति अपने कर्तव्यों का पालन न करे। एक संघ मनुष्य जीवन की केवल एक ही भावना को सन्तुष्ट करता है। इसलिए मनुष्य को अपने व्यक्तित्व का पूर्ण रूप से विकास करने के लिए अनेक संघों का सदस्य बनना पड़ता है।

कई बार ऐसा देखने मे आता है कि मनुष्य के एक संघ और दूसरे संघ के प्रति जो कर्तव्य है उनमें संघर्ष पैदा हो जाता है। ऐसी दशा मे मनुष्य को चाहिए कि वह अपने स्वार्थ और हित के विचार को त्याग कर यह देखने का प्रयत्न करे कि सामाजिक भलाई किस संघ के प्रति अपना कर्तव्य पूर्ण करने में है। एक तुच्छ हित की पूर्ति के लिए हमें समाज के बड़े हित का त्याग नहीं करना चाहिए। वास्तव मे असली नागरिक वही है जो भिन्न-भिन्न संस्थाओं के प्रति अपने कर्तव्यों का समन्वय करना जानते है। यही बात एक अँग्रेज लेखक विलियम बॉयड ने इस प्रकार कही है— "Citizenship consists in the right ordering of loyalties." इसका अर्थ यही है कि सच्ची नागरिकता अपने अनेक कर्तव्यों का सामंजस्य करने में ही होती है। वास्तव में मनुष्य की भिन्न-भिन्न संस्थाओं का एक ही उद्देश्य और एक ही हित होना है और वह यह कि व्यक्ति और समाज की अधिक से अधिक उन्नति हो। समाज के भिन्न-भिन्न संघों में इस कारण किसी प्रकार के संघर्ष का प्रश्न ही नहीं उठता। जो विरोध हमें बाह्य रूप से दिखाई देता है वह हमारी अज्ञानता के ही कारण है।

योग्यता-प्रश्न

१. मनुष्य के लिए संघों में रहना क्यों आवश्यक है? सामाजिक क्लब, व्यायाम-संघ और राज्य के कार्यों के पारस्परिक भेद को आप कैसे स्पष्ट करेंगे? (यू० पी०, १९३३)

२. आप संघों का वर्गीकरण कैसे करेंगे? विभिन्न संघों के कार्यों का संक्षेप में वर्णन कीजिए। (यू० पी०, १९३३; पंजाब, १९५०, ५२)

३. वह कौन से मुख्य-मुख्य संघ हैं जिनका आधुनिक जातियों में संगठन किया जाता है? (यू० पी०, १९३९)

४. उन संघ के मुख्य भेदों का वर्णन कीजिये जिनमें एक आधुनिक जाति अपना संगठन करती है। (यू० पी०, १९४१, १९४२)

५. संघ किसे कहते हैं? व्यक्ति संघों के सदस्य क्यों बनते हैं? उनका वर्गीकरण किस प्रकार किया जाता है? (यू० पी०, १९४४)

६. इन पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये :—(१) अनिवार्य संघ, अस्थायी संघ, (२) सुधारक संघ, (३) रक्त सम्बन्धी संघ, (४) सांस्कृतिक संघ, (५) धार्मिक संघ।

७. समाज में सुधारवादी संघों का क्या महत्त्व है ? वे सामाजिक जीवन की गतिविधि में किस प्रकार सुधार करते हैं ?

८. अधिकार और सीमा के आधार पर आप संघों का वर्गीकरण कैसे करेंगे ?

९. समाज संघों से बना है, इस मत की व्याख्या कीजिए। संघों की उपयोगिता का वर्णन कीजिए। (यू० पी०, १९४९)

१०. धर्म और नागरिक जीवन पर संक्षिप्त नोट लिखो। (यू० पी०, १९५३)

११. समुदायों की आवश्यकता बताइये। राज्य और दूसरे समुदायों में क्या भेद है? (यू० पी०, १९५४; पंजाब १९५५)

१२. समुदायों का निर्माण क्यों होता है ? क्या आपकी राय में इन्हें स्वाभाविक और मनुष्यकृत समुदायों में विभाजित करना उचित होगा ? (यू० पी०, १९५५; पंजाब; १९५५)

अध्याय ४

व्यक्ति और उसका परिवार

(Individual And His Family)

मैं जो कुछ भी हूँ या जो कुछ भी बनने की आशा करता हूँ, उसके लिए मैं अपनी देवी स्वरूप माता का ऋणी हूँ।

—इब्राहिम लिंकन

प्रत्येक मनुष्य को नागरिकता की प्रथम शिक्षा माँ के चुम्बन और बाप के प्यार से मिलती है।

—मैजिनी

हम पिछले अध्याय में बता चुके हैं कि परिवार सामाजिक संगठनों में सर्वप्रथम स्वाभाविक तथा महत्त्वपूर्ण संगठन है। यह संघ मनुष्य की प्रेम तथा वात्सल्य भावना पर अवलम्बित है। मानव-समाज की सभ्यता के शैशवकाल में इस संस्था का जन्म हुआ और जब तक मनुष्य में स्नेह और सभ्यता का अंकुर बना रहेगा, यह संस्था भी अमर रहेगी।

कुटुम्ब का जन्म पुरुष और स्त्री के पारस्परिक सम्बन्ध और सहयोग से होता है। एक कुटुम्ब के अन्दर माता-पिता, भाई-बहन, पौत्र-पौत्री आदि सम्मिलित होते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि परिवार मनुष्य जाति की सबसे प्राचीन संस्था है, परन्तु इसका स्वरूप सदा एक-सा नहीं रहा। प्राचीन काल में कुटुम्ब बहुत बड़ा हुआ करता था क्योंकि उसमें माता-पिता के अतिरिक्त चाचा-चाची, भाई-भाभी, चचेरे भाई, चचेरी बहनें इत्यादि भी रहते थे। भारतवर्ष और विशेष कर हिन्दुओं में आजकल भी ऐसे ही संयुक्त कुटुम्बों (Joint families) की प्रथा अधिक प्रचलित है। एक ही परिवार में प्राय बाप, दादा, परदादा, उनकी स्त्रियाँ, लड़के, लड़कियाँ आदि रहते हैं। पाश्चात्य देशों में इस प्रकार के सम्मिलित कुटुम्ब नहीं होते। वहाँ केवल माता-पिता और बच्चे ही एक साथ रहते हैं। जब लड़का अपना विवाह कर लेता है तो अपने माँ-बाप का घर छोड़ देता है और अपने लिए एक दूसरा घर बना लेता है।

परिवार में स्त्री और पुरुषों के पारस्परिक अधिकार और कर्तव्यों का स्वरूप भिन्न-भिन्न काल और देशों में अलग-अलग रहा है। कुछ देशों में परिवार का आरम्भ माता से हुआ और कुछ दूसरे देशों में पिता से। सभ्यता के प्रारम्भिक काल में बहु-विवाह-प्रथा अधिक प्रचलित थी, एक पुरुष कई स्त्रियाँ रख सकता था। किसी-किसी देश में स्त्रियों को भी कई पति रखने का अधिकार था। परन्तु अधिकतर परिवार पैतृक ही होते थे अर्थात् ऐसे परिवार जहाँ पुरुष को ही कई स्त्रियाँ रखने का अधिकार था।

ऐसे परिवारों में पुरुष को अपनी स्त्री और अपने बच्चों पर पूर्ण अधिकार होता था। पुरुष यदि चाहता तो अपने बच्चों को मृत्यु-दंड भी दे सकता था। धीरे-धीरे सभ्यता के विकास के साथ स्त्री और बच्चों को परिवार में पुरुष के ही समान अधिकार मिलने लगे। ईसाई धर्म के प्रचार से बहु-विवाह प्रथा प्रायः बन्द-सी हो गई। आधुनिक काल में संसार के प्रायः सभी देशों में स्त्रियों को पुरुषों के समान ही अधिकार दिये जाते हैं। हमारे देश में स्त्रियों की स्थिति में अभी दूसरे देशों की भाँति उन्नति नहीं हुई है, परन्तु अब इस दिशा में भी विशेष प्रयत्न हो रहा है और नये संविधान के अन्तर्गत तो भारत की स्त्रियों को पुरुषों के समान ही सारे अधिकार प्राप्त हो गये हैं।

परिवार के कार्य—(Functions of Family)

परिवार जिन कार्यों को करता है उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है:—
(१) **प्राणिशास्त्र-सम्बन्धी** (Biological), (२) **आर्थिक** (Economic), (३) **सांस्कृतिक** (Cultural), (४) **नागरिक** (Civic), (५) **मनोरंजन-सम्बन्धी** (Recreational) **और** (६) **धार्मिक** (Religious)।

(१) **प्राणिशास्त्र-सम्बन्धी**—परिवार का जन्म मुख्यतया सन्तान की उत्पत्ति और मनुष्य की वात्सल्य भावना के कारण होता है। परिवार में ही बच्चों का ठीक प्रकार से लालन-पालन होता है। माता-पिता ही अपने सन्तान के प्रति प्रेम की वह स्वाभाविक भावना रखते हैं, जो दूसरे नहीं रख सकते। इसलिए वे ही अपने बच्चों के लालन-पालन के भार को आनन्दपूर्वक वहन करते हैं।

(२) **आर्थिक**—प्राणीशास्त्र-सम्बन्धी कार्य के अतिरिक्त, परिवार ऐसा भी कार्य करता है जो कि स्वभाव से आर्थिक या अर्ध-आर्थिक कहलाते हैं। अर्थ सम्बन्धी कार्य हम ऐसे कार्यों को कहते हैं जिनका सम्बन्ध धन की उत्पत्ति या उसके वितरण से होता है। परिवार में रहकर मनुष्य को इस प्रकार के अनेक कार्य करने पड़ते हैं। पिता परिवार के सदस्यों के लालन-पालन के लिए कोई न कोई व्यवसाय अवश्य करता है। इस व्यवसाय में परिवार के दूसरे सदस्य अपनी योग्यता के अनुसार सहयोग देते हैं। पिता की मृत्यु के पश्चात् यही कार्य परिवार के दूसरे सदस्य करते रहते हैं और इस प्रकार एक ही व्यवसाय एक पीढ़ी के पश्चात् दूसरी पीढ़ी तक परिवार में चलता रहता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक परिवार की अपनी एक सम्पत्ति या जायदाद होती है। इसका प्रबन्ध भी परिवार के सदस्य ही करते हैं। आमदनी और खर्च का बजट भी प्रत्येक कुशल गृहस्थ को रखना पड़ता है। एक अच्छे गृहस्थ के लिए आवश्यक है कि वह अपने परिवार का खर्च इस प्रकार चलावे कि वह आमदनी से अधिक न बढ़ने पाये, बल्कि उसमें से कुछ न कुछ बचत हो सके। गृहस्थी के इन सब कार्यों को हम आर्थिक कार्य कह सकते हैं।

(३) **सांस्कृतिक**—परिवार अपने सदस्यों का सांस्कृतिक विकास भी करता है। बच्चे प्रेम और सहानुभूति का प्रथम पाठ परिवार में ही सीखते हैं। वे अपने माता-पिता

के अनुकरण से भाषा, व्यवहार और सदाचार सीखते है। यह समस्त गुण सांस्कृतिक जीवन की जड़ है।

(४) नागरिक—परिवार सामाजिक जीवन का स्थायी स्कूल है। अंग्रेजी में एक कहावत है—"Family is the eternal school of social life."[1] इस कहावत का यही अर्थ है कि परिवार मनुष्य के नागरिक जीवन का अमिट स्रोत है। यदि हम परिवार की स्वाभाविक भावनाओं पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करे तो हमें ज्ञात होगा कि इस कहावत में अक्षरश: कितना सत्य भरा पड़ा है।

सामाजिक जीवन कुछ विशेष गुणों पर अवलम्बित है। सभी मानव प्राणियो मे वह गुण विद्यमान रहते है। जब बच्चा माँ के गर्भ से जन्म लेता है तो यह गुण प्रसुप्तावस्था में रहते है। *इनका विकास तभी होता है जब एक विशेष वातावरण मे इनको जागृत* किया जाय। यह काम परिवार करता है।

प्रेम—सर्वप्रथम कुटुम्ब नवजात शिशु के लिए प्रेम और स्नेह के शिक्षणालय का कार्य करता है। माता-पिता का अपने बच्चों के प्रति अद्वितीय प्रेम होता है। ससार में विशुद्ध और नि स्वार्थ प्रेम की इससे बढ़कर उपमा नही दी जा सकती। बच्चो के लालन-पालन और पोषण के लिए माता-पिता अपना सर्वस्व बच्चों पर न्योछावर करने को उद्यत रहते है। बच्चों का सुख ही उनके लिए सबसे अधिक आनन्द की सामग्री होती है। इस प्रकार बच्चा जन्म से ही प्रेम के विशुद्ध वातावरण मे सॉस लेता है और उसी मे पलकर बड़ा होता है। *प्रेम ही हमारे सामाजिक सम्बन्धों का आधार-स्तम्भ* है और इसकी सर्वप्रथम शिक्षा बच्चों को परिवार से मिलती है।

सेवा—जिस प्रकार प्रेम सामाजिक जीवन का आधार है, उसी प्रकार सेवा-भाव भी नागरिकता का मूल है। इसी भावना के कारण मनुष्य और पशु में भेद किया जाता है। यह भाव मानवता का आभूषण है। समाज में रहने वाले भूखे, नंगे, अपाहिज, रोगी और अधिकारहीन व्यक्तियों की जीवन-रक्षा इसी भावना के कारण होती है। इस भावना का सर्वप्रथम अकुर परिवार में ही उत्पन्न होता है। माता-पिता अपने बच्चों की नि स्वार्थ भाव से सेवा करते है। वह उनका लालन-पालन करने में अपार कष्टों का सामना करते है। बच्चे अपने माता-पिता से इसी नि स्वार्थ सेवा का पाठ पढते हैं और फिर बड़े होकर अपने समाज की सेवा करते है।

सहयोग—सहयोग भी सामाजिक जीवन का प्राण है। व्यक्ति को पग-पग पर *अपने साथियों के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है।* इस सहयोग का प्रथम पाठ भी परिवार में सीखा जाता है। परिवार का सम्पूर्ण सगठन सदस्यो के सहयोग पर आश्रित है। पिता धन कमाता है। माता घर की देख-भाल करती है। बच्चे माँ-बाप

1 "It is within the family that the child learns the meaning of Co-operation and self-control, of loyalty, sympathy and altruism.
(*V. H. Beveridge*)

का हाथ बटाते हैं। इस प्रकार एक-दूसरे के सहयोग से गृहस्थ जीवन चलता है। यही सहयोग की भावना हमारे सामाजिक जीवन को मधुर बनाती है।

सहिष्णुता—पारिवारिक जीवन मनुष्य में सहिष्णुता का भाव भी निर्माण करता है। यदि परिवार के सदस्य सहनशील न हों, एक दूसरे से लड़ने-भिड़ने के लिए उद्यत रहें, एक दूसरे की भावनाओं का विचार न रखें, कुछ थोड़ा-बहुत कहने-सुनने का बुरा मान जायँ, तो पारिवारिक जीवन नारकीय हो जाय। उसमें निरन्तर कलह का साम्राज्य रहे। माता-पिता के कुछ अनुचित बात कह देने पर भी बच्चे बुरा नहीं मानते, वह उनको उसी आदर की दृष्टि से देखते हैं; इसी प्रकार बच्चों की शरारतों को माँ-बाप सहन करते हैं। इस तरह आरम्भ से ही बच्चों में सहनशीलता का भाव निर्मित हो जाता है। सामाजिक जीवन की सफलता के लिए यह गुण भी नितान्त आवश्यक है।

शिक्षा—परिवार को शिष्ट और सुसंस्कृत जीवन का सबसे बड़ा शिक्षणालय बताया गया है। परिवार के रहन-सहन, माता-पिता के व्यवहार, आतिथ्य-सत्कार, खान-पान व बोलचाल का बच्चों के कोमल व ग्रहणशील मस्तिष्क पर भारी प्रभाव पड़ता है। इसलिए सद्गृहस्थों के बच्चे सुसंस्कृत होते हैं, वे बड़ों का आदर करते हैं, उनमें विनयशीलता होती है। इसके विपरीत दुश्चरित्र परिवारों के बच्चे भी बुरी आदतें सीख जाते हैं; वह समाज में सभ्य-जीवन व्यतीत नहीं कर सकते; मैजनी ने इसीलिए कहा है—"The child learns the best lesson of citizenship between the kiss of the mother and the caress of the father." इस कहावत का यही अर्थ है कि बच्चों में नागरिक गुणों की सबसे अधिक शिक्षा परिवार में ही होती है।

आज्ञापालन और अनुशासन—सामाजिक जीवन के नियंत्रण के लिए अनुशासन और आज्ञापालन की भावना उतनी ही आवश्यक है जितनी जीवन के लिए श्वास। इन गुणों के अभाव में अराजकता फैल जाती है, सब लोग अपनी मनमानी करने लगते हैं, सामाजिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। यह दोनों गुण सर्वप्रथम परिवार में ही अंकुरित होते हैं। बच्चे अपने माता-पिता की आज्ञा का पालन करते हैं। वे परिवार के अनुशासन में बड़े होते हैं। परिवार का मुखिया बच्चों को अपने कड़े नियंत्रण में रखकर उन्हें बुरी आदतों से बचाता है, वह उन्हें अच्छे-बुरे का ज्ञान कराता है। यही भाव हमारे भावी सामाजिक जीवन को श्रेष्ठ एवं नियमित बनाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि परिवार नागरिक गुणों की शिक्षा का सबसे श्रेष्ठ माध्यम है। वह आदर्श नागरिक जीवन का मूल है। वह सुन्दर सामाजिक व्यवस्था का आधार है। वह राज्य के अनुशासन का प्रेरणा-स्थल है। कुटुम्ब की छत्रछाया में ही बड़े-बड़े नेता, दार्शनिक और विद्वान जन्म लेते हैं। इब्राहम लिंकन, शिवाजी, नैपोलियन, महात्मा गांधी इत्यादि अनेक महापुरुषों ने अपने जीवन को ढालने में माताओं का ऋण स्वीकार किया है।

(५) **मनोरंजन सम्बन्धी**—परिवार स्वस्थ मनोरंजन का भी केन्द्र है। हँसते हुए बच्चे, मुस्कुराती हुई पत्नी, बालकों की प्यारी-प्यारी बातें, उनकी निष्कपट शरारतें

किस थके हुए पिता की थकान को दूर कर उसमें नवीन स्फूर्ति का सचार नही कर देंगी। बच्चो के साथ मीठी-मीठी बातें बना कर तथा उनके साथ खेल कर हम अपनी सारी थकान को भूल जाते है। इसलिए काम समाप्त होते ही प्रत्येक व्यक्ति घर लौटने की ही सोचता है। घर के वातावरण में वह एक स्वर्गीय आनन्द का अनुभव करता है। इस प्रकार एक अच्छा, सभ्य, सुसस्कृत परिवार शान्ति और सुख, आमोद-प्रमोद और स्वस्थ मनोरजन का क्रीडास्थल होता है।

(६) धार्मिक—परिवार अपने सदस्यो में धार्मिक और आध्यात्मिक प्रवृत्ति भी जागृत करता है। अच्छे परिवारो में धार्मिक समारोह तथा उत्सव व त्यौहार बडे चाव से मनाये जाते हैं। बच्चे इन उत्सवो में भाग लेते हैं। वह सध्या, भजन, पूजन, आरती तथा कीर्तन में सम्मिलित होते हैं। वह अपने माता-पिता के साथ तीर्थ-स्थानों की यात्रा करते हैं। इन सब बातों से उनमें धार्मिक भावनाएँ जागृत होती हैं और वह सत्कर्मों की ओर अग्रसर होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि परिवार वह सभी कार्य करता है जिनसे सामाजिक जीवन मधुर तथा उद्देश्यपूर्ण बनता है। वह देश के भावी नागरिको में उन गुणों का सचार करता है जिनके आधार पर देश और राष्ट्र की उन्नति होती है। बच्चा नागरिकता का सबसे महत्वपूर्ण सबक अपनी माता और पिता से सीखता है। सक्षेप में हम परिवार को विश्वविद्यालय, मन्दिर, क्लब, राज्य तथा ससार का सूक्ष्म रूप कह सकते हैं।

पारिवारिक भक्ति का प्रश्न (The Problem of Family Loyalty)

मानव गुणो के विकास के लिए परिवार जो भी कार्य करता है तथा जिस प्रकार वह अपने सदस्यों की रक्षा तथा उनका लालन-पालन करता है, उन्हे देखते हुए वह अपने सदस्यों की अनन्य भक्ति प्राप्त करता है। ऐसा होना बहुत कुछ स्वाभाविक ही है, परन्तु इसमें एक खतरा भी छिपा हुआ है। बहुत बार ऐसा देखा जाता है कि मनुष्य अपने परिवार के भरण-पोषण तथा लालन-पालन में ही इतना व्यस्त हो जाता है कि वह सामाजिक जीवन की दूसरी सस्थाओ और सघों के प्रति अपने कर्तव्यों को भूल जाता है। हमें इस प्रकार की प्रवृत्ति का विकास रोकना चाहिए। परिवार मानव जीवन की अत्यन्त आवश्यक सस्था है। परन्तु व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए हमें दूसरी सस्थाओ का सदस्य भी बनना पडता है। इन सस्थाओं के प्रति भी हमारे कर्तव्य हैं। परिवार का भरण-पोषण करते समय हमें इन दूसरी सस्थाओं के प्रति अपने कर्तव्यों को नहीं भूलना चाहिए। इस विषय पर और अधिक चर्चा हम एक आगे के अध्याय में करेंगे।

सुखी तथा सफल पारिवारिक जीवन के लिए आवश्यक शर्तें (Conditions for successful family life)

परिवार के सदस्य आदर्शमय, सभ्य और आनन्ददायक जीवन व्यतीत कर

सकें, इसके लिए प्रत्येक परिवार में कुछ आन्तरिक और बाह्य (Internal and External) अवस्थाओं का होना आवश्यक है। कोई गृहस्थ तभी सुखी और समृद्धिशाली जीवन व्यतीत कर सकता है जब वह विशेष प्रकार के वातावरण में पुष्पित-पल्लवित हो। पढ़े-लिखे घरानों में बच्चे प्रायः सुशील और चतुर होते हैं। इसके विपरीत अशिक्षित और असभ्य घर में बच्चे बहुत-सी बुरी आदतों के शिकार बन जाते हैं। इसी प्रकार जिस परिवार में धन-संपत्ति न हो वह अधिक उन्नति नहीं कर सकता। ऐसे गृहस्थ के बच्चों को न किसी प्रकार की उच्च शिक्षा दी जा सकती है और न उन्हें एक विशेष प्रकार के सुसंस्कृत और सभ्य वातावरण में ही पाला जा सकता है। बहुत बार, इसी कारण, गरीब घरानों के बच्चों में झूठ बोलने, चोरी करने, आवारा फिरने की आदतें पड़ जाती हैं। परन्तु ऐसा कहने से हमारा यह तात्पर्य कदापि नहीं कि सम्पन्न घरों के बच्चे सदा सच्चरित्र ही होते हैं और निर्धन घरों के दुराचारी। हमारा आशय केवल इतना है कि एक समृद्ध घर का वातावरण निर्धन घर के वातावरण की अपेक्षा बच्चे के सांस्कृतिक विकास के लिए अधिक उपयुक्त होता है। बच्चों का मस्तिष्क अत्यन्त कोमल और ग्रहणशील होता है। परिवार में बाह्य और आंतरिक वातावरण का उनके मस्तिष्क पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। इसलिए आवश्यक है कि समाज में आदर्श और सभ्य नागरिक उत्पन्न करने के लिए गृहस्थ-जीवन में उपयुक्त वातावरण का निर्माण किया जाय।

बाह्य अवस्थाएँ—(External Conditions)—गृहस्थ जीवन की सफलता के लिए बाह्य अवस्थाओं में हम निम्नलिखित दशाओं का उल्लेख कर सकते हैं:—

(१) आर्थिक न्यूनतम—(Economic Minimum)—प्रत्येक गृहस्थी में अपने सदस्यों के पालन-पोषण के लिए इतनी आमदनी अवश्य होनी चाहिए जिससे परिवार के सारे सदस्य आराम से अपना जीवन व्यतीत कर सकें तथा परिवार के मुखिया की बीमारी, दुर्घटना या बुढ़ापे की अवस्था में गृहस्थी का कार्य चल सके। इसका यह आशय कदापि नहीं कि यदि परिवार के बड़े सदस्य काम करना न चाहें तो भी उन्हें सरकार द्वारा वेतन दिये जाने का प्रबन्ध हो। इसका अर्थ केवल यही है कि सरकार प्रत्येक स्वस्थ और वयस्क व्यक्ति को काम दे तथा उनको इतना वेतन दे कि जिससे वह अपने और अपने बच्चों का अच्छी तरह पालन-पोषण कर सके।

(२) अच्छा मकान—(Good Houses)—निर्वाह के लिए उपयुक्त आमदनी के अतिरिक्त प्रत्येक परिवार के पास रहने के लिए स्वस्थ वातावरण में अच्छा मकान भी होना चाहिये। एक अच्छे स्वास्थ्यप्रद मकान के बिना न परिवार के सदस्यों का स्वास्थ्य ही ठीक रह सकता है और न वे अपनी मानसिक या आध्यात्मिक उन्नति ही कर सकते हैं। हमारे देश में बहुत से धनवान लोग भी छोटे और गन्दे मकानों में रहते हैं। गृहस्थ-जीवन इस प्रकार के वातावरण में न सुखी ही रह सकता है और न किसी प्रकार की नैतिक उन्नति ही कर सकता है। इसलिए सरकार क दूसरा कर्तव्य यह

है कि वह देखे कि प्रत्येक गृहस्थ एक अच्छे स्वास्थ्यप्रद मकान में निवास करता है या नहीं। इस दशा में बड़े-बड़े शहरों के इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट और म्युनिसिपैलिटियाँ विशेष कार्य कर सकती है।

आन्तरिक अवस्थाएँ—(Internal Conditions)—सुखी गृहस्थ-जीवन के लिए बाह्य अवस्थाओं के अतिरिक्त कुछ ऐसी अवस्थाएँ भी है जो परिवार के आतरिक गुणों से सम्बन्ध रखती है। इन अवस्थाओं मे निम्नलिखित गुणों का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है—

(१) **शिक्षा** (Education)—अच्छा गृहस्थ-जीवन व्यतीत करने के लिए परिवार के प्रत्येक सदस्य का शिक्षित होना परमावश्यक है। शिक्षा के बिना न माता-पिता अपने बच्चों की मनोवृत्ति समझ सकते है और न उनको एक सुसंस्कृत वातावरण मे पाल ही सकते है। शिक्षा के बिना पति और पत्नी का जीवन भी असह्य हो जाता है। शिक्षित माता-पिता न केवल अपने बच्चों को ही ठीक प्रकार की शिक्षा दे सकते है, बल्कि स्वय भी अपने अवशिष्ट समय को पढने-लिखने और दूसरे अच्छे कार्यों में व्यतीत कर सकते है।

(२) **पारस्परिक प्रेम** (Mutual Love)—सुखी गृहस्थ-जीवन के लिए दूसरी महत्वपूर्ण अवस्था पति-पत्नी के पारस्परिक स्नेह की है। यदि पति और पत्नी के स्वभाव एक-दूसरे के प्रतिकूल हो तथा उनके आदर्शों में भिन्नता हो या वे असमान इच्छाएँ रखते हो तो इससे गृहस्थ-जीवन भारस्वरूप हो जाता है। इसलिये विवाह से पहले यह आवश्यक है कि पति-पत्नी एक-दूसरे के स्वभाव से भली-भाँति परिचित हो और वे केवल बाह्य सौंदर्य से ही आकर्षित न होकर, एक-दूसरे के आन्तरिक गुणो को पहचानने का प्रयत्न करें। माता-पिता का भी कर्तव्य है कि वे अपनी सन्तान का उनकी इच्छा के विरुद्ध विवाह-सम्बन्ध न करें। पति और पत्नी के विशुद्ध स्नेह पर ही आदर्श परिवार की नींव पड सकती है।

(३) **सहिष्णुता** (Tolerance)—यदि पति और पत्नी मे किसी प्रकार का भेद-भाव भी हो तो उनका धर्म है कि वे पारस्परिक भेद-भाव का विचार न करके समान आदर्शों पर ही जोर दें। गृहस्थी में न जाने कितनी बार पति और पत्नी का *झगडा होता है और वे एक-दूसरे को सशय की दृष्टि से देखते है।* परन्तु एक कुशल गृहस्थ के लिए आवश्यक है कि वह इन झगडों को शीघ्र ही भूल जाय और गृहस्थ-जीवन को छोटी-छोटी बातों के कारण कलहपूर्ण न होने दे। एक दूसरे के विचारों के प्रति सहिष्णुता गृहस्थ-जीवन की तीसरी बडी आधारशिला है।

(४) **सहयोग** (Cooperation)—गृहस्थी के सारे ही सदस्यों का कर्तव्य है कि वे परिवार के सभी कामों में एक दूसरे को सहयोग दें। यदि किसी परिवार में एक ही आदमी कमाने वाला हो और दूसरे सदस्य शक्ति होने पर भी काम न करें तो इससे गृहस्थ-जीवन कलहपूर्ण हो जाता है। इसलिए परिवार के सारे ही सदस्यों को अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करना चाहिए। पति और पत्नी को भी ठीक तरह से

अपने कार्यों का विभाजन कर लेना चाहिए। यदि पति कमाने का भार सँभाले तो पत्नी का धर्म है कि वह गृहस्थी की दूसरी जिम्मेदारियाँ अपने कंधों पर धारण करे। पत्नी गृहस्वामिनी होती है। बच्चों का लालन-पालन उसका मुख्य कर्तव्य है। परन्तु इस कथन का यह अर्थ कदापि नहीं कि स्त्रियों को घर की चहारदीवारी से बाहर नहीं निकलना चाहिए। वे राजनीतिक और सामाजिक कार्यों में भी भाग ले सकती हैं किन्तु गृह-कार्य छोड़ कर नहीं। यदि गृह-कार्य करने के पश्चात् स्त्रियों को अवकाश मिले तो उन्हें सार्वजनिक कार्यों में भी अवश्य भाग लेना चाहिए।

(५) **छोटा परिवार** (Small family)—सुखी गृहस्थी की एक दूसरी आवश्यक अवस्था यह है कि परिवार के सदस्यों की संख्या अधिक न हो। घर में अधिक बच्चों का होना भी हानिकारक है। इससे न उनको अच्छी शिक्षा ही मिल सकती है और न वह एक अच्छे ढंग से अपना जीवन ही व्यतीत कर सकते हैं। बच्चों के अतिरिक्त एक ही परिवार में इतने अधिक सम्बन्धी नहीं होने चाहिए कि उनमें परस्पर झगड़ा ही होता रहे। घर में चाचा-चाची, ताऊ-ताई, चचेरे भाई आदि अनेक सम्बन्धियों के रहने से गृहस्थ-जीवन सुखी नहीं रहता। इसलिए एक गृहस्थी में केवल माता-पिता, पति-पत्नी और बच्चे ही होने चाहिए जिससे उनका स्नेह-बंधन शिथिल न हो सके।

पारिवारिक सदस्यों के अधिकार और कर्तव्य (Rights and Duties of Family Members),

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व हम परिवार के सदस्यों के अधिकारों और कर्तव्यों का वर्णन करना भी उचित समझते हैं। प्रत्येक परिवार में बच्चों के कुछ अधिकार और कर्तव्य होते हैं। पहले हम उनके अधिकारों का वर्णन करेंगे :—

(१) **लालन-पालन का अधिकार**—बच्चे का सबसे पहले और आवश्यक अधिकार यह है कि उसका लालन-पालन ठीक प्रकार से हो। यदि बच्चे को ठीक प्रकार का भोजन और वस्त्र न मिले तो वह उन्नति नहीं कर सकता और न वह अच्छा नागरिक ही बन सकता है।

(२) **उचित शिक्षा का अधिकार**—बच्चे का दूसरा अधिकार यह है कि उसे उचित प्रकार की शिक्षा दी जाय। शिक्षा मनुष्य और समाज के अच्छे जीवन पर गहरा असर डालती है। अशिक्षित बालक न अपने व्यक्तित्व का ही विकास कर सकता है और न किसी प्रकार की समाज-सेवा।

(३) **न्यायपूर्ण व्यवहार का अधिकार**—बच्चे का तीसरा अधिकार यह है कि वह अपने माता-पिता से न्यायपूर्ण व्यवहार प्राप्त करे; माता-पिता को अपने बच्चों के साथ अन्यायपूर्ण या क्रूर व्यवहार कदापि नहीं करना चाहिए। उनका धर्म है कि वह अपने बच्चों के आन्तरिक गुणों के विकास में सहायता दें और उन्हें अपने ही रूढ़िवादी विचारों में ढालने का प्रयत्न न करें।

(४) समान व्यवहार का अधिकार—माता-पिता को लड़के और लड़कियो में अनुचित भेद-भाव नही रखना चाहिए। उन दोनो का अपना एक अलग व्यक्तित्व होता है। दोनो सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक हैं।

बच्चों के कर्तव्य—माता-पिता की सेवाओं के बदले बच्चो के भी उनके प्रति कुछ कर्तव्य हैं। माता-पिता अपने बच्चो के लिए सब कुछ न्योछावर करने को उद्यत रहते है। बच्चो का धर्म है कि वह अपने माता-पिता की आज्ञा का पालन करें, उनके प्रति आदर-भाव रखें, उनकी हर प्रकार से सहायता करें, बुढापे में उनकी सेवा करें, गृहस्थ के अनुशासन में रहें और परिवार के दूसरे सदस्यो के साथ प्रेम का व्यवहार करें।

योग्यता प्रश्न

१. 'परिवार सामाजिक जीवन का स्थायी स्कूल है।' इस कथन की व्याख्या कीजिए। (यू० पी०, १९३९)

२. 'शिक्षा सम्बन्धी संस्थाओं में परिवार सबसे बड़ी संस्था है।' इस कथन की विवेचना कीजिए। (यू० पी०, १९३६)

३. 'परिवार सब संघों से अधिक महत्वपूर्ण है', इस उक्ति की विवेचना कीजिए। (यू० पी०, १९४०)

४. 'परिवार सब सामाजिक गुणों का शिक्षणालय है', इस कथन पर अपने विचार प्रकट कीजिए। (यू० पी०, १९४२, १९५१)

५. परिवार क्या है? इसके अधिक महत्वपूर्ण कार्य क्या हैं?

६. पारिवारिक जीवन की सफलता के लिए कौन-सी आवश्यक अवस्थाएँ हैं? (पंजाब, १९५६)

७. पारिवारिक जीवन की व्यवस्था का अधार क्या है? संक्षेप में इसके विकास और संगठन पर विचार प्रकट कीजिए।

८. पारिवारिक सदस्यों के अधिक आवश्यक अधिकार और कर्तव्य कौन-कौन से हैं?

९. संयुक्त परिवार प्रणाली पर संक्षिप्त नोट लिखो। (यू० पी०, १९५३)

१०. 'परिवार मनुष्य के सामाजिक जीवन की प्रथम पाठशाला है।' उपरोक्त कथन की व्याख्या कीजिए। (यू० पी०, १९५८)

अध्याय ५

व्यक्ति और उसकी कुछ महत्त्वपूर्ण सामाजिक संस्थाएँ

(Individual And Some Of His Essential Institutions)

समाज का वर्तमान स्वरूप युगों में होने वाले सामाजिक विकास का परिणाम है। मनुष्य ने अपनी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समय-समय पर अनेकों संस्थाओं को जन्म दिया। समय के परिवर्तन के साथ इन संस्थाओं के रूप-रंग और उद्देश्यों में भी परिवर्तन आया। जो संस्थाएँ उपयोगी हुई वे आज तक कायम हैं परन्तु जिनकी उपयोगिता नष्ट हो गई उनका अन्त हो गया।

मानवी संस्थाओं की संख्या इतनी अधिक है कि उनका एक स्थान पर विश्लेषण अत्यन्त दुष्कर है। इस अध्याय में हम केवल उन्हीं संस्थाओं का वर्णन करेंगे जो नागरिक जीवन पर गहरा प्रभाव डालती हैं तथा जिनका ज्ञान नागरिकशास्त्र को समझने के लिए नितान्त आवश्यक है। ऐसी महत्त्वपूर्ण संस्थाएँ ये हैं :—(१) विवाह, (२) शिक्षा, (३) दंड, और (४) संपत्ति।

§ १. विवाह

(Marriage)

स्वभावतः विवाह मानव जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण संस्था है। इस संस्था का इतिहास उतना ही पुराना है जितनी मानव सभ्यता। यह सच है कि समय की प्रगति के साथ-साथ विवाह की प्रथा में अनेक परिवर्तन हुए और आज भी यह विकास निरन्तर जारी है। परन्तु मूल रूप में विवाह मानव के सबसे महत्त्वपूर्ण और स्वाभाविक संघ परिवार की आधार-शिला रही है। सभ्यता के उदय-काल में एक कुल की समस्त स्त्रियाँ दूसरे समूह के समस्त पुरुषों की पत्नियाँ होती थीं। इसके पश्चात् स्त्री-प्रधान परिवारों (Matriarchal Families) का निर्माण हुआ जिनमें एक स्त्री एक साथ कई पतियों से विवाह कर सकती थी। इस प्रथा के अधीन स्त्री ही पारिवारिक जीवन का केन्द्र मानी जाती थी। कुछ काल पश्चात् पितृ-प्रधान परिवारों (Patriarchal Families) का उदय हुआ जिनमें पुरुष को समस्त परिवार के जीवन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त था। इस समय एक पुरुष कई-कई पत्नियाँ रख सकता था। इसके पश्चात् ईसाई धर्म के प्रभाव से एक विवाह प्रथा का जन्म हुआ। आजकल यही विवाह पद्धति सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है, यद्यपि बहुत-सी जातियों में बहुविवाह तथा बहुपति प्रथाएँ आज भी जीवित हैं। हिन्दू और मुसलमान धर्म में भी बहुविवाह की प्रथा मान्य ठहराई गई है।

विवाह के सम्बन्ध में दो विचार सबसे अधिक प्रचलित हैं—एक विचारधारा

के अनुसार जिसे हिन्दू तथा कैथोलिक ईसाई मानते हैं, विवाह दो आत्माओं का आध्यात्मिक मिलन है। विवाह के पश्चात् दो आत्माओं का ऐसा मिलन होता है कि धर्म तथा कानून की दृष्टि में स्त्री और पुरुष को एक इकाई माना जाता है। पत्नी पतिव्रत धर्म का पालन करती है तथा पति पत्नीव्रत धर्म का। इस विचारधारा के अधीन तलाक का अधिकार नही दिया जाता, स्त्री पुरुष की जीवन-संगिनी कहलाती है।

दूसरी विचारधारा के अधीन जिसमें मुसलमान तथा प्रोटेस्टेंट ईसाई विश्वास रखते है, विवाह को एक संविदा या इकरार माना जाता है। यदि पति और पत्नी यह अनुभव करें कि उनका दाम्पत्य-जीवन सुखी नहीं है तो वह एक दूसरे को तलाक देकर अपनी नई शादी रचा सकते हैं। इस विचारधारा के अधीन स्त्री-पुरुष को प्राय बराबर के अधिकार प्राप्त है।

आधुनिक विचार-शैली के अनुसार विवाह का द्वितीय रूप ही अधिक लोकप्रिय हो रहा है, यद्यपि पारिवारिक सुख और शान्ति के लिए तलाक की प्रथा अत्यन्त हानिकर सिद्ध हुई है। एक आदर्श विवाह प्रणाली के अन्तर्गत तलाक का अधिकार केवल कुछ विशेष असह्य अवस्थाओ के अन्तर्गत ही स्वीकार किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त पुरुष और स्त्री को बराबर के अधिकार प्राप्त होने चाहिए तथा एक पति और एक पत्नी के आदर्श का पालन करना चाहिए।

विवाह की संस्था परिवार के नियमन, सृष्टि की उत्पत्ति, संस्कृति के विकास, मानवीय गुणो के उत्थान तथा सभ्यता की प्रगति के लिए आवश्यक है। मानव समाज की यह सबसे उपयोगी संस्था है।

§ २· शिक्षा

(Education)

राष्ट्रीय उत्थान के लिए विवाह के पश्चात् शिक्षा दूसरी महत्त्वपूर्ण संस्था है। हमारे घरेलू जीवन के आदर्श को ऊँचा उठाने के लिए, विचारशील और चतुर नागरिकों की वृद्धि के लिए, बच्चों को सच्ची नागरिकता के वातावरण का क्रियात्मक ज्ञान प्रदान करने के लिए, परिवार और जाति के पारस्परिक सम्बन्ध को सुधारने के लिए, अपनी जन्मभूमि की समृद्धि और संसार की शान्ति के लिए, शिक्षा के अतिरिक्त दूसरा कोई भी उपयोगी और उच्च साधन नहीं हो सकता।

शिक्षा और प्रजातंत्रवादी शासन (Education and Democracy)

साधारण शिक्षा प्रजातन्त्र शासन की जड है। प्रजातन्त्र शासन का अर्थ है 'जनता की, जनता के द्वारा, जनता के हित में सरकार'। इस प्रकार की सरकार को ठीक ढंग से चलाने के लिए लोगों में सदाचार के उच्च आदर्श, सार्वजनिक कार्य करने की उमंग और राजनीतिक ज्ञान की नितान्त आवश्यकता है। शिक्षा के माध्यम

से ही हम अपने नागरिकों में इस प्रकार के गुणों का सृजन और उनका बौद्धिक तथा नैतिक विकास कर सकते हैं।

(१) **शिक्षा अच्छे सामाजिक जीवन की कुंजी है**—यह मनुष्य के अन्दर उन गुणों का संचार करती है जिनके द्वारा वह अच्छा शासक और उपयोगी नागरिक बन सकता है। शिक्षा-संस्थाओं में ही नवयुवक विद्यार्थी अपने जीवन के निर्माण-काल में प्रेम, सेवा, बलिदान आदि गुणों का अर्जन कर सकते हैं, जिनके द्वारा ही प्रजातन्त्रवादी शासन की नींव रखी जा सकती है।

(२) **शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य अपनी भावनाओं को अनुचित मार्ग पर जाने से रोक कर एक अनुशासित जीवन व्यतीत करना सीखता है**—शिक्षा मनुष्य को वासनाओं से मुक्त कर एक प्रगतिशील जीवन व्यतीत करना सिखाती है। वह मनुष्य को देशभक्त, सहयोगी, त्यागी और बुद्धिमान् बनाती है। इस प्रकार वह मानव में उन गुणों का विकास करती है जिनपर आदर्श सामाजिक जीवन आधारित है।

(३) **शिक्षा मनुष्य को जीवन के आर्थिक संग्राम के लिए तैयार करती है**—शिक्षित मनुष्य अपनी जीविका उपार्जन आसानी से कर सकता है। वह अपने काम को अधिक दक्षता के साथ पूरा करता है और इस प्रकार अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए आसानी से सामग्री इकट्ठा कर सकता है।

(४) **शिक्षा मनुष्य को अपने बचे हुए समय को अधिक उपयोगी कार्यों में व्यतीत करने के लिए अनेक अवसर प्रदान करती है**—शिक्षित मनुष्य अपने अवकाश के समय को पढ़ने, लिखने अथवा अपने स्वभाव के अनुकूल दूसरे कामों में लगा सकता है। वह अपने बचे हुए समय में साहित्य का सृजन तथा कला का विकास कर सकता है। इस प्रकार वह अपने मनोरंजन एवं ज्ञान-वृद्धि के साथ समाज की उन्नति भी कर सकता है।

(५) **अन्त में शिक्षा के द्वारा मनुष्य सामाजिक स्वास्थ्य के रहस्यों का भी ज्ञान प्राप्त कर सकता है**—यह ज्ञान प्राप्त कर लेने पर ही मनुष्य अपने और पड़ोसियों के जीवन को अधिक स्वस्थ और सुखी बना सकता है।

शिक्षा किस प्रकार की हो ? (What type of Education should be imparted to Students ?)

(१) शिक्षा किस प्रकार की हो यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास है। इसलिए शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए जिससे मनुष्य, समाज में रहकर प्रगतिशील जीवन व्यतीत कर सके। शिक्षा ऐसी नहीं होनी चाहिए जो मनुष्य को अपरिवर्तनशील बना दे। दूसरे शब्दों में शिक्षा का उद्देश्य हमारे मस्तिष्क को विशाल और हमारे हृदय को सर्वगामी बनाता है। शिक्षा ऐसी न हो जो हमें केवल अपने पूर्वजों की प्रतिमूर्ति बना दे या हमें

पुराने रूढिवादी विचारों में ही विश्वास करना सिखाये। शिक्षा का असली उद्देश्य है मनुष्य के मस्तिष्क को हर प्रकार के विचारों को समझने के योग्य बनाना।

(२) शिक्षा को राजनीतिज्ञों के सिद्धान्तों और आदर्शों के प्रचार का साधन भी नहीं बनाना चाहिए। विद्यार्थियों को सब मतों एव विचारों की शिक्षा देकर स्वतन्त्र रूप से सोचने की शक्ति देनी चाहिए। फासिस्ट देशों मे व्यक्तियों को केवल एक ही प्रकार की शिक्षा दी जाती है। ऐसा करना उचित नही।

इस प्रकार केवल वही शिक्षा जिसके द्वारा निम्नलिखित उद्देश्यों की प्राप्ति हो सके और जिससे उपर्युक्त भय दूर किये जा सकें, प्रजातान्त्रिक सगठन की सफलता के लिए आवश्यक है।

शिक्षा का सच्चा उद्देश्य (True Aim of Education)

सच्ची शिक्षा का अर्थ मानव जीवन का सर्वागीण विकास है। इसलिए उसे निम्नलिखित परिणामों की प्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए --

(१) **व्यक्तित्व का सर्वतोमुखी (सर्वांगीण) विकास**—शिक्षा का सच्चा उद्देश्य जीवन के एक पहलू का नही वरन् सब पहलुओं का विकास है। उससे पूरे व्यक्तित्व का उदय होता है। इसलिए वास्तविक शिक्षा केवल साहित्यिक ही नही वरन् शारीरिक, नैतिक और आध्यात्मिक भी होनी चाहिए।

(२) **आलोचनात्मक दृष्टिकोण**—शिक्षा सस्थाओं को विद्यार्थियों पर, जैसा पहले भी कहा जा चुका है, कुछ विशेष विश्वास या सिद्धान्त नही लादने चाहिए। उसका लक्ष्य विद्यार्थी के मस्तिष्क में सत्य के खोज की लालसा उत्पन्न करना होना चाहिए।

(३) **आर्थिक संघर्ष की क्षमता**—शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए जो हमें अपने जीवन-निर्वाह के योग्य बना सके। यह तभी सम्भव हो सकता है जब समाज के आर्थिक जीवन के अनुसार ही शिक्षा का स्वरूप निश्चित किया जाय। उदाहरण के लिए भारतवर्ष में कृषि और छोटे-मोटे उद्योग-धन्धों की शिक्षा दी जानी चाहिए। इसका परिणाम यह होगा कि विद्यार्थी स्कूल से अलग होकर इन उद्योग-धन्धों में लग सकेंगे।

(४) **श्रम का आदर**—शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् शारीरिक या मानसिक किसी भी प्रकार का कार्य करने के प्रति अरुचि नही होनी चाहिए। प्राय देखा जाता है कि शिक्षित विद्यार्थी हाथ से काम करने में आदर की कमी का अनुभव करते हैं। उदाहरणार्थ वह खेती करना या मिस्त्री का काम करना पसद नहीं करते। यह उचित नही। हमें श्रम की महिमा का पाठ सीखना चाहिए।

(५) **मानव-व्यक्तित्व की महत्ता**—शिक्षा के द्वारा नवयुवकों को मानव-व्यक्तित्व की आवश्यक महत्ता को भली-भाँति समझना चाहिए। शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिसके द्वारा जाति, वर्ण, राष्ट्र अथवा लिंग के भेद-भाव मिट जायें और सारा समाज सहयोग की शृखलाओं में जकड जाय।

(६) ज्ञान की वृद्धि—शिक्षा इस प्रकार की दी जानी चाहिए जिसके द्वारा मनुष्य सारे मानव समाज के संचित ज्ञान को न केवल प्राप्त ही कर सके, वरन् खोज के द्वारा उसकी अधिकाधिक उन्नति भी कर सके।

प्रारम्भिक शिक्षा (Primary Education)

राज्य का सबसे आवश्यक कर्त्तव्य यह है कि वह देश के सभी नागरिकों को अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान करे। अच्छे सामाजिक जीवन के लिए पढ़ना, लिखना और गणित का साधारण ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना मनुष्य को अपने जीवन की प्रत्येक अवस्था में अनन्त कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उसमें साधारण पत्र लिखने की भी योग्यता नहीं रहती। वह दूसरों की चालों और धूर्ततापूर्ण व्यवहार से अपनी रक्षा नहीं कर सकता। वह समाचार-पत्र नहीं पढ़ सकता और इस प्रकार संसार में जो कुछ हो रहा है उसका ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। प्रारम्भिक शिक्षा से मानव में सहानुभूति और ज्ञान की वृद्धि होती है, शिल्पकला का विकास होता है और सहयोग की भावना बढ़ती है। पाठशाला में बालक अपने स्वभाव को एक भिन्न वातावरण के अनुकूल बनाना सीखता है। वह पाठशाला के वातावरण में अधिक विनम्र और आज्ञाकारी बनना तथा खेल के मैदान में स्वस्थ जीवन व्यतीत करना सीखता है।

अध्यापकों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि विद्यार्थियों को शारीरिक दण्ड देकर उनके हृदय में भय न उत्पन्न करें। बच्चों को अपने स्कूल में किसी डर के कारण नहीं, वरन् प्रेम के कारण आना चाहिए। अध्यापकों को बच्चों से अधिक से अधिक घनिष्ठ संबंध स्थापित करके उनके हृदय में ज्ञान के प्रति सच्चा प्रेम उत्पन्न करना चाहिए। बच्चों पर किसी वस्तु के बलपूर्वक लादने से उनके सदाचार की उन्नति नहीं हो सकती। सच्ची शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य विद्यार्थियों को सदाचारी बनाना है।

मौलिक शिक्षा (Basic Education)

भारतवर्ष में शिक्षा सम्बन्धी 'वर्धा-योजना' ने, जिसे संसार के सर्वश्रेष्ठ नेता महात्मा गांधी ने प्रस्तुत किया, इस देश की समस्त आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में क्रांति उत्पन्न कर दी है। यह मौलिक शिक्षा चार सिद्धान्तों पर अवलम्बित है।

प्रथम सिद्धान्त यह है कि शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य होनी चाहिए और उसे सात वर्ष तक जारी रखना चाहिए। दूसरा यह कि शिक्षा विद्यार्थी पर बलपूर्वक नहीं लादनी चाहिए। शिक्षा इस प्रकार दी जानी चाहिए कि बच्चा काम करते-करते ही उसे ग्रहण कर ले और वह भी इसलिए कि उसकी ज्ञान-प्राप्त करने की अपनी इच्छा हो। तीसरे, शिक्षा का माध्यम विद्यार्थी की मातृभाषा होनी चाहिए, और चौथे शिक्षा स्वावलम्बी होनी चाहिए।

वर्धा योजना, जैसे ऊपर बताया जा चुका है, बच्चों को शिक्षा प्रदान करने के लिए

सात वर्ष के समय की सीमा निर्धारित करती है। इस समय के अन्दर यह आशा की जाती है कि बच्चा गणित, विज्ञान, भाषा, साहित्य, साधारण ज्ञान, इतिहास, भूगोल, चित्रकारी आदि का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त वह किसी ऐसे धन्धे में भी दक्षता प्राप्त कर सकता है जो आगे चलकर उसे अपनी जीविका कमाने मे सहायक बन सके।

इस शिक्षा के स्वावलम्बी सिद्धान्त की इसलिए आलोचना की गई है कि यह हमारी शिक्षा सबधी संस्थाओं को कारखानों का और विद्यार्थियों को श्रमिकों का रूप दे देगी। परन्तु महात्मा गाधी का कथन था कि भारतवर्ष जैसे निर्धन देश में चालीस करोड़ जनता को शिक्षा देने का केवल एक ही उपाय है और वह यह कि बच्चे अपनी शिक्षा का व्यय स्वयं वहन करें। आजकल मौलिक शिक्षा के स्वावलम्बी अग पर अधिक जोर नहीं दिया जाता। सरकार ही इस शिक्षा का सारा व्यय उठाती है। इस योजना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें काम करने और काम के द्वारा ही विद्या प्राप्त करने पर अधिक जोर दिया जाता है। वर्धा की शिक्षा सम्बन्धी योजना के सभापति डाक्टर जाकिर हुसेन थे। उन्होंने अपने एक व्याख्यान में कहा था—"मौलिक शिक्षा बच्चों को जिस प्रकार की शिक्षा देना चाहती है वह यह है कि विद्यार्थी नैतिक सिद्धान्तों को अच्छी तरह समझ जायें। मौलिक स्कूलों को नैतिक संस्थाओं का रूप धारण करना होगा। जिस स्कूल में कार्य द्वारा शिक्षा देने का प्रबन्ध हो उसमें विद्यार्थियों में नैतिक शिक्षा और कला सम्बन्धी आदर के भाव स्वयं जागृत हो जाते है। इन्ही संस्थाओं के द्वारा योग्य नागरिक, नैतिक दृष्टि से योग्य पुरुष बन सकते है।"

सार्वभौमिक शिक्षा का महत्त्व (Importance of Universal Education)

सार्वभौमिक शिक्षा के द्वारा ही समान सांस्कृतिक आदर्श प्राप्त किये जा सकते है। शिक्षा द्वारा वे गलत धारणायें भी दूर की जा सकती हैं जिनमें से अधिकांश वर्तमान बुराइयों का कारण बनी हुई है। शिक्षा किसी भी श्रेणी या राष्ट्र की बपौती बनाकर नहीं रखी जा सकती, वह तो जनसाधारण के मानसिक विकास की कुजी है। प्रत्येक व्यक्ति और राष्ट्र को पूर्ण अधिकार है कि वह अच्छी से अच्छी शिक्षा प्राप्त कर सके। यह राष्ट्रीय सदाचार के उत्थान की जड है। वह व्यक्ति के मस्तिष्क और बुद्धि के विकास की नीव है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह बड़ा हो या छोटा, अमीर हो या गरीब, शिक्षा पाने का पूर्ण अधिकार है। शिक्षा सच्चे प्रजातन्त्रात्मक शासन की जड है। शिक्षा के बिना मनुष्य पशु के समान है। शिक्षारहित देश ससार में असभ्य और जगली राष्ट्र कहलाते है। सच्ची शिक्षा से मनुष्य का दभ, आपसी झगड़े, विशेषाधिकार की माँग, ऊँच-नीच की भावना और इसी प्रकार की दूसरी बुराइयाँ नष्ट हो जाती है जिनके कारण कोई भी समाज उन्नति नहीं कर सकता। सार्वभौमिक-शिक्षा ही ससार के भिन्न-भिन्न राष्ट्रों को एकता और प्रेम के सूत्र मे बाँधकर, लड़ाई और अन्तर्राष्ट्रीय द्वेष-भाव को सदा के लिए इस पृथ्वी से मिटा सकती है। परन्तु इन सबके लिए आवश्यक है कि

शिक्षा सच्ची और आदर्श शिक्षा हो। क, ख, ग का ज्ञान और थोड़ा-बहुत गणित जान लेने से मनुष्य शिक्षित नहीं कहलाता। शिक्षा का अर्थ है मनुष्य के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास।

माध्यमिक और उच्च शिक्षा (Secondary and Higher Education)

प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर लेने के पश्चात् अधिक योग्य विद्यार्थियों को राज्य के द्वारा हाईस्कूल और कालेजों में अपनी शिक्षा जारी रखनी चाहिए। इसी अवस्था में विद्यार्थी स्वतन्त्र रूप से विचार करने और अधिक साहित्य पढ़ने के आदी बन सकते हैं। इसी अवस्था में परीक्षाएँ होनी चाहिए। इन परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने के पश्चात् विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए विश्वविद्यालयों में प्रवेश करने का अवसर मिलना चाहिए।

डिग्री कालेजों या विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों को विभिन्न विभागों में ज्ञान प्राप्त करने की सुविधाएँ देनी चाहिए। विभिन्न विश्वविद्यालयों को विभिन्न विषयों के पढ़ाने में विशेषता प्राप्त करनी चाहिए। उन्हें इस प्रकार के योग्य व्यक्ति तैयार करने चाहिए जो राज्य के प्रधान पदों पर कार्य करने की पर्याप्त योग्यता रखते हों। इसके अतिरिक्त उन्हें विशेष ज्ञान-प्राप्त व्यक्तियों को देश को समर्पित करके उसे अधिकाधिक समृद्धिशाली बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। विश्वविद्यालयों को अपने ज्ञान की सीमा को अन्वेषण, निरीक्षण, प्रयोग, अध्ययन और विचार द्वारा अधिकाधिक विस्तृत बनाना चाहिए। उन्हें देश के ज्ञान के संरक्षक का कार्य करते हुए अपने देशवासियों को प्रकाश और ज्ञान प्रदान करना चाहिए।

औद्योगिक शिक्षा (Technical Education)

राज्य का कार्य बच्चों को लिखने-पढ़ने की शिक्षा पर ही समाप्त नहीं हो जाता। इसके अतिरिक्त उसे देश के नागरिकों को वैज्ञानिक और औद्योगिक शिक्षा भी देनी चाहिए। साहित्यिक शिक्षा से मनुष्य की मानसिक शक्तियों का विकास होता है। वैज्ञानिकों के लिए भी यह बहुत आवश्यक जान पड़ता है, क्योंकि ऐसा होने पर वे वैज्ञानिक बातों को बहुत शीघ्र समझ सकते हैं। औद्योगिक ज्ञान प्राप्त कर लेने पर मनुष्य धनोपार्जन कर सकता है और राज्य का आवश्यक और सन्तुष्ट नागरिक बन सकता है।

भारतवर्ष की दशा—भारतवर्ष में २०० वर्ष के ब्रिटिश साम्राज्य के पश्चात् भी केवल दस प्रतिशत व्यक्ति ही शिक्षित हुए। विदेशी शासन की असफलता का इससे अधिक और क्या ज्वलन्त प्रमाण हो सकता है? यदि देश स्वतन्त्र हो तो शिक्षा के क्षेत्र में जनता चाहे कितनी पिछड़ी हुई क्यों न हो, सरकार ५ या १० वर्ष के काल ही में देश की कायापलट कर सकती है। रूस और जापान का उदाहरण हमारे सामने है। सन् १९१८ तक रूस की ९० प्रतिशत जनता अशिक्षित थी परन्तु इसके पश्चात् केवल १० वर्ष के अन्दर ही रूस की ९० प्रतिशत जनता शिक्षित हो गई। जापान

में भी यही हुआ। आज भारत भी स्वतन्त्र है और वह कार्य, जिसे हमारे अंग्रेज शासक १०० वर्षों में न कर सके, हमारी राष्ट्रीय सरकार कुछ ही वर्षों में कर देना चाहती है। उत्तर प्रदेश और अन्य प्रान्तों की सरकारें इस ओर विशेष कदम उठा रही है। सन् १९५२ की जनगणना के अनुसार साक्षरों की संख्या १२ प्रतिशत से बढ़कर १८ प्रतिशत हो गई है। आशा है, अगले १०-१५ वर्षों में सारी जनता साक्षर हो जायगी।

हमारे देश के शिक्षा-अधिकारियों के सामने एक दूसरी समस्या भी है और वह यह कि भारतवर्ष की अंग्रेजी काल की शिक्षा-प्रणाली मे सुधार किया जाय। इस पुरानी शिक्षा-प्रणाली से देश के नवयुवकों का न चरित्र-निर्माण ही होता था और न वे स्कूलों और कालेजों से निकलकर किसी प्रकार का स्वतन्त्र व्यवसाय ही कर सकते थे। यह शिक्षा केवल अंग्रेजों के सहायतार्थ एक क्लर्कों की श्रेणी उत्पन्न करने का काम देती थी। भारत के वातावरण और उसकी आवश्यकताओं के यह सर्वथा विपरीत थी। आज हमारी राष्ट्रीय सरकार इस शिक्षा-प्रणाली को ऊपर से नीचे तक बदलने का प्रयत्न कर रही है। शिक्षा का पुराना ढाँचा इतना दूषित है कि उसमें जहाँ-तहाँ परिवर्तन करने से काम नहीं चल सकता। किसी देश की शिक्षा प्रणाली उस देश की जनता की आवश्यकताओं के अनुकूल होनी चाहिए। हमारे देश में जिस प्रकार की शिक्षा प्रणाली की आवश्यकता है वह यह है कि शिक्षा इस प्रकार की हो जो प्रत्येक भारतवासी के हृदय में देश-प्रेम और स्वतन्त्रता का बीज बो सके और उन्हें स्वावलम्बी बना सके। उचित प्रकार की शिक्षा पर ही हमारे देश का भविष्य निर्भर है।

३. दण्ड (Punishment)

सामाजिक जीवन की तीसरी आवश्यक संस्था दण्ड है। राज्य का कार्य समाज में अनुशासन रखना और नागरिकों के कार्यों को शिक्षा और दण्ड रूपी दो शस्त्रों के द्वारा नियन्त्रित करना है। शिक्षा के द्वारा नागरिकों को उनके अधिकार और कर्तव्यों का वास्तविक ज्ञान कराया जाता है जिससे वे अपने अधिकारों को समझकर अपने कर्तव्यों का शान्तिपूर्वक पालन कर सकें। दण्ड के द्वारा ऐसे नागरिकों पर नियन्त्रण रक्खा जाता है जो अपने कर्तव्यों का पालन स्वयं नहीं करते और दूसरों के अधिकारों पर आक्रमण करते है।

दंड की व्याख्या—हम दण्ड की व्याख्या इस प्रकार कर सकते हैं कि दण्ड ऐसे व्यक्ति के अधिकारों का, उसे विशेष कष्ट देकर अथवा बिना कष्ट दिये, अपहरण करना है जो दूसरे मनुष्यों अथवा सारे समाज के अधिकारों की अवहेलना करता हो।

दंड का प्रयोजन (Purpose of Punishment)

समाज का प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने ही कर्तव्यों का पालन करे, दूसरे के अधिकारों को छीनने का प्रयत्न न करे, यही दण्ड का प्रयोजन है। हम पहले बता चुके है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की अधिक से अधिक उन्नति उसी अवस्था

में कर सकता है जब समाज द्वारा उसे जीवन की विशेष सुविधाएँ प्राप्त हों। इन सुविधाओं का नाम ही 'मनुष्य के अधिकार' हैं। मुझे शिक्षा प्राप्त करने, घर बसाने और अपने विचारों को दूसरों पर व्यक्त करने आदि की सुविधाओं का प्राप्त होना ही मेरे अधिकारों की प्राप्ति है। मनुष्य को समाज में रहकर यह अधिकार केवल उसी दशा में प्राप्त हो सकते हैं जब वह अपने कर्त्तव्यों का पालन करे; दूसरे शब्दों में जब वह दूसरे मनुष्यों के अधिकारों की अवहेलना न करे। प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह दूसरे के अधिकारों की भी उतनी ही रक्षा करे जितनी वह स्वयं अपने अधिकारों की करता है। समाज में दण्ड की व्यवस्था का प्रयोजन केवल यही है कि यदि कोई व्यक्ति दूसरे मनुष्यों को उनके अधिकारों से वंचित करने का प्रयत्न करे तो उसे शारीरिक, मानसिक अथवा आर्थिक क्षति पहुँचाकर ऐसा करने से रोका जाय।

दंड के सिद्धान्त (Theories of Punishment)

दण्ड के उद्देश्यों के सम्बन्ध में तीन भिन्न-भिन्न सिद्धान्त हैं:—(१) **प्रतिशोधक-सिद्धान्त** (Retributive Theory), (२) **भयावह-सिद्धान्त** (Deterrent Theory) और (३) **सुधारक-सिद्धान्त** (Reformatory or Curative Theory)

(१) **प्रतिशोधक-सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड किसी व्यक्ति के सामाजिक नियमों के विरुद्ध आचरण करने का स्वाभाविक परिणाम है। अपराधी इस प्रकार का कार्य कर समाज के नैतिक जीवन को ठेस पहुँचाता है। दण्ड इस प्रकार के आचरण का मूल्य है। बाइबिल में कहा है, 'पाप का वेतन मौत है।' प्रतिशोध सिद्धान्त में इसी आधार पर दण्ड दिया जाता है। 'जैसा करोगे वैसा पाओगे'—यही इस सिद्धान्त का आधार है। जिस प्रकार बीमार के लिए दवाइयाँ आवश्यक हैं, उसी प्रकार अपराधी के लिए दण्ड की व्यवस्था अनिवार्य है। दण्ड अपराध का मूल्य है। अपराधी अपने कृत्य द्वारा सामाजिक संगठन को अस्त-व्यस्त करता है। इसलिए समाज उसे, उसके कृत्य का, दंड द्वारा बदला देता है। इस सिद्धान्त के अनुसार अपराधी स्वयं अपने नैतिक विकास के लिए दण्ड को सहर्ष स्वीकार करता है। वह भविष्य में ऐसा कार्य न करे, इसलिए दण्ड की व्यवस्था है।

दूसरी दृष्टि से इस सिद्धान्त पर हम इस प्रकार विचार कर सकते हैं कि जिस व्यक्ति के साथ अन्याय किया गया है उसे अन्याय करनेवाले से बदला लेने का अधिकार है। बिना बदला लिये उसकी व्यथित भावनाएँ संतुष्ट नहीं होतीं। उसकी न्याय की भावना तब तक शान्त नहीं होती जब तक कि वह आँख के बदले आँख, कान के बदले कान और दाँत के बदले दाँत नहीं निकाल लेता। इसलिए राज्य का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह सताये हुए मनुष्य की क्षति-पूर्ति सताने वाले मनुष्य को कुछ दण्ड देकर करे। दण्ड के इस सिद्धान्त के अनुसार सताये हुए व्यक्ति की त्रस्त-भावना को शान्त करने के लिए ही दण्ड दिया जाता है।

प्राचीन समय में अपराधियों को दण्ड देने के लिए इस सिद्धान्त का प्रयोग किया जाता था। किंतु वर्तमान समय में इस सिद्धान्त के नैतिक मूल्य को छोड़कर शेष दिशाओं मे इसे निकम्मा समझा जाता है, क्योंकि दण्ड का उद्देश्य समाज मे बर्बरता को बढाना नही, उसको कम करना है। अपराधियों को दण्ड इसलिए देना चाहिए कि वे भविष्य में फिर कभी इस प्रकार का कार्य न करें और उनको दिये गये दण्ड से जनता के दूसरे लोग यह शिक्षा ग्रहण करें कि यदि उन्होंने भी इसी प्रकार का कार्य किया तो उनकी भी यही दशा होगी। दण्ड देने का अधिकार किसी व्यक्ति को नही समाज को होना चाहिए, क्योंकि व्यक्ति को वे अधिकार जिनकी अवहेलना के लिए दण्ड दिया जाता है, समाज द्वारा ही प्राप्त होते हैं।

(२) भयावह-सिद्धान्त—दंड का एक दूसरा सिद्धान्त है जिसे भयावह-सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार अपराधी को दण्ड इसलिए दिया जाता है कि वह स्वयं या उसी प्रकार के दूसरे अपराधी भविष्य में अपराध न करें। इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड बहुत कड़ा और बहुत अधिक मात्रा मे दिया जाता है। अपराध के विचार से उसकी मात्रा आवश्यकता से अधिक रहती है। इस प्रकार के दण्ड देने का उद्देश्य यह होता है कि समाज के समान विचारवाले दूसरे मनुष्य सावधान हो जायँ और भविष्य में ऐसे अपराध न करें। इस दण्ड का उद्देश्य नागरिकों के हृदय में भय उत्पन्न करना होता है जिससे कि समाज का कोई व्यक्ति ऐसे अपराधों की पुनरावृत्ति करने की कल्पना तक न कर सके।

(३) सुधारक-सिद्धान्त—दण्ड का एक तीसरा भी सिद्धान्त है जिसे सुधारक-सिद्धान्त कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार समाज में अपराध केवल उसी अवस्था में होते है जब मनुष्यों को ठीक प्रकार की शिक्षा न दी जाय या सामाजिक संगठन अन्यायपूर्ण हो या समाज के कुछ व्यक्तियों के मस्तिष्क में कोई खराबी हो। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत अपराधी को दण्ड देने की अपेक्षा, अपराध किसलिए किया गया है, इसका क्या कारण हो सकता है, क्या अपराध का कोई सामाजिक कारण है या वैयक्तिक, इत्यादि बातों पर विचार किया जाता है। सुधारक-सिद्धान्त में विश्वास रखनेवाले दार्शनिकों का ऐसा मत है कि समाज में अधिकतर अपराध इस कारण से होते है कि अपराधियों के मस्तिष्क म किन्ही कारणों से कोई ऐसा दोष आ जाता है जिसके कारण वह समाज के दूसरे सभ्य नागरिकों की भाँति आचरण नही कर पाते और कुछ न कुछ पाप कर डालते हैं। ऐसे अपराधियों को यदि उपयुक्त वातावरण में रखकर ठीक प्रकार की शिक्षा दी जाय तो ऐसे लोग समाज के दूसरे लोगों की भाँति ही उपयोगी नागरिक बन सकते हैं। भयावह-सिद्धान्त के अनुसार अपराधियों को दण्ड देने से वह और भी भयानक अपराधी बन जाते है। जेल के दूषित वातावरण में पड़कर अपराधियों में प्रायश्चित्त की भावना नही, वरन् प्रतिशोध की भावना जागृत हो जाती है। सुधारक-सिद्धान्त के अनुसार अपराधियों के साथ ठीक उसी प्रकार व्यवहार किया जाता है जैसा कोई डाक्टर अपने रोगी के साथ करता है। अपराध भी एक रोग है और अपराधियों के रोग को समझकर उसका इलाज करना चाहिये। सुधारक-सिद्धान्त के अनुसार अपराधियों

को बन्दीगृहों में नहीं सुधारक-गृहों में रखना चाहिए जहाँ धार्मिक और औद्योगिक शिक्षा द्वारा वे समाज के उपयोगी सदस्य बन सकें। हमारे देश के महान् नेता महात्मा गांधी भी इसी सिद्धान्त में विश्वास रखते थे।

आधुनिक-सिद्धान्त—दण्ड का आधुनिक सिद्धान्त उपर्युक्त सिद्धान्तों के गुणों में एकीकरण का प्रतिफलन है। यह इन सिद्धान्तों की सारी ही अच्छी बातों को स्वीकार करता है। प्रतिशोधक-सिद्धान्त का प्रयोग दीवानी मुकदमों में किया जाता है, भयावह-सिद्धान्त का प्रयोग पुराने और कट्टर अपराधियों के साथ किया जाता है और सुधारक सिद्धान्त का उपयोग बालक और प्रथम अपराधियों के साथ व्यवहार करने में किया जाता है। दण्ड देने के समय अपराधी की अवस्था, उसकी चाल-चलन, उसका कुल, उसका सामाजिक रहन-सहन, अपराध का स्वरूप, उसका उद्देश्य, उत्तेजना की मात्रा, इत्यादि अनेक बातों को ध्यान में रक्खा जाता है। बालक अपराधियों को सुधारक-गृहों (Reformatories) में रखा जाता है। प्रथम अपराधियों को उचित चेतावनी देकर छोड़ दिया जाता है और पुराने कट्टर अपराधियों को घोर कारावास का दण्ड दिया जाता है। कभी-कभी मृत्यु-दण्ड भी दिया जाता है। दण्ड पर्याप्त और उचित है या नहीं इसकी परीक्षा समाज की भलाई से की जाती है।

मृत्यु दंड का प्रश्न (Capital Punishment)

दण्ड के सम्बन्ध में नागरिकशास्त्र की एक कठिन समस्या यह है कि क्या अपराधी को किसी अवस्था में मृत्यु-दण्ड की सजा देना उचित है या अनुचित? इस प्रश्न पर विचार करने के पूर्व यह जान लेना अप्रासंगिक न होगा कि इस सजा का इतिहास कितना पुराना है।

इतिहास—मृत्यु-दण्ड का इतिहास इतना ही पुराना है जितनी सभ्यता की कहानी। प्राचीन काल में तलवार से गर्दन काट कर वध कर देना मामूली बात मानी जाती थी। कुछ देशों में आदमी को सूली पर लटका कर मार डालने की भी प्रथा थी। हजरत ईसा को इसी तरह फाँसी दी गई थी।

फाँसी देने की सबसे लोमहर्षक प्रथाएँ मध्य युग में मिलती हैं। सत्रहवीं शताब्दी में स्पेन में राज्य के विरुद्ध बगावत करने वालों को कँपा देने वाले ढंग से फाँसी दी जाती थी। अपराधी की बाँहों और जाँघों में तलवार से लम्बे-लम्बे घाव कर दिये जाते थे। फिर उसे एक तख्ते पर लिटा कर घावों में शीशा भर दिया जाता था। उसे औषधियाँ पिला कर सजा भुगतने के लिए होश में भी रखा जाता था। इसके बाद उसका अंग-प्रत्यंग काट डाला जाता था। इटली में ऐसे अपराधियों को लोहे की सन्दूक में रख कर उसका पल्ला गिरा दिया जाता था। पल्ले में बड़ी-बड़ी कीलें होती थीं। ये कीलें पाँचवें दिन से अपराधी के शरीर में चुभतीं क्योंकि संदूक का ढक्कन एक बार गिरा दिया जाने पर आठवें दिन पूरी तरह नीचे आता था। फलतः अपराधी की मौत आठवें दिन होती थी।

आधुनिक युग में फ्रांस की गिलोटिन से फाँसी देने की प्रथा जगत्प्रसिद्ध है। फ्रांस की राजक्रांति में वहाँ के राजा और रानी को इसी तरह फाँसी दी गई थी। गिलोटिन में अपराधी का सिर काठ की वेदी पर रख दिया जाता है और इसके बाद ऊपर से फलदार कुल्हाडा गिराया जाता है। इससे एक ही वार में अपराधी का काम तमाम हो जाता है। फौज में तो अपराधी को प्राणदण्ड देने का तरीका यह है कि उसे गोली से उड़ा दिया जाता है। जेलों में रस्सी से गला घोंट कर मार डालने की प्रथा है। अमेरिका में बिजली की कुर्सी पर बैठा कर अपराधी को फाँसी दी जाती है।

औचित्य—फाँसी के दण्ड देने का उद्देश्य यही होता है कि जैसा अपराध सजा पाने वाले व्यक्ति ने किया है वैसा अपराध अन्य व्यक्ति न करें। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि फाँसी की सजा भयावह-सिद्धान्त (Deterrent theory) पर आधारित है। इस सजा के पक्ष में जो दलीलें दी जाती है, वे इस प्रकार हैं —

लाभ—(१) फाँसी का दण्ड भावी अपराधियों को बराबर भयभीत रखता है और उन्हें अनुचित कार्य करने से रोकता है।

(२) यदि फाँसी की सजा हटा दी जायगी तो समाज में अपराधी की संख्या बढ़ जायगी।

(३) यदि कोई खून करता है तो उसका बदला खून ही है।

हानि—फाँसी की सजा दिये जाने के विरुद्ध आधुनिक युग में अंग्रेज विचारक बेंथम ने आवाज उठाई थी। टामस हिल ग्रीन भी फाँसी की सजा के विरुद्ध था। ग्रीन का कहना था कि फाँसी तभी दी जानी चाहिए जब अपराधी के सुधरने की कोई आशा ही न रह जाय। गांधी जी भी फाँसी की सजा के विरोधी थे। जो विचारक फाँसी की सजा को अनुचित समझते हैं उनका कहना है कि (१) जिस प्रकार बालक को पीटने से वह ढीठ हो जाता है उसी प्रकार समाज के अपराधी भी फाँसी के कारण ढीठ हो जाते हैं। ऐसे लोगों को बहुधा यह कहते सुना जाता है कि "अच्छा-अच्छा, बहुत होगा तो फाँसी ही हो जायगी न।" इसलिए यह सोचना कि फाँसी की सजा से लोग उन अपराधों को नहीं करेंगे जिनके कारण फाँसी दी जाती है, भूल है। समाज में इतने दिनों से हत्या के लिए फाँसी का दण्ड निर्धारित है लेकिन अभी तक फाँसी के भय से हत्याओं का होना नहीं रुका है। (२) अपराधों की संख्या का घटना-बढ़ना फाँसी की सजा होने पर निर्भर नहीं करता, अपितु इस पर निर्भर करता है कि लोगों के नैतिक आदर्श क्या है, उनका चरित्र कैसा है और उनमें मानवीय गुणों का विकास कितना हुआ है। (३) 'खून का बदला खून' यह सिद्धान्त मनुष्य की सामान्य पशुवृत्तियों का परिचायक है। उसकी क्षमाशीलता, दया और अक्रोध जैसे महान् गुणों का दर्शन इस सिद्धान्त में नहीं होता। (४) फाँसी का दण्ड सभी आधुनिक सुधारवादी दण्ड सिद्धान्तों के विरुद्ध है। आधुनिक दण्ड व्यवस्था का मूलाधार यह है कि अपराधों का तो नियन्त्रण किया जाय, साथ ही अपराधी का सुधार भी हो, लेकिन जिस अभागे अपराधी को एक बार फाँसी दे दी जाती है उसके फिर सुधरने

की कोई सम्भावना ही नहीं रहती। (५) यदि शासक किसी को जीवन दे नहीं सकते तो उन्हें जीवन हरण का भी कोई अधिकार नहीं है। (६) मृत्यु-दण्ड से अपराधी के परिवार को भारी यातना का सामना करना पड़ता है जो उचित नहीं। (७) फाँसी का दण्ड यदि भूल से किसी निरपराधी को दे दिया जाय तो फिर भूल का पता लगने पर भी उस व्यक्ति के साथ न्याय नहीं किया जा सकता। (८) प्रायः देखा गया है कि बहुत से भले आदमी, किसी विशेष परिस्थिति में, किसी का खून कर डालते हैं या उन्हें सख्त चोट पहुँचा बैठते हैं। बाद में वह अपने कृत्य के लिए पश्चात्ताप करते हैं। ऐसे व्यक्तियों को भी न्यायालय द्वारा मृत्यु-दण्ड दिया जा सकता है, जो किसी भी प्रकार उचित नहीं।

सारांश—इन्हीं सब कारणों से इंगलैंड में फाँसी की सजा के विरुद्ध कानून बना दिया गया है। अन्य देश भी इस दिशा में क्रमशः कदम बढ़ा रहे हैं। जरमनी में सन् १९४९ में फाँसी की सजा बन्द कर दी गई थी, परन्तु अब उसे दोबारा चालू करने का विचार किया जा रहा है। स्विट्जरलैंड, बेलजियम, नार्वे, हालैंड, स्वीडन और डेनमार्क में भी मत्यु-दण्ड की सजा समाप्त कर दी गई है।

४. सम्पत्ति
(Property)

शिक्षा और दण्ड की भाँति सम्पत्ति भी मानव-समाज की अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्था है। अनादि काल से मानव-जीवन के विकास में इसने महत्वपूर्ण योग दिया है। निजी सम्पत्ति का अर्थ वस्तुओं के उपयोग तथा बेचने के अधिकार से है। किसी सम्पत्ति का अधिकार हमारे उस पर केवल अधिकार कर लेने से ही नहीं हो जाता, उस पर समाज की स्वीकृति आवश्यक है। यदि सरकार अपनी शक्ति द्वारा हमारी सम्पत्ति की रक्षा न करे, तो उसका अस्तित्व ही कायम नहीं रह सकता। इसलिए हम केवल ऐसी ही सम्पत्ति को अपनी निजी सम्पत्ति कह सकते हैं जो राज्य के कानून द्वारा हमारी सम्पत्ति स्वीकार कर ली गई हो तथा जिसे उपभोग करने एवं अलग करने का हमें पूर्ण अधिकार हो।

सम्पत्ति की उत्पत्ति—सम्पत्ति की उत्पत्ति कब हुई, इस विषय में कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इतना अवश्य है कि यह प्रथा अत्यन्त प्राचीन है।

कुछ लेखकों का मत है कि निजी सम्पत्ति की प्रथा उतनी ही प्राचीन है जितनी सांसारिक युद्ध की प्रथा। सभ्यता के प्रारम्भ में विजेता लोग पराजित लोगों की भूमि तथा उनकी सम्पत्ति पर कब्जा कर लेते थे। युद्ध की लूट का सामान सैनिकों में बाँट दिया जाता था। इस प्रकार निजी सम्पत्ति की प्रथा का जन्म हुआ।

प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक लॉक (Locke) का मत है कि निजी सम्पत्ति का जन्म उस समय हुआ जब मनुष्य धन की उत्पत्ति के लिए अपने परिश्रम को प्रकृति की स्वतन्त्र

देन से मिश्रित करने लगा। यह सिद्धान्त सम्पत्ति का उत्पादन अथवा श्रम-सिद्धान्त कहलाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि निजी सम्पत्ति की संस्था बहुत प्राचीन है। सम्भवत. वह वर्तमान राज्य से भी अधिक प्राचीन है। वर्तमान राज्यों द्वारा बनाये गये व्यक्तिगत सम्पत्ति सम्बन्धी कानूनों से उसकी महत्ता बहुत बढ गई है।

व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा से लाभ (Advantages of Private Property)

व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा का जन्म, मनुष्य की आवश्यकताओं और स्वभाव के कारण हुआ। इस संस्था के अनेक लाभ हैं —

(१) **जीवन रक्षा**—जिस व्यक्ति के पास धन है वह अपनी आवश्यकताओं को पूरी कर सकता है। धन के बिना मनुष्य न अपनी भूख ही शान्त कर सकता है और न दूसरी आवश्यकताओं की पूर्ति। धन के अभाव में उसका जीवन दुखी रहता है। निर्धन मनुष्य न अपने सम्मान की रक्षा कर सकता है और न अपनी स्वतन्त्रता की ही।

(२) **आचार निर्माण**—जिस व्यक्ति के पास धन है उसे किसी से डरने या किसी की खुशामद करने की आवश्यकता नही होती। वह अपने विचारो को दूसरो पर स्वतन्त्र रूप से प्रकट कर सकता है। इसके विपरीत निर्धन व्यक्ति दूसरों की चापलूसी में लगा रहता है, कभी-कभी तो परिस्थितियों से विवश होकर उसे चोर और डाकुओं का-सा निन्दनीय जीवन व्यतीत करना पडता है।

(३) **शान्तिप्रियता**—धन का अधिकार व्यक्ति को शांतिप्रिय, अनुशासनशील तथा राजभक्त बना देता है। धनवान् लोगों को देश की अव्यवस्था से भारी डर लगता है। इसलिए ऐसे लोग देश की सरकार को शक्तिशाली बनाने में हर प्रकार की सहायता प्रदान करते है।

(४) **कला प्रेम**—जिस मनुष्य के पास सम्पत्ति रहती है वह अपने जीवन को सुन्दर और कलापूर्ण बना सकता है। वह अपने अवकाश का प्रयोग कला और संस्कृति की उपासना मे लगा सकता है।

(५) **आतिथ्य सत्कार**—सम्पत्ति के बिना मनुष्य में आतिथ्य-सत्कार के गुण विकसित नही हो सकते। जिस व्यक्ति के पास अपनी ही भूख मिटाने के लिए धन नहीं वह दूसरो का आतिथ्य कहाँ से कर सकता है?

(६) **कार्यकुशलता**—सम्पत्ति-प्रथा से अधिकाधिक कार्य करने की प्रेरणा मिलती है। निजी लाभ के लिए ही मनुष्य रात-दिन काम करने के लिए तैयार रहता है। निजी सम्पत्ति की प्रथा को नष्ट करने से मनुष्य में कार्य करने की स्फूर्ति नही रहेगी। वह केवल उतना ही कार्य करेगा जितना उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक है।

(७) **अल्प बचत**—निजी सम्पत्ति की प्रथा से मनुष्य अपनी आय में से कुछ न कुछ बचाने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार देश का मूलधन बढ जाता है।

(८) धार्मिक प्रवृत्ति—निजी सम्पत्ति की प्रथा से मनुष्य को सांसारिक चिन्ताओं से मुक्ति मिल जाती है और वह अपना समय ईश्वराराधना में लगा सकता है।

हानियाँ (Disadvantages)

निजी सम्पत्ति की प्रथा से जहाँ इतने लाभ हैं वहाँ उससे कुछ हानियाँ भी हैं। इनमें से कुछ हानियों का वर्णन नीचे किया जाता है :—

(१) शोषण—निजी सम्पत्ति की प्रथा पर यदि उचित नियंत्रण न रक्खा जाय तो इससे धनी लोगों को गरीबों का खून चूसने का अवसर मिलता है और इससे समाज में अशान्ति फैलती है।

(२) विषमता—निजी सम्पत्ति की प्रथा से धनी अधिकाधिक धनी और गरीब अधिकाधिक गरीब बनते जाते हैं। धनी लोगों के पास सम्पत्ति बहुत तेजी से बढ़ती है। जो व्यक्ति जीवन में अधिक अच्छे पदों पर होते हैं; उन्हें अधिक वेतन, अधिक भत्ता, बिना किराये के बँगले, नौकर आदि मिलते हैं। वे अपनी पिछली बचत से अन्य व्यवसाय चालू कर सकते हैं अथवा मकान आदि खरीद सकते हैं। इस प्रकार सम्पत्ति उन लोगों के हाथ में इकट्ठी होती रहती है जिन्हें उसकी बहुत कम आवश्यकता रहती है।

(३) असमानता—निजी सम्पत्ति की प्रथा से समाज में असमानता उत्पन्न होती है और समाज अमीर और गरीब दो युद्धशील वर्गों में विभाजित हो जाता है।

(४) अनुपयोगिता—निजी सम्पत्ति की प्रथा समानता के विचार से ही नहीं, उपयोगिता की दृष्टि से भी अनुपयुक्त है। भूमि और सम्पत्ति के उचित प्रबन्ध के लिए कुशल और योग्य व्यक्तियों की आवश्यकता होती है; परन्तु इस पूँजीपति-युग में प्रायः ऐसा देखने में आता है कि पूँजीपतियों के उत्तराधिकारी प्रायः अयोग्य व्यक्ति होते हैं। वे बिना परिश्रम के ही अपार संपत्ति प्राप्त कर लेते हैं और इस कारण उस धन का दुरुपयोग—मदिरापान, वेश्यागमन आदि विषय-वासनाओं में करते हैं। समाज का अपार धन जो योग्य व्यक्तियों के हाथ में होने से देश की उन्नति के काम आ सकता है, इस प्रकार व्यर्थ नष्ट हो जाता है।

(५) मिथ्याभिमान—निजी सम्पत्ति की प्रथा मनुष्य में मिथ्याभिमान की भावना को भर देती है। धनी होते ही लोग गरीबों की ओर घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं।

(६) पराधीनता—यह प्रथा समाज में निकम्मे और पराश्रित व्यक्तियों को जन्म देती है। जमींदार, ताल्लुकेदार और दूसरे बड़े-बड़े पूँजीपति बिना किसी प्रकार के परिश्रम के बहुत-सा धन पैदा कर लेते हैं। फलस्वरूप देश की सम्पत्ति को बढ़ाने में वह हाथ नहीं लगाते। इस प्रकार राष्ट्रीय आय कम हो जाती है।

(७) चरित्रहीनता—इस प्रथा से मनुष्य के आचरण में अभिमान, असहिष्णुता अश्रद्धा, बेईमानी और दूसरे दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं। वर्तमान समाज में धन बेईमानी और दगाबाजी से पैदा किया जाता है, ईमानदारी से नहीं।

(८) अप्रजातान्त्रिक—इस प्रथा से समाज में शोषित वर्ग उत्पन्न हो जाता है। राज्य में शासन की बागडोर ऐसे लोगों के हाथ में चली जाती है जो सर्वसाधारण पर अपना प्रभुत्व और एकाधिपत्य स्थापित करने के लिए हर प्रकार का कार्य करने को उद्यत रहते है। सम्पत्ति के समुचित नियंत्रण और धन के समान विभाजन के बिना प्रजातन्त्र शासन केवल एक ढकोसला है। धन के कारण दरिद्र मतदाताओं को आसानी से ठगा जा सकता है और इस प्रकार शासन की बागडोर केवल पूंजीपतियों के हाथ में सुरक्षित बनी रहती है।

योग्यता प्रश्न

१. दंड के भिन्न-भिन्न प्रयोजन कौन से है? (यू० पी०, १९३०, १९४७)

२. राज्य का दंड देने का अधिकार किन कारणो पर आश्रित है? (यू० पी०, १९३२)

३. भारत में सामूहिक शिक्षा को समस्या का विवेचन कीजिए। इस समस्या *को हल करने के लिये आप कौन-सी युक्तियाँ ठीक समझते है?*

४. संस्थाओं से आप क्या समझते हैं? वे कौन से भय है जिनसे संस्थाओं को बचना चाहिए? उनके अस्तित्व का क्या प्रयोजन है?

५. शिक्षा का उद्देश्य क्या होना चाहिए? आधुनिक शिक्षा-प्रणाली इस उद्देश्य की पूर्ति में कहाँ तक असफल रही है? (यू० पी०, १९३८, पंजाब १९५०)

६. सम्पत्ति की उत्पत्ति कैसे हुई? व्यक्तियों को सम्पत्ति पर अधिकार करने की आशा किन कारणों से होनी चाहिए? (यू० पी०, १९३८)

७. एक प्रजातंत्र शासन चलाने के लिए विस्तृत-रूप में, शिक्षा की नितान्त आवश्यकता है। इस कथन की आलोचना कीजिए। (यू० पी०, १९४०)

८. शिक्षा का प्रचार लोक राज्य की स्थापना के लिए आवश्यक है। आलोचना करें। (यू० पी०, १९४१)

९. प्रत्येक राष्ट्र की नींव उसके नवयुवकों की शिक्षा पर खड़ी होती है, समझाइए। (यू० पी०, १९४५)

१०. वह दो संस्थाएँ जिन पर सारे सभ्य समाज की नींव खड़ी है, कुटुम्ब और सम्पत्ति है। समझाइए। (यू० पी०, १९४९)

अध्याय ६

नागरिक और नागरिकता

(Citizen And Citizenship)

नागरिकशास्त्र का मुख्य ध्येय आदर्श नागरिकता का अध्ययन है। इसलिए राज्य, उसके अंग-प्रत्यंग, विधान और कर्तव्यों का विवरण देने से पहले आवश्यक है कि हम नागरिक और नागरिकता के अर्थ को समझ लें और इसी विषय की दूसरी धारणाओं—जैसे, अधिकार और कर्तव्य, स्वतन्त्रता और समता इत्यादि विषयों का भी भली प्रकार ज्ञान प्राप्त कर लें। प्रस्तुत तथा अगले कुछ अध्यायों में इसीलिए नागरिकता के इन तत्वों का विवेचन किया जायगा। इस अध्याय में हम नागरिक और नागरिकता का विश्लेषण करेंगे।

नागरिक शब्द का अर्थ—नागरिक शब्द का अर्थ साधारण बोल-चाल की भाषा में एक ऐसे मनुष्य से लिया जाता है जो किसी नगर में रहता हो और अपने रहन-सहन तथा बोल-चाल की विशेषता से एक ग्रामीण मनुष्य से विभिन्न हो। वास्तव में नागरिकशास्त्र के अन्तर्गत नागरिक शब्द का यह अर्थ सर्वथा भ्रममूलक है। इस शास्त्र की दृष्टि से नागरिक हम ऐसे प्रत्येक मनुष्य को कहते हैं, जो चाहे गाँव में रहता हो अथवा नगर में, जंगल में अथवा बस्ती में, निर्धन हो अथवा अमीर, स्त्री हो अथवा पुरुष, जिसे राज्य की ओर से सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों और जो अपने राज्य की सेवा-शुश्रूषा के लिए सदा उद्यत रहता हो।

प्रत्येक राज्य में दो प्रकार के सदस्य रहा करते हैं—एक नागरिक और दूसरे अनागरिक। नागरिक, जैसा कि ऊपर कहा गया है, वे मनुष्य कहलाते हैं, जिन्हें राज्य की ओर से सामाजिक और राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों। दूसरे शब्दों में ऐसे मनुष्य जो राज्य के प्रत्येक कार्य में भाग ले सकें, जिन्हें चुनाव में अपनी राय देने का अधिकार प्राप्त हो और जो सरकारी नौकरी प्राप्त कर सकें। अनागरिक ऐसे लोगों को कहा जाता है जिन्हें इस प्रकार के अधिकार प्राप्त न हों। विदेशों से हमारे देश में भ्रमण करने के लिए आये हुए व्यक्ति इसी श्रेणी में गिने जाते हैं। वे हमारे देश के चुनावों में भाग नहीं ले सकते और न सरकारी नौकरी ही प्राप्त कर सकते हैं। देश में रहनेवाले कुछ व्यक्ति भी कभी-कभी विशेष कारणों से अनागरिक बन जाते हैं। लम्बी सजाएँ काटनेवाले अपराधी, भिक्षुक, पागल, कोढ़ी आदि बहुत से लोग राजनीतिक अधिकारों से वंचित कर दिये जाते हैं। ऐसे लोगों को हम स्वदेशी अनागरिक कह सकते हैं। इक्कीस वर्ष से कम अवस्थावाले व्यक्ति भी जिन्हें अधिकतर राज्यों में राय देने का अधिकार प्राप्त नहीं होता अल्पवयस्क नागरिक कहे जाते हैं। यह लोग

अनागरिक नही होते, क्योंकि एक विशेष अवस्था प्राप्त कर लेने के पश्चात् उन्हें हर प्रकार के राजनीतिक तथा सामाजिक अधिकार प्राप्त हो जाते है। कुछ देशो में स्त्रियों को मताधिकार नही दिया जाता, न वे सरकारी पद ही प्राप्त कर सकती है। इन देशों में स्त्रियो को हम मताधिकारहीन नागरिक कह सकते है।

नागरिकता का सम्बन्ध इसलिए राजनीतिक अधिकारो की प्राप्ति से है। वर्तमान समाज में सामाजिक अधिकार तो प्रत्येक मनुष्य को ही, चाहे वह स्वदेशी हो अथवा विदेशी, स्त्री हो अथवा पुरुष, भिखारी हो अथवा धनी, मूर्ख हो अथवा बुद्धिमान, दिये जाते हैं। ऐसे लोग आराम से किसी भी देश में रह सकते है, वे स्वतन्त्र व्यवसाय कर सकते है, जहाँ चाहें घूम सकते हैं, अपने विचारो को दूसरो पर प्रकट कर सकते हैं। सरकार उनकी जान-माल की रक्षा करती है तथा उन्हें दूसरी हर प्रकार की सुविधाएँ देती है। परन्तु कुछ लोगो को राजनीतिक अधिकार प्राप्त नही होते, इसलिए वे अनागरिक कहलाते हैं।

नागरिकता की आवश्यक शर्ते (Essential conditions of Citizenship)

नागरिक होने के लिए निम्नलिखित शर्तों की पूर्ति आवश्यक है —

(१) राज्य की सदस्यता (Membership of some State)

(२) राज्य की ओर से सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति-(Existence of Social and Political Rights)

(३) राज्य के प्रति भक्ति (Allegiance Towards State) अर्थात् राज्य की सेवा, रक्षा और उसकी उन्नति करने के लिए तत्परता।

कोई भी मनुष्य जो इन तीनों शर्तों की पूर्ति नही करता, राज्य का नागरिक नहीं कहलाया जा सकता। ऊपर दी हुई तीसरी शर्त अर्थात् राज्यभक्ति (Allegiance) नागरिकता की प्राप्ति के लिए उतनी ही आवश्यक है जितनी राजनीतिक अधिकारो को प्राप्त करने की शर्त। प्रत्येक नागरिक को राज्य द्वारा अधिकारो की प्राप्ति के उपलक्ष में अपने देश और राज्य के प्रति भक्तिभाव की प्रतिज्ञा करनी पड़ती है। जो मनुष्य अपने देश की सेवा के लिए तत्पर नही वह उस देश का नागरिक नही कहा जा सकता। नागरिकों के लिए आवश्यक है कि वह सामान्य हित की वृद्धि में तन, मन और धन से सहयोग दें, तथा अपने निजी स्वार्थों का त्याग कर समस्त समाज का हित-चिन्तन करें।

नागरिकता का विकास (Evolution of Citizenship) —नागरिक शब्द के साथ राजनीतिक अधिकारो की प्राप्ति का सम्बन्ध यूनान और रोम की सभ्यता से हुआ। प्राचीन काल में यूनान देश में नागरिक केवल ऐसे ही *मनुष्यों को कहा जाता था जिन्हें उस* देश की सरकार द्वारा राजनीतिक और सामाजिक अधिकार दिये जाते थे। ऐसे मनुष्यों की सख्या यूनान के नगर-राज्यो में बहुत कम होती थी। राज्य में दूसरे रहनेवाले लोग अनागरिक या दास कहलाते थे। इन्हें किसी भी प्रकार के अधिकार प्राप्त न होते थे। आजकल के देशों के अनागरिको से ग्रीस के इन अनागरिको के अधिकार सर्वथा

भिन्न थे। वर्तमान काल में अनागरिकों को सब प्रकार के सामाजिक अथवा नागरिक अधिकार प्राप्त होते हैं, केवल उन्हें राजनीतिक अधिकार नहीं दिये जाते। परन्तु यूनान में अनागरिकों को सामाजिक अधिकार भी प्राप्त नहीं थे। वे नागरिकों की निजी सम्पत्ति माने जाते थे, उनको गुलाम या दास पुकारा जाता था। उनका क्रय-विक्रय उसी प्रकार होता था जैसे इस युग में जायदाद या चल-सम्पत्ति का होता है।

रोम साम्राज्य में भी नागरिकता का निर्णय सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति से किया जाता था। अन्तर केवल इतना था कि यूनान में केवल नगर में रहनेवाले कुछ लोगों को ही नागरिकता का पद प्राप्त हो सकता था। रोम में इसके विपरीत रोम साम्राज्य के अन्तर्गत रहनेवाले किसी भी पुरुष को यह पद प्रदान किया जा सकता था। रोम में रहना रोम साम्राज्य के नागरिक के लिए आवश्यक नहीं था। इस प्रकार हम देखते हैं कि रोमनों के काल में नागरिक शब्द की परिभाषा यूनानी काल की परिभाषा से अधिक व्यापक बन गई थी।

आधुनिक युग में भी नागरिक शब्द के साथ राजनीतिक और सामाजिक अधिकारों की प्राप्ति उसी प्रकार सम्बन्धित है जैसे वह यूनान और रोम के राज्य-काल में थी। अन्तर केवल इतना है कि वर्तमान काल में नागरिकता का पद रोम और यूनान के नगर राज्यों के नागरिकों की अपेक्षा बहुत अधिक मनुष्यों को प्राप्त होता है और इस प्रकार का पद देने में स्त्री और पुरुष, गरीब और अमीर, ग्रामीण और शहरी, बुद्धिमान् और मूर्ख का ध्यान नहीं किया जाता। ऐसा प्रत्येक व्यक्ति जो किसी राज्य का सदस्य हो, उसके प्रति वफादार हो तथा जो किसी विशेष प्रकार के रोग से ग्रस्त, पागल अथवा पुराना अपराधी न हो, नागरिकता का स्थान प्राप्त कर सकता है।

विदेशी (Alien)—प्रश्न उठता है कि देशी और विदेशी लोगों में अधिकारों की प्राप्ति की दृष्टि से क्या अन्तर है, तथा विदेशी हम किस प्रकार के लोगों को कह सकते हैं? कोई व्यक्ति किसी दूसरे देश में तभी विदेशी कहा जाता है जब वह किसी कार्यवश, व्यापार करने, पढ़ने या भ्रमण करने, कुछ काल के लिए दूसरे देश में बस जाय। ऐसा व्यक्ति जब तक बाहर के देश में रहता है, वह विदेशी कहलाता है। विदेशियों के तीन प्रकार होते हैं:—

(१) **बसे हुए विदेशी** (Resident Aliens)—अर्थात् ऐसे विदेशी जो अपना देश छोड़कर स्थायी रूप से दूसरे देश में बस गये हैं। अधिकतर राज्यों में ऐसे लोगों को कुछ निश्चित अवधि के पश्चात् तथा कुछ शर्तों के पूरा कर चुकने पर, उस देश की नागरिकता प्रदान कर दी जाती है। परन्तु बहुत से देश ऐसे भी हैं जैसे अफ्रीका, लंका इत्यादि जहां बाहर से आये हुए लोग सैकड़ों वर्षों से रह रहे हैं परन्तु अभी तक उन्हें उस देश की नागरिकता के अधिकार प्रदान नहीं किये गये हैं।

(२) **अस्थायी विदेशी** (Foreign Travellers)—यह वह लोग कहलाते हैं जो किसी विशेष कार्य से अपना देश छोड़कर थोड़े समय के लिए दूसरे देश में चले

जाते हैं तथा कार्य पूरा हो जाने पर स्वदेश वापस लौट आते हैं। किसी देश में अधिकतर विदेशियों की संख्या इन्ही लोगों की होती है।

(३) राजदूत (Ambassadors)—इस श्रेणी मे दूसरे देशों के राजदूत तथा उनके कर्मचारी शामिल किये जाते हैं। वैसे तो इन लोगों तथा दूसरी श्रेणी के विदेशियों में कोई अन्तर नही होता, कारण यह लोग केवल अपने पद की अवधि के काल में ही विदेशों में रहते हैं, परन्तु अधिकारो की दृष्टि से इन्हें विशिष्ट स्थान प्राप्त होता है। इन लोगो पर अपने ही देश के कानून लागू होते हैं, उन्हें पत्र-व्यवहार तथा भ्रमण आदि की विशेष सुविधाएँ दी जाती हैं, लड़ाई इत्यादि छिड़ने पर इन्हें सम्मानपूर्वक उनके देश वापस भेज दिया जाता है तथा इनके लाये हुए सामान पर कोई चुंगी इत्यादि नही ली जाती।

विदेशी मित्र और शत्रु (Foreigner Friends and Enemies)—विदेशियों का एक और प्रकार से वर्गीकरण दो श्रेणियों में किया जाता है—एक विदेशी मित्र और दूसरे विदेशी शत्रु। विदेशी मित्र हम ऐसे देश के नागरिकों को कहते हैं जिनका देश हमारे देश के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखता हो। विदेशी शत्रु ऐसे व्यक्ति कहलाते हैं जिनका देश हमारे देश के साथ युद्ध कर रहा हो। पिछले महायुद्ध के काल में जिस समय साथी देशों तथा जर्मनी और जापान का युद्ध चल रहा था तो ऐसे देश दूसरे देश के निवासियों को विदेशी शत्रु मानते थे।

विदेशियों के अधिकार (Rights of Aliens)—विदेशियों को हर प्रकार के नागरिक या सामाजिक अधिकार प्रदान किये जाते है। उनकी मर्यादा और प्रतिष्ठा का विशेष ध्यान रक्खा जाता है। उनके साथ अतिथियों जैसा व्यवहार किया जाता है। उनके जान-माल की रक्षा की जाती है तथा आवश्यकता पड़ने पर वह अदालतों की शरण ले सकते है। परन्तु उन्हें किसी प्रकार के राजनीतिक अधिकार प्रदान नही किये जाते। वह सरकारी नौकरी प्राप्त नही कर सकते, या देश के चुनाव में भाग नही ले सकते। उनके देश के साथ युद्ध छिड़ जाने की स्थिति मे उन्हें कैद कर लिया जाता है या उन पर कड़ी नजर रक्खी जाती है जिससे वह कोई राजद्रोहात्मक कार्यवाही न कर सकें। उन्हें फौज में भरती होने के लिए भी बाध्य नही किया जा सकता, क्योंकि उनकी राजभक्ति किसी दूसरे देश के प्रति होती है। किसी-किसी देश में विदेशियों के अचल सम्पत्ति इत्यादि खरीदने पर भी रोक लगाई जाती है। आवश्यकता होने पर उनको देश से बाहर जाने के लिए बाध्य किया जाता है तथा उनका पासपोर्ट (पारपत्र) जब्त किया जा सकता है।

उपरोक्त अधिकारो के बदले में विदेशियों को अतिथि-देश के कानूनों का पालन करना पड़ता है तथा उस देश के कर इत्यादि देने पड़ते है।

नागरिक बनाम निर्वाचक (Citizens Vs Voter)—राज्य के सब नागरिकों के लिए यह आवश्यक नही कि वह देश के प्रत्येक चुनाव में भाग लेने के अधिकारी

कुछ दिनों के लिए इंगलैंड में जाकर रहने लगें और वहाँ उनके सन्तान पैदा हो जाय तो फ्रांस के रक्तसम्बन्धी नियम के अनुसार वह फ्रांस के नागरिक कहलायेंगे और इंगलैंड के दोहरे नियम के अनुसार वह इंगलैंड के नागरिक कहलायेंगे। ऐसी दशा में दोनों ही देश इन बच्चों पर अधिकार जमाने की चेष्टा करते हैं और ऐसे बच्चों के लिए यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन हो जाता है कि वे किस देश की नागरिकता छोड़ें और किसकी ग्रहण करें ? यहाँ यह समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है कि कोई भी मनुष्य दो राष्ट्रों की नागरिकता ग्रहण नहीं कर सकता। वह केवल एक ही देश की छत्र-छाया में रह सकता है, दो देशों की नहीं। ऐसा इसलिए होता है कि व्यक्ति का उत्तरदायित्व एक ही राज्य के प्रति पूर्णतया रह सके। कई बार दो देशों में लड़ाई छिड़ जाती है। यदि एक ही मनुष्य इन दोनों देशों का नागरिक हो तो उसके लिए प्रश्न उठता है कि वह किस राज्य की ओर से लड़े। कई बार इन उलझनों में पड़कर मनुष्य दोनों देशों की नागरिकता खो बैठता है।

दोहरी नागरिकता की कठिनाई को दूर करने के लिए दो नियम काम में लाये जाते हैं। एक यह कि यदि मातापिता बच्चे के जन्म के पश्चात् उसे साथ लेकर अपने देश में ही वापस लौट जायँ और वहीं रहने लगें तो बच्चा अपने पिता की नागरिकता पुनः प्राप्त कर लेता है। दूसरा नियम यह है कि बच्चा वयस्क होने पर अपनी नागरिकता का स्वयं निर्णय कर सकता है। वह दोनों देशों में से किसी एक देश का नागरिक बनने का विचार प्रकट कर सकता है।

नागरिकता के निर्णय का आदर्श नियम

नागरिकता के निर्णय के विभिन्न नियमों में से कौन-सा अच्छा है, यह कहना कठिन है। 'रक्त' और 'स्थान' दोनों नियमों से नागरिकता का क्षेत्र सीमित और संकुचित हो जाता है। दोनों नियमों के मिलाने से नागरिकता का निर्णय कठिन हो जाता है। वास्तव में आदर्श नागरिकता तो स्वतन्त्र राष्ट्रों की सीमाओं से परे एक विश्वव्यापी राज्य की नागरिकता है। प्राचीन-काल में, नागरिकता का अधिकार, एक विशेष श्रेणी के केवल नगर में रहनेवाले आदमियों को दिया जाता था। आजकल वही अधिकार एक राज्य के अन्दर रहनेवाले प्रत्येक स्त्री-पुरुष को दिया जाता है। एक आदर्श समाज में प्रत्येक व्यक्ति को एक विश्वव्यापी राज्य का नागरिक माना जायगा। मनुष्य को पूर्ण स्वतंत्रता होगी कि वह जहाँ चाहे रहे, जहाँ चाहे व्यवसाय करे। प्रत्येक देश में उसे एक ही प्रकार के सामाजिक और राजनीतिक अधिकार प्राप्त हो सकेंगे। सारा संसार इसी एक आदर्श की ओर बढ़ता हुआ प्रतीत होता है।

राज्यदत्त नागरिकता या नागरिकों का नागरिककरण (Acquisition of Citizenship or Naturalisation)

प्रत्येक राज्य में जैसा कि पहले कहा जा चुका है, दो प्रकार के नागरिक होते हैं—एक जन्म से और दूसरे स्वेच्छा से। किसी देश के नागरिक अन्य देश के नागरिक

भी हो सकते है। इसके लिए प्राय. प्रत्येक देश के विधान में विशेष नियम बनाये जाते हैं। इन नियमों को नागरिककरण (Naturalisation) नियम कहा जाता है। ये नियम विभिन्न राज्यों में विभिन्न प्रकार के होते हैं। अधिकाश देश विदेशियों को नागरिकता देने से पहले; उनसे कुछ विशेष शर्तों की पूर्ति कराते हैं, जैसे (१) दूसरे देश की नागरिकता का त्याग, (२) वर्तमान देश में एक निश्चित अवधि (५ से १० वर्ष तक रहना), (३) उस देश की नागरिकता प्राप्ति के लिए आवेदनपत्र देना तथा उसके दूसरे कानूनों को पालन करने और उसके प्रति राजभक्ति प्रदर्शित करने का वचन देना, इत्यादि। इन शर्तों की प्राप्ति के बाद सरकार उस व्यक्ति को एक सनद दे देती है जिसमें कहा जाता है कि वह नागरिक बना लिया गया।

कुछ देशो में नागरिकता प्राप्त करने की शर्तें अत्यन्त कठिन होती है, जैसे उस देश की राष्ट्रभाषा का ज्ञान, नैतिक चरित्र, प्रचलित शासन-पद्धति में विश्वास, अपना ठीक प्रकार से गुजारा करने की क्षमता, जमीन या जायदाद खरीदना इत्यादि। कुछ दिनो पहले अमरीका में नागरिकता प्राप्त करने की एक और विशेष शर्त यह थी कि एशिया द्वीप के आदमी वहाँ नागरिकता प्राप्त नही कर सकते थे। हाल ही में इस कानून में सशोधन कर दिया गया है। अब वहाँ प्रति वर्ष व्यक्तियों की खास तादाद कुछ विशेष शर्तों को पूरा करके वहाँ की नागरिक बन सकती है। विदेशियों को नागरिकता देने या न देने का अन्तिम निर्णय प्रत्येक देश की सरकार ही कर सकती है और इसमें बाहर की सरकार किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही कर सकती।

कुछ ऐसी भी अवस्थाएँ है जब एक देश के निवासी दूसरे देश की नागरिकता बिना ऊपर लिखी हुई शर्तों के पूर्ण किये हुए भी, किसी अन्य कार्य द्वारा अपने आप प्राप्त कर लेते हैं। उदाहरणार्थ (१) यदि कोई स्त्री विदेशी से ब्याह कर ले तो उसे अपने पति के देश की नागरिकता अपने आप प्राप्त हो जाती है। परन्तु यह नियम पुरुषो पर लागू नही होता अर्थात यदि एक पुरुष दूसरे देश की स्त्री से विवाह कर ले तो उसे स्त्री के देश की नागरिकता प्राप्त नही होती। (२) कुछ देशो में यह नियम है कि यदि किसी अन्य देश का नागरिक वहाँ का कोई राजपद (Government office) ग्रहण कर ले तो वह स्वयमेव उस देश का नागरिक बन जाता है। (३) कुछ दक्षिणी अमरीकी देशों में ऐसा नियम भी है कि यदि कोई व्यक्ति उन देशों में जायदाद या भूमि खरीद ले तो वह वहाँ का नागरिक बन जाता है। (४) जब एक देश दूसरे देश के किसी भाग को जीतकर अपने में मिला लेता है तो विजित देशवालो को जीतनेवाले देश की नागरिकता प्राप्त हो जाती है।

राज्यदत्त नागरिको का पद (Status of Naturalised Citizens)

राज्यदत्त और स्वाभाविक नागरिकों में अधिकतर देशों में किसी प्रकार का भेद नही किया जाता, दोनों को एक ही प्रकार के अधिकार प्रदान किये जाते है। परन्तु कुछ देशो में राज्य द्वारा बनाये गए नागरिकों को देश की सरकार के सर्वोच्च पद प्राप्त

करने का अधिकार नहीं दिया जाता। अमरीका में राज्यदत्त नागरिक राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति के पद के लिए खड़ा नहीं हो सकता। १९२४ से पहले इंगलैंड में बहुत-सी नौकरियाँ वहाँ के स्वाभाविक नागरिकों को ही दी जाती थीं। परन्तु १९२४ के एक नये कानून से सभी नागरिक समान समझे जाते हैं।

नागरिकता का लोप

जिस प्रकार एक देश के नागरिक कुछ शर्तों के पूरा करने पर दूसरे देश के नागरिक बन सकते हैं, ठीक इसी प्रकार एक देश के नागरिकों की नागरिकता का लोप भी हो सकता है। उदाहरणार्थ, जैसे पहले कहा जा चुका है, (१) यदि कोई स्त्री किसी विदेशी से विवाह कर ले तो वह अपनी नागरिकता खो बैठती है, (२) दूसरे देश की सरकार के अधीन, अधिक समय तक नौकरी करने से भी नागरिकता का लोप हो जाता है, (३) कुछ देशों में एक निश्चित अवधि से अधिक समय तक देश के बाहर रहने से भी नागरिकता का अन्त हो जाता है, (४) नागरिकता से इस्तीफा भी दिया जा सकता है। एक नागरिक दूसरे देश में बसकर अपनी पहली सरकार को लिख सकता है कि वह अपने आपको वहाँ का नागरिक नहीं समझता, (५) फौज से भागे हुए सिपाही, देशद्रोही और कुछ अन्य प्रकार के पुराने अपराधियों से भी नागरिकता का अधिकार छीन लिया जाता है, (६) कई बार ऐसे नागरिकों की जो किसी दूसरे देश की सरकार के अधीन नौकरी करने के कारण वहाँ के नागरिक बना दिये जाते हैं नौकरी से अलग किये जाने पर नागरिकता छीन ली जाती है।

ऊपर दिये गये नियम सभी राष्ट्रों में एक समान नहीं होते, भिन्न-भिन्न देशों में नागरिकता के लोप के लिए अलग-अलग नियम बनाये जाते हैं। नागरिकता का अधिकार किसी दूसरे अनागरिक को बेचा या दिया नहीं जा सकता। यह अधिकार मनुष्य के व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखता है।

भारतीय नागरिकता (Indian Citizenship)

हमारे देश के निवासी स्वतंत्रता-प्राप्ति से पहले ब्रिटिश-साम्राज्य के नागरिक कहलाते थे, परन्तु ऐसा न होने पर भी उन्हें अँग्रेजी साम्राज्य में जहाँ चाहे रहने या स्वतंत्र रूप से व्यवसाय करने या साम्राज्य में किसी भी देश के राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने का हक नहीं था। भारतवासियों के आस्ट्रेलिया या अफ्रीका में बसने पर रोक लगाई जाती थी। अफ्रीका में उन्हें जमीन या जायदाद खरीदने या राय देने, या अँग्रेजों की भाँति मकान बनाने एवं सरकारी नौकरी प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त नहीं था। कुछ दिनों पहले वे अफ्रीका के नागरिक भी नहीं बन सकते थे। परन्तु अब भारत के स्वतंत्र हो जाने पर इन दिशाओं में धीरे-धीरे सुधार हो रहा है।

भारत के संविधान में नागरिकता सम्बन्धी कोई स्पष्ट व्यवस्था नहीं की गई थी। उसमें केवल यह बताया गया था कि संविधान लागू होने के समय किन लोगों को भारत का नागरिक माना जायगा।

नागरिकता सम्बन्धी विशेष विधेयक सन् १९५५ में संसद में पेश किया गया और १९५६ के आरम्भ में वह दोनों सदनों द्वारा पास हो गया। इस विधेयक के अधीन भारतीय नागरिकता सम्बन्धी नियम इस प्रकार हैं :—

(१) प्रत्येक वह व्यक्ति जिसका जन्म भारत में हुआ है भारत का नागरिक माना जायगा।

(२) भारतीय नागरिकों के बच्चे यदि वह विदेशों में भी पैदा हुए हों तो भी वह भारत के ही नागरिक माने जायेंगे।

(३) पाकिस्तान से आनेवाले वे सब लोग जो १९ जुलाई सन् १९४९ से पहले भारत में आकर बस गये, यहाँ के नागरिक माने जायेंगे। इस तारीख के बाद आनेवाले व्यक्ति केवल उस दशा में भारतीय नागरिकता प्राप्त कर सकेंगे, जब वे एक प्रार्थना-पत्र देकर अपना नाम भारतीय नागरिकता के रजिस्टर में दर्ज करा लें। परन्तु इस प्रकार का प्रार्थना-पत्र देने से पहले आवश्यक है कि वह कम से कम एक वर्ष पहले से भारत में रहे हों।

(४) विदेशों में बसनेवाले भारतीय नागरिक दूतावास में अपना नाम दर्ज करा कर भारतीय नागरिकता प्राप्त कर सकेंगे।

(५) विदेशी स्त्रियाँ भारतीय नागरिकों से शादी कर यहाँ की नागरिकता प्राप्त कर सकेंगी।

(६) विदेशी जिनका चरित्र अच्छा है, जो यहाँ की किसी भाषा को जानते हैं, यहीं पर स्थायी रूप से बसने का विचार रखते हैं, तथा कम से कम पिछले ७ वर्षों में ४ वर्ष तक भारत में रहे हैं, प्रार्थना-पत्र देकर भारतीय नागरिकता प्राप्त कर सकेंगे।

आदर्श नागरिकता

राज्य की ओर से प्रत्येक व्यक्ति की उन्नति के लिए अनेक सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। राज्य द्वारा ही स्कूल और कालेज, सांस्कृतिक और साहित्यिक संस्थाएँ, चिकित्सालय और आमोद-प्रमोद के अनेक साधनों का प्रबन्ध किया जाता है। राज्य ही किसी देश में सुव्यवस्था बनाये रखने के लिए उत्तरदायी है। मनुष्य को राजनीतिक और सामाजिक अधिकार भी राज्य द्वारा ही प्राप्त होते हैं। संक्षेप में राज्य ही मनुष्य के सभ्यतापूर्ण सामाजिक जीवन की जड़ है। इन अनेक सुविधाओं के बदले प्रत्येक मनुष्य के अपने राज्य के प्रति कुछ कर्त्तव्य हैं। हम ऐसे मनुष्य को अच्छा नागरिक कभी नहीं कह सकते जो अपने सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों का तो उपभोग करता है परन्तु जो समाज और राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करता। अच्छे नागरिक की यही पहचान है कि वह अपने समाज और राष्ट्र की उन्नति और विकास के लिए जहाँ तक भी हो सके प्रयत्न करे। प्रत्येक मनुष्य में अपने राष्ट्र के उत्थान के लिए अपने छोटे-छोटे हित और स्वार्थ को त्याग करने की क्षमता होनी चाहिए। आलस्य, व्यक्तिगत जीवन व्यतीत करने की भावना और सामाजिक और राष्ट्रीय कार्यों

के प्रति उदासीनता एक अच्छे नागरिक जीवन के शत्रु हैं। इसीलिए प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ लास्की ने कहा है : "नागरिकता सार्वजनिक कल्याण के लिए व्यक्ति का योगदान है।"[1]

एक अच्छे नागरिक और मनुष्य में अन्तर—परन्तु, यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि अच्छे नागरिक और अच्छे मनुष्य के गुणों में भेद हो सकता है। अच्छा नागरिक वह मनुष्य है जो अपने देश और राज्य की अधिक से अधिक सेवा कर सके, इसके विपरीत अच्छा मनुष्य वह है जिसका व्यक्तिगत जीवन अत्यन्त स्वच्छ और निर्मल हो और जो अपने सदाचार, सत्याचरण, निर्भीकता, धार्मिकता, आचार-व्यवहार और मृदु-भाषण के कारण समाज में मान पाता हो। अच्छे मनुष्य के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह राष्ट्रीय कार्यों में अवश्य भाग ले या किसी राजनीतिक दल का सदस्य हो या किसी चुनाव में खड़ा हो। अच्छे मनुष्य के गुणों का सम्बन्ध उसके व्यक्तिगत जीवन से है, अच्छे नागरिक के गुणों का सम्बन्ध उसके सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन से है। अच्छा मनुष्य अधिकतर एक अच्छा नागरिक भी होता है। परन्तु ऐसा होना सदा अनिवार्य नहीं। सदा सच बोलना, धर्म में विश्वास और पवित्र जीवन व्यतीत करना एक अच्छे मनुष्य के लिए आवश्यक है, परन्तु एक अच्छे नागरिक के लिए नहीं। प्रत्येक राज्य के अन्तर्गत अनेक जातियों, धर्मों और सम्प्रदायों के लोग निवास करते हैं, इन लोगों के विचारों और कार्यों में कितनी ही बार संघर्ष हो जाया करता है। कुशल नागरिक और राजनीतिज्ञ का कर्तव्य है कि वह अपने व्यवहार और कार्य-कुशलता से इन संघर्षों को रोके और ऐसा करने में यदि उसे सत्य और न्याय का भी त्याग करना पड़े तो देश की शान्ति और सुव्यवस्था के लिए ऐसा करने से न हिचकिचाये। इसी प्रकार एक देश की सरकार का दूसरे देशों की सरकार से अनेक प्रकार का सम्बन्ध होता है। दूसरे देशों से सन्धि, व्यापारिक समझौता, फौजी वार्तालाप इत्यादि करने पड़ते हैं। प्रत्येक देश इन कार्यों की पूर्ति के लिए दूसरे देशों में अपने राजदूत नियुक्त करता है। राजदूतों का कर्त्तव्य है कि वे अपने देश की उन्नति और उत्थान के लिए यदि आवश्यकता पड़े तो कूटनीतिपूर्ण चालों से भी काम लें। अच्छे मनुष्य को ये सारी बातें घृणास्पद प्रतीत होती हैं परन्तु राष्ट्र और उसकी भलाई के लिए राजनीति में इन बातों के अपनाने में किसी प्रकार का दोष नहीं समझा जाता।

अच्छे नागरिक के आवश्यक गुण—इसलिए जो गुण मनुष्य को एक आदर्शमय जीवन व्यतीत करने के लिए अपनाने पड़ते हैं अच्छे नागरिक के लिए अनिवार्य नहीं। आदर्श नागरिकता की प्राप्ति के लिए मनुष्य में निम्न गुणों का होना आवश्यक है:—

(१) **सामाजिक भावना**—सजीव, जागृत एवं उत्कट सामाजिक भावना श्रेष्ठ नागरिकता की पहली जड़ है। मनुष्य की शिक्षा-दीक्षा एवं विकास सामाजिक सहयोग का प्रतिफल है। एकाकी मनुष्य का जीवन न केवल नारकीय ही होता है वरन् वह किसी भी

---

1. Citizenship is the contribution of one's instructed judgment to public good —Laski.

दशा में अपना सांस्कृतिक, आर्थिक या नैतिक विकास नहीं कर सकता। यदि समाज के कारण ही मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास होता है तो उसका धर्म है कि इस प्राप्ति के बदले वह समाज के प्रति भी अपने कर्त्तव्यों की पूर्ति करे। यह कर्त्तव्य-पूर्ति अपने स्वार्थों एवं अपने पारिवारिक हितों से ऊपर उठकर सामाजिक कल्याण की बातें सोचने से ही हो सकती है। जिस समाज में हम रहते हैं उसमें अपार अज्ञान, गरीबी, निर्धनता, बीमारी, संघर्ष, विषाद, अशान्ति, शोषण तथा हिंसा देखने को मिलती है। समाज के ज्ञानी तथा अधिक भाग्यशाली व्यक्तियों का धर्म है कि वह सामाजिक जीवन से इन सभी संताप, अन्याय, भूख, महामारी तथा पाप को नष्ट करने का प्रयत्न करें। जो मनुष्य अपने स्वार्थों से ऊपर उठकर सामाजिक उत्थान के कार्यों में भाग नहीं लेता वह नराधम पशु समान है और उसे मानव कहलाने का कोई अधिकार नहीं। समाज में विभिन्न प्रकार की सांस्कृतिक, आर्थिक तथा परोपकारी संस्थाएँ होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि वह अपनी रुचि के अनुसार ऐसी संस्थाओं का सदस्य बने तथा उनके द्वारा सामाजिक सेवा के कार्य में सहयोग दे। इस कर्तव्य-पूर्ति के लिए आवश्यक है कि मनुष्य में दया, सहानुभूति, सेवा, बलिदान, सहयोग तथा स्वार्थत्याग की भावनाएँ विद्यमान हों। सामाजिक तथा राष्ट्रीय कार्यों के प्रति उदासीनता या उनके सम्बन्ध में ऐसा सोचना कि हमें इन बातों से क्या लाभ है, अथवा राष्ट्रीय संकट से व्यक्तिगत लाभ कमाने की चेष्टा करना आदर्श नागरिकता के मार्ग में सबसे बड़ी रुकावटें है।

(२) **कर्तव्यपरायणता और व्यवहार-कुशलता**—एक अच्छे नागरिक को सामाजिक विकारों एवं दोषों का केवल ज्ञान ही नहीं होना चाहिए, उसमे अपने समाज को एक आदर्श रूप प्रदान करने की कार्यक्षमता तथा व्यवहार-कुशलता भी होनी चाहिए। मनुष्य के पांडित्य अथवा ज्ञान का उस समय तक कोई लाभ नहीं होता जब तक उसमें अपने ज्ञानानूकूल आचरण करने तथा एक कुशल सामाजिक कार्यकर्ता और अच्छे संगठनकर्ता के रूप में कार्य करने की शक्ति न हो। मनुष्य में दूसरों पर अपना प्रभाव जमाने तथा उन्हें अपने व्यवहार को मिठास में आकर्षित करने की शक्ति होनी चाहिए। उसे विनम्र तथा मृदुभाषी होना चाहिए जिससे वह दूसरे पर आतंक जमाकर नहीं वरन् उन्हें प्रेम से जीत कर कार्य करने के लिये आन्दोलित कर सके।

(३) **स्वस्थ जीवन**—कहा गया है कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन (*Healthy mind in a healthy body*) वास करता है। जिस मनुष्य का स्वास्थ्य ठीक नहीं और जो सदा रोगों का ही दास रहता है वह न अपनी ही सेवा कर सकता है, न अपने परिवार की और न समाज और राष्ट्र की। हमारा स्वास्थ्य और जीवन राष्ट्र की निधि है, हमारा धर्म है कि हम व्यायाम तथा स्वास्थ्य के दूसरे नियमों का पालन करके अपने शरीर को निरोग रखें जिससे हमारी बुद्धि भी प्रखर रहे तथा हम बुद्धिमत्ता से सामाजिक कार्यों में भाग ले सकें।

(४) **सुशिक्षा और उदार विचार**—यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सुशिक्षा आदर्श नागरिक जीवन की आधार-शिला है। शिक्षा से अन्धकार का लोप, कट्टरता

की बलि तथा अन्धविश्वास का नाश होता है। शिक्षा द्वारा ही मनुष्य को ज्ञानचक्षुओं की प्राप्ति होती है। शिक्षा के प्रताप से ही मनुष्य को भले-बुरे का ज्ञान तथा राष्ट्रीय जीवन में विवेकशील भाग लेने की क्षमता प्राप्त होती है। शिक्षा के बल से मनुष्य के विचारों में सौम्यता, गम्भीरता तथा उदारता का उदय होता है। शिक्षाहीन मनुष्य न केवल एक अनुपयोगी नागरिक ही होता है वरन् वह एक पशुवत् जीव माना जाता है।

(५) **आत्म-नियंत्रण, विचारशीलता एवं दूरदर्शिता**—अच्छे नागरिक में भावनाओं के वेग से बचकर बुद्धिमत्तापूर्ण एवं दूरदर्शिता से काम करने की शक्ति होनी चाहिए। भावनाओं के अधीन कार्य करने से हम राष्ट्र की बहुत बड़ी हानि कर सकते हैं। सन् १९४७ में, भारत-विभाजनके पश्चात्, हमारे देशवासियों ने विवेक को त्यागकर भावनाओं के आवेग में आकर, जिस हिंसा, साम्प्रदायिकता तथा चरित्रहीनता का मार्ग अपनाया था, उस प्रवृत्ति को यदि समय रहते न रोका जाता तो हमारे राष्ट्र को बहुत हानि पहुँच सकती थी। [illegible]ज पाकिस्तान अपने नागरिकों की भारत-विरुद्ध साम्प्रदायिक भावनाओं को भड़[illegible]कर अपने पाप की ज्वाला में स्वयं धधक रहा है। भावनाओं के अधीन होकर कार्य करने से शायद हम क्षणिक विजय प्राप्त कर लें, परन्तु आगे चल कर यह नीति अत्यन्त हानिकर सिद्ध होती है। इसलिए अच्छे नागरिक में विवेक, संयम तथा दूरदर्शिता से काम करने की शक्ति होनी चाहिए। आत्मसंयम ही, मनुष्य को बड़े हित की पूर्ति के लिए छोटे हित का त्याग करना सिखाता है। आदर्श नागरिकता कर्तव्यों के इनी उचित तारतम्य बनाये रखने में निवास करती है। इसलिए यह सभी गुण श्रेष्ठ नागरिकता की प्राप्ति के लिए अनिवार्य हैं।

(६) **अपने सिद्धान्तों के प्रति प्रगाढ़ भक्ति, समाज-सेवा की सच्ची लगन तथा निर्भीकता**—अच्छे नागरिक को जीवन के उच्च आदर्शों तथा राजनीतिक सिद्धान्तों में विश्वास रखना चाहिए। यह सिद्धान्त गहन अध्ययन तथा आत्मचिन्तन के पश्चात् निश्चित करने चाहिए, परन्तु एक बार उन्हें अपना लेने के पश्चात्, थोड़े से प्रलोभन अथवा कष्ट के कारण उन्हें छोड़ नहीं देना चाहिए। अच्छे नागरिक का सबसे आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण गुण निर्भीकता है। जो व्यक्ति लोभ, डर अथवा लालच के कारण अपने आदर्श से विचलित हो जाता है वह समाज का सबसे बड़ा शत्रु सिद्ध होता है। हमारे देश के इतिहास में कितने ही उदाहरण भरे पड़े हैं जब थोड़े से प्रलोभन अथवा शरीर-कष्ट के कारण बड़े-बड़े राजाओं ने अपने देश के साथ गद्दारी की और अपने राष्ट्र की स्वतंत्रता को शत्रुओं के हाथ बेच दिया। आज भी ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं जो छोटे से पद का लालच मिलने पर अपने दल की सदस्यता त्याग देते हैं अथवा अपने नेताओं को धोखा देते हैं। लालची मनुष्य चाँदी के कुछ टुकड़ों पर अपने राष्ट्र के हित को दूसरे के हाथ बेच सकता है। अच्छे नागरिक में इसलिए अपने सिद्धान्त के प्रति असीम श्रद्धा तथा अपने आदर्श की पूर्ति के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने की तत्परता विद्यमान होनी चाहिए। कायर और सिद्धान्तहीन मनुष्य कभी अच्छा नागरिक नहीं बन सकता। अन्याय, उत्पीड़न, शोषण तथा अत्याचार के विरुद्ध एक अच्छे नागरिक को सदा लड़ने

के लिए तैयार रहना चाहिए, चाहे ऐसा करने में उसे कितना ही शरीर-कष्ट हो तथा आर्थिक हानि उठानी पड़े।

निर्भीकता का यह अर्थ नही लगाना चाहिए कि नागरिक में आज्ञापालन अथवा अनुशासन में रहने की भावना न हो। राज्य अथवा उसके कानूनों का विरोध केवल असाधारण स्थिति में ही वांछनीय हो सकता है। ऐसा तभी करना चाहिए जब सारी जनता राज्य के अत्याचार से पीड़ित हो और सरकार को बदलने का कोई वैधानिक अस्त्र जनता के पास न हो। अन्य प्रत्येक स्थिति में नागरिकों का धर्म है कि वह राजाज्ञाओं का पालन करें तथा समाज में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने में अपना पूरा योग दें।

(७) दैनिक जीवन में व्यवहार की शिष्टता अर्थात् हमारी आदतें—हमें यह अच्छी प्रकार समझ लेना चाहिए कि श्रेष्ठ नागरिकता हमारे दैनिक व्यवहार की शिष्टता में निवास करती है। हमारे जीवन में ऐसे अवसर बहुत कम आते है जब हमें कोई बड़ा बलिदान करने के लिए उद्यत होना पड़े अथवा अप[illegible]ट्र या समाज की रक्षा के लिए प्राणों की आहुति देनी पड़े। इसलिए अच्छी नागरि[illegible] हमारे दिन-प्रतिदिन के व्यवहार पर निर्भर करती है। हम किस प्रकार बैठते है, किस प्रकार बातें करते हैं, किस प्रकार अपने घर में या आसपास सफाई रखते हैं, किस प्रकार अपने मित्रों, अतिथियों और अपने घर की महिलाओं से व्यवहार करते हैं, किस प्रकार अपने पड़ोसियों के साथ मिल-जुलकर रहते हैं, किस प्रकार सार्वजनिक कार्यों मे भाग लेते हैं—ये कुछ बातें है जिनसे हमारा नित्य का जीवन बनता और बिगड़ता है और जिससे हम सामाजिक चरित्र पर एक अमिट प्रभाव डाल सकते है। इसलिए अच्छे नागरिक को उन चीजों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए जिन्हें हम जीवन की मामूली बातें कहकर उपेक्षा की दृष्टि से ठुकरा देते है। इन्ही छोटी-छोटी बातों में पूरा उतरने से हम अपने जीवन के स्तर को ऊँचा उठा सकते है।

(८) मताधिकार का उचित उपयोग—अन्त में एक श्रेष्ठ नागरिक के लिए आवश्यक है कि वह अपने पुण्य अधिकार—मतदान की क्रिया—का उचित उपयोग करे। जो व्यक्ति स्वार्थरत होकर अपने मत का प्रयोग राष्ट्रहित की भावना से नही करते, वरन् जाति-पाँति, पारिवारिक बन्धन या धार्मिक विश्वास के आधार पर राय देते है, वह अपने राष्ट्र के शत्रु होते हैं। मताधिकार अधिकार होने के साथ-साथ एक परम पावन मानवीय कर्तव्य भी है। इस कर्तव्य की उचित पूर्ति पर हमारे समाज तथा राज्य का आदर्श सगठन निर्भर करता है। इसलिए अच्छे नागरिकों को चाहिए कि वे अपने मताधिकार का उचित उपयोग करे तथा ऐसे व्यक्तियों को ही विधान सभाओं में चुनकर भेजे जो समाज की सच्ची सेवा कर सकें।

विधान-सभा के सदस्यों तथा सरकारी कर्मचारियों का भी धर्म है कि वह सदा न्याय का पक्ष लें और बेईमानी, रिश्वत तथा सिफारिश का मार्ग त्याग दें। इन्हीं सब गुणों के द्वारा हम अपने समाज में श्रेष्ठ नागरिकता का विकास कर सकते है।

आज हमारे देश मे आदर्श नागरिकों की काफी कमी है। जहाँ देखो उदासीन,

स्वार्थी, प्रेमहीन, धन के पुजारी और असंयमी जीव ही अधिक देखने को मिलते हैं। हमारा जीवन इतना स्वार्थपूर्ण बन गया है कि हम अपना और अपने परिवार का पालन-पोषण करने में ही अपने जीवन की इतिश्री समझ बैठते हैं। हम सार्वजनिक कार्यों में भाग नहीं लेते, भाग लेते भी हैं तो अपनी स्वार्थ-सिद्धि के आशय से, राष्ट्रहित की भावना से नहीं। हमारे राजनीतिक दलों में कितने छोटे-छोटे गुट बन जाते हैं, छोटी-छोटी बातों पर हम झगड़ा करने लगते हैं। हमारे जीवन से संयम और अनुशासन का प्रायः लोप-सा हो चुका है, हममें धन-संचय की अधिक भावना पैदा हो गई है और चाँदी के कुछ टुकड़ों पर ही हम अपने राष्ट्रहित को बलिदान करने पर उद्यत हो जाते हैं। आज भारत स्वतंत्र हो गया है परन्तु हमारा नैतिक पतन इतना अधिक हो गया है कि शायद अपने चरित्र के स्तर को ऊँचा उठाने में हमें वर्षों लग जायँ। आज हमारे देश की शिक्षा तथा अन्य सब संस्थाओं का केवल एक कर्तव्य होना चाहिए और वह यह कि हम भारत में आदर्श नागरिक उत्पन्न करने का प्रयत्न करें।

नागरिकता कर्तव्यों के उचित क्रम-निर्माण पर अवलम्बित है

एक अँग्रेज लेखक डाक्टर विलियम बॉयड का कहना है—"Citizenship consists in the right ordering of loyalties." इस कथन का आशय यह है कि प्रत्येक नागरिक को अपने कर्तव्य का स्पष्टीकरण इस प्रकार करना चाहिए कि जिससे वह अपने समाज का अधिकाधिक हितसाधन कर सके। दूसरे शब्दों में नागरिक का जीवन इस प्रकार व्यतीत होना चाहिए कि उसके जीवन से कलह और संघर्ष निकलकर शान्ति और सुख का साम्राज्य स्थापित हो सके और वह अपने व्यक्तित्व का उच्चातिउच्च सीमा तक विकास कर सके।

मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास और आत्मोन्नति केवल समाज ही में हो सकती है। सामाजिक जीवन का अर्थ मनुष्य का विभिन्न संगठनों और संस्थाओं का सदस्य होना ही है। मनुष्य जितने अधिक संघों का सदस्य होगा उतना ही अधिक उसके व्यक्तित्व का विकास हो सकेगा। एक मनुष्य धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, परोपकारी, मनोरंजक, औद्योगिक और अनेक अन्य प्रकार के संगठनों का सदस्य रहता है। उसे इन सब संगठनों की सदस्यता से कुछ अधिकार प्राप्त होते हैं और इसके बदले में उसे उन सबके प्रति कुछ कर्तव्यों का भी पालन करना पड़ता है। हमारे दैनिक जीवन में कई बार ऐसे अवसर आते हैं जब हमारा एक संगठन के प्रति कर्तव्य दूसरे संगठन के प्रति कर्तव्य से संघर्ष में आता है। ऐसी दशा में नागरिकशास्त्र हमें इस संघर्ष को हल करने का उपाय बतलाता है और वह उपाय यह है कि ऐसी चिन्ताजनक परिस्थिति में नागरिक को विस्तृत हित के लिए एक छोटे स्वार्थ का त्याग कर देना चाहिए। संभवतः कुछ उदाहरणों से हमारी यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जायगी।

यदि हमारे पारिवारिक हितों का हमारे नागरिक हितों से संघर्ष होता है तो हमारा कर्तव्य है कि हम अपने नगर या ग्राम के हित के लिए अपने परिवार के हित

का त्याग कर दें। परिवार के हित से एक नगर या ग्राम के हितों का मूल्य निस्सन्देह अधिक होता है। यदि हमारे पड़ोसी के मकान में आग लग जाय अथवा हमारे पड़ोस में कोई आदमी सख्त बीमार हो तो हमारा कर्तव्य है कि हम अपने पड़ोसी की सेवा करें। यद्यपि इस प्रकार हमारे कार्य करने से परिवार के लोगों को कुछ न कुछ असुविधा अवश्य होगी परन्तु फिर भी एक नागरिक होने के नाते हमारा कर्तव्य है कि हम अपने परिवार के क्षणिक सुख की परवाह न करके अपने पड़ोसी की सेवा करें। जो मनुष्य अपने पड़ोसियों के हित की चिन्ता नहीं करता और सदा अपने परिवार के ही कामों में लगा रहता है वह स्वार्थी और संकुचित-हृदय का मनुष्य कहलाता है।

इसी प्रकार राष्ट्र के हित के लिए हमें दूसरे सारे हितों का त्याग कर देना चाहिए। जिस समय समूचे राष्ट्र पर विपदा पड़ी हो, या उसकी रक्षा का प्रश्न हमारे सामने हो, तो हमारा कर्तव्य है कि हम देश की रक्षा के लिए अन्य सभी हितों का बलिदान कर दें।

परन्तु कभी-कभी ऐसा भी हो जाता है कि एक राष्ट्र का हित मानव-समाज के हित से संघर्ष में आ जाता है। फासिस्ट और साम्राज्यवादी देशों के इतिहास में इस प्रकार के कितने ही उदाहरण देखने को मिलते हैं। जब कोई देश मिथ्या यश की प्राप्ति के लिए संसार के कमजोर देशों की स्वाधीनता और स्वतन्त्रता को कुचलने का विचार कर लेता है तब उसके नागरिकों का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह युद्ध करने से इन्कार कर दें और इस प्रकार मानव-समाज को आततायियों के चंगुल में पड़ने से बचायें।

हिन्दुओं के पवित्र धर्म-ग्रंथ मनुस्मृति में एक स्थान पर कहा गया है —

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे, आत्मार्थे पृथ्वीं त्यजेत्॥

इस श्लोक का अर्थ है, मनुष्य को अपने कुल के लिए देह को, ग्राम के लिए कुल का, देश के लिये ग्राम को और आत्मा के लिए पृथ्वी तक का त्याग कर देना चाहिए।

नागरिकशास्त्र का भी सबसे बड़ा नियम यही है कि मनुष्य को एक उच्च हित की प्राप्ति के लिए अपने छोटे हित का बलिदान कर देना चाहिए। दूसरे शब्दों में मनुष्य को परिवार के हित के लिए अपना, नगर के लिए परिवार का, देश के लिए नगर का और मानव-समाज के लिए देश का बलिदान करने के लिए उद्यत रहना चाहिए।

आदर्श नागरिक बनने के मार्ग में कुछ बाधाएँ
(Hindrances to good Citizenship)

हमारे समाज की व्यवस्था अथवा हमारे व्यक्तिगत आचार में कुछ ऐसे दोष हो सकते हैं जो हमारे एक अच्छा नागरिक बनने में बाधाएँ सिद्ध हों। साधारणतया हम इन दोनों का इस प्रकार वर्णन कर सकते हैं—

(१) प्राचीन रीति-रिवाज और प्रथाएँ—रूढ़िवादी और पुरातनवादी विचार नागरिकता के मूलतत्त्व के विरोधक हैं। पुराने आदर्शों पर चलना कोई बुरी चीज नहीं;

परन्तु पुरानी बातों को केवल इसलिए अपनाना कि वे प्राचीन काल से चली आती हैं और इसलिए पवित्र हैं, अवैज्ञानिक भावना है। हमें केवल उन्हीं प्राचीन आदर्शों को अपनाना चाहिए जो वर्तमान काल में वैज्ञानिक दृष्टि से अच्छे हों। दूसरी पुरानी रीति-रिवाजों का हमें त्याग कर देना चाहिए। परन्तु हम देखते हैं कि मनुष्य पुराने संस्कारों में इतना जकड़ जाता है कि वह इच्छा रहते हुए भी प्राचीन रूढ़ियों से अपने आपको स्वतंत्र नहीं कर सकता। भारत में ही नहीं दूसरे देशों में भी यही दशा है। इंगलैंड में आज लार्डस् और कामन्स की प्रथा इस बात की द्योतक है। हमारे देश में छुआ-छूत, जात-पाँत, ऊँच-नीच की भावना भी इसी पुरातन भावना के उदाहरण हैं।

(२) **सार्वजनिक कर्तव्यों के प्रति उदासीनता**—नागरिक कर्तव्यों को उचित रूप से पालन करने में एक और जबर्दस्त बाधा उदासीनता है। बहुत से मनुष्य सार्वजनिक कार्यों में किसी प्रकार का भाग नहीं लेते। वह समझते हैं कि व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति ही संसार में सबसे बड़ी चीज है, ऐसे मनुष्य कभी अच्छे नागरिक नहीं बन सकते। किसी समाज का उत्थान केवल उस समय होता है जब उसका प्रत्येक सदस्य किसी न किसी प्रकार से समाज के कामों में भाग ले। व्यक्ति समाज से अनेक प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त करता है। स्कूल, कॉलेज, लाइब्रेरी, क्लब, कलाकेन्द्र, साहित्यिक संस्थाएँ इत्यादि हमें समाज की ही देन हैं। इन्हीं संस्थाओं के द्वारा मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। यदि हम समाज से ही यह सारी सुविधाएँ प्राप्त करते हैं, तो हमारा धर्म है कि हम स्वयं भी सामाजिक कार्यों में भाग लें, नये स्कूल खोलें, अशिक्षितों को शिक्षा दें, गरीब और अपाहिजों की सेवा करें, नये साहित्य और कला-कौशल के केन्द्रों की स्थापना करें इत्यादि। सार्वजनिक कार्यों के लिए कोई एक या कोई विशेष व्यक्तियों का समूह जिम्मेदार नहीं, प्रत्येक व्यक्ति को ही अपनी योग्यतानुसार सार्वजनिक कार्यों में भाग लेना चाहिए। "इस बात का मुझसे क्या सम्बन्ध है", "दो व्यक्ति आपस में झगड़ा करते हैं, तो हमें उससे क्या", "अमुक आदमी एक सरकारी काम में गबन करता है, हम क्यों इस बात की रिपोर्ट करें," "अमुक व्यापारी चोर बाजार में चीजें बेचता है परन्तु हम क्यों उसकी शिकायत करके उससे दुश्मनी मोल लें" इत्यादि—इस प्रकार की बातें नागरिकता के सिद्धान्त के विरुद्ध हैं। समाज के प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि वह सामाजिक बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न करे और सामाजिक कार्यों में बिना किसी भय के भाग ले।

(३) **व्यक्तिगत स्वार्थ**—एक तीसरा दोष जो नागरिक को नीच बना देता है व्यक्तिगत स्वार्थ है। इसके कारण मनुष्य सार्वजनिक हित के कार्य के लिए अयोग्य बन जाता है। वह सार्वजनिक हित के लिए अपने अल्प सुखों का त्याग नहीं कर सकता।

स्वार्थी मनुष्य सदा अपना हित चाहता है। अपने हित-साधन के लिए यदि उसे राष्ट्रीय हित का भी बलिदान करना पड़े तो वह इसमें नहीं हिचकिचाता। वह थोड़े आर्थिक लाभ के लिए अपने देश को बेच सकता है। वह अपने हित-साधन के लिए सरकारी पद के अधिकारों का दुरुपयोग कर सकता है। इस प्रकार व्यक्तिगत स्वार्थ आदर्श नागरिक जीवन की तीसरी कड़ी रुकावट है।

(४) **दरिद्रता**—अच्छे नागरिक जीवन के लिए चौथी बड़ी बाधा दरिद्रता है। दरिद्री और कगाल मनुष्य समाज में नीचातिनीच दुष्कर्म और पाप कर सकता है। जिस मनुष्य को दिन मे दो बार भी खाना नही मिलता वह डकैती, चोरी, हत्या, दगाबाजी और अन्य बुरे कार्यों मे पड सकता है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है "बुभुक्षित: कि न करोति पापम्।" हमारे राष्ट्र के सदाचार के निर्माण के लिए दरिद्रता का अन्त परमावश्यक है।

(५) **दलबन्दी-प्रथा**—प्रजातन्त्रात्मक शासन को चलाने के लिए राजनीतिक दल आवश्यक है। परन्तु इस प्रकार के दल धार्मिक या साम्प्रदायिक प्रश्नो पर नही वरन् राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक उद्देश्यो पर बनाने चाहिए। बहुत बार राजनीतिक दल व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना को लेकर बना दिये जाते हैं। इस प्रकार के दलो मे देश को हानि पहुँचने की सभावना रहती है। बहुत बार राजनीतिक दलो के सदस्य अपने दल की शक्ति का उपयोग राज्य की भलाई के लिए नही वरन् केवल दल के सदस्यो के हित की प्राप्ति के लिए करने लगते हैं। इस प्रकार की भावना से समाज का नैतिक पतन हो जाता है और उसमें सघर्ष और पतन की भयकर परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती है। नागरिकता का आदर्श सब की सेवा करना है परन्तु अधिक फिरकापरस्ती की भावना से काम करनेवाले लोग इसे भूल जाते है और इस प्रकार समाज का अध पतन और नाश होने लगता है। सकुचित दलबन्दी की भावना इस प्रकार आदर्श नागरिकता के मार्ग में पाँचवी बडी बाधा है।

(६) **अशिक्षा**—शिक्षा सामाजिक उन्नति का प्रधान साधन है। इससे व्यक्तियो के हृदय में वास्तविक नागरिकता, चैतन्यता और सार्वजनिक कार्यों मे सच्चा अनुराग पैदा होता है। शिक्षा के अभाव से समाज में अनेक बुराइयाँ पैदा हो जाती है और उनके कारण देश अध.पतन की ओर बढ़ता चला जाता है।

(७) **राष्ट्रवाद, पूँजीवाद, और साम्राज्यवाद की प्रबल भावना**—अन्त में आदर्श नागरिकता के मार्ग में अध राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद और पूँजीवाद की भावनाएँ नुकीले तेज काँटो का काम करती हैं। मनुष्य में राष्ट्रीय भावना का होना अत्यन्त श्रेयस्कर है परन्तु इस भावना का उग्र रूप मनुष्य को पागल भी बना सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को देशभक्त होना चाहिए। परन्तु यह देशभक्ति इतनी अधी न हो कि मनुष्य अपने देश की झूठी शान और गौरव को बढ़ाने के लिए दूसरे देशो की स्वतन्त्रता का अपहरण करने लगे। नाजी जर्मनी और फासिस्ट इटली मे पिछले दिनो एक ऐसी ही उग्र राष्ट्रीय भावना यहाँ के नागरिको के हृदय में पैदा हो गई थी। इसका परिणाम यह हुआ कि इन देशो की जनता ने यूरोप के अन्य स्वतंत्र देशो को कुचलकर वहाँ की जनता को अपना गुलाम बनाकर रखना चाहा था। अन्त में इन पाशविक शक्तियों की हार हुई, परन्तु इससे यह सदा के लिए ही सिद्ध हो गया कि मनुष्य मे झूठी देशभक्ति और राष्ट्रीयता का भाव कितना भयंकर और उग्र रूप धारण कर सकता है। पिछले दिनो हमारे देश के कुछ नवयुवको के वर्ग में भी ऐसी ही भावना का संचार होने लगा था, परन्तु भारत सरकार की सतर्कता के कारण यह विष अधिक नही फैलने पाया।

अन्ध राष्ट्रवादिता का दूसरा नाम साम्राज्यवाद की भावना भी है। जब एक देश अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करने के पश्चात् अपनी सैन्य-शक्ति के बल से दूसरे देशों की स्वतंत्रता का अपहरण करना चाहता है तो उस देश को साम्राज्यवादी देश कहते हैं। स्वतंत्र राष्ट्रों में यह भावना अनेक राजनीतिक और आर्थिक कारणों के द्वारा पैदा हो जाती है। परन्तु अन्ध राष्ट्रीयता की भावना के समान ही यह भावना भी नागरिकता की दृष्टि से अत्यन्त हानिकारक सिद्ध होती है और किसी भी स्वतन्त्र देश के नागरिकों में इस भावना का संचार न होने देना चाहिए।

साम्राज्यवाद के पश्चात् पूंजीवाद की उत्कट भावना भी आदर्श नागरिकता के मार्ग में एक भारी रुकावट है। पूंजीवादी लोग अपने धन की पिपासा को शान्त करने में उचित और अनुचित, अच्छे और बुरे, किसी प्रकार के साधनों में भी अन्तर नहीं करते। गरीबों का खून चूसना और श्रमिक वर्ग का शोषण, उनका एकमात्र धर्म बन जाता है। उनके हृदय से उदारता, दया, प्रेम, सहानुभूति, सहृदयता और इसी प्रकार के दूसरे सभी गुणों का लोप हो जाता है और वह लोहे की एक कल-पुर्जेवाली मशीन के समान भावना-शून्य बन जाते हैं। अन्ध राष्ट्रीयता, साम्राज्यवाद और पूंजीवाद यह तीनों ही भावनाएँ एक-दूसरे से संबंधित हैं और इसलिए यह तीनों ही आदर्श नागरिकता के मार्ग में भारी रुकावटें हैं।

इन बाधाओं को दूर करने के उपाय (Ways to remove these hindrances)

आदर्श नागरिकता के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने के लिए आवश्यक है कि देश और राज्य की सारी शक्ति इस ओर लगा दी जाय। देश के समस्त साधन, शिक्षा-संस्थाएँ, सरकार का प्रचार विभाग, रेडियो, समाचार-पत्र, सांस्कृतिक-संस्थाएँ, कला-केन्द्र, राजनीतिक दल, धार्मिक संस्थाएँ इत्यादि इस ओर ध्यान दें। किसी देश का गौरव और उत्थान उसके नागरिकों के चरित्र पर अवलम्बित होता है। चरित्रहीन मनुष्यों की भीड़ से कोई भी समाज उन्नति नहीं कर सकता। आदर्श चरित्रवाला एक ही मनुष्य देश और राष्ट्र का नाम संसार में जगमगा सकता है। आज भारत को गांधी जैसे योग्य पुरुष को जन्म देने का गौरव है। परन्तु किसी देश में ऐसी संतान उत्पन्न करने के लिए एक उपयुक्त वातावरण की आवश्यकता पड़ती है। यह वातावरण तभी निर्मित हो सकता है जब देश की शिक्षा और सांस्कृतिक संस्थाएँ इस ओर विशेष ध्यान दें, देश के राजनीतिक दलों का निर्माण साम्प्रदायिक प्रश्नों को छोड़कर आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं पर हो, हमारे घर में स्त्रियों को उचित प्रकार की शिक्षा दी जाय और हमारा पारिवारिक जीवन सहयोग और प्रेम की भावना पर अवलंबित हो।

परिवार—सर्वप्रथम परिवार आदर्श नागरिकता के निर्माण में सबसे प्रमुख भाग लेता है। अच्छा नागरिक बनने के लिए आवश्यक है कि हमारा पारिवारिक जीवन सुखी, अनुशासनपूर्ण तथा स्वच्छ हो। सद्गृहस्थ के अन्दर रहकर ही बच्चों में उन गुणों—जैसे सहानुभूति, सेवा, सहयोग, भ्रातृभाव तथा बलिदान का जन्म होता है, जो अच्छे

सामाजिक जीवन की आधार-शिला है। जिन बच्चों के माता-पिता शिक्षित होते हैं तथा जिन परिवारों में प्रेम और स्नेह का वातावरण रहता है, उन घरों के बच्चे सभ्य, सुशील तथा बुद्धिमान बनते हैं। इसके विपरीत जिन घरों में माता-पिता अशिक्षित होते है, जहाँ कलह और फूट का साम्राज्य रहता है, जहाँ न बच्चों को ठीक प्रकार का भोजन मिलता है और न पहनने के लिए साफ कपड़े, जहाँ बच्चों की सगति गदी होती है और वह आवारा बच्चों के साथ रहकर गाली-गलौज सीखते हैं तथा जहाँ बच्चों को ठीक प्रकार की शिक्षा प्रदान नही की जाती, उन घरों के बच्चे आगे चलकर अच्छे नागरिक नही बन सकते। इसलिए कहा जाता है कि परिवार नागरिकता का पहला शिक्षण केन्द्र है।

स्कूल और कालेज तथा उनके अध्यापक—परिवार के पश्चात्, नागरिकता के निर्माण में सबसे महत्त्वपूर्ण भाग स्कूल और कॉलेज लेते हैं। प्राचीन काल में इसी कारण हमारे समाज में गुरुओं को सबसे ऊँचा स्थान दिया जाता था। आदर्श अध्यापक अपने शिष्यों पर नागरिक गुणों की अमिट छाप लगा सकते हैं तथा उन्हें श्रेष्ठ जीवन-यात्रा के लिए तैयार कर सकते है।

वास्तव में परिवार की भाँति पाठशालाओं में विद्यार्थी के अन्दर उन गुणों का विकास होता है, जो एक सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक है। स्कूल के अन्दर सबसे अधिक महत्त्व, आज्ञापालन, अनुशासन तथा पारस्परिक सहयोग को दिया जाता है। हम उसी स्कूल व कालेज को अच्छा कहते है जहाँ का अनुशासन अच्छा हो, जहाँ के विद्यार्थी एक-दूसरे के साथ सगे भाई का-सा व्यवहार करें, जहाँ के अध्यापक अपने शिष्यों से पुत्रवत् प्रेम करें, जहाँ पर बच्चों के व्यक्तित्व के विकास के लिए हर प्रकार की सुविधाएँ हों तथा जहाँ तरह-तरह की सभा-सोसाइटी, पार्लियामेंट, साहित्यिक सभा, ड्रामैटिक क्लब तथा इसी प्रकार की दूसरी संस्थाएँ हों। इन संस्थाओं के द्वारा बच्चों में आत्मविश्वास, अनुशासन, सहयोग तथा स्वतंत्र रूप से काम करने की शक्ति का विकास होता है।

राजनीतिक दल तथा धार्मिक संस्थाएँ—*परिवार तथा शिक्षा संस्थाओं के पश्चात्* राजनीतिक दल तथा धार्मिक संस्थाएँ नागरिकता की बाधाएँ दूर करने में महत्त्वपूर्ण भाग लेती है। राजनीतिक दलों के नेता जनता से निकट सम्पर्क रखते है। वह अपने भाषणों द्वारा जनता को सार्वजनिक कार्यों में रुचि लेने तथा सेवा और त्याग का मार्ग अपनाने के लिए आन्दोलित करते हैं। यदि हमारे राजनीतिक नेता स्वयं भी उसी प्रकार का आचरण करें जिसके लिए वह निरन्तर दूसरों को शिक्षा देते है तो स्पष्ट है कि इससे जनता के चरित्र पर गहरा प्रभाव पड़ता है। हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी जनता के हृदय-सम्राट् थे। इसका कारण यही था कि वह जो चाहते थे, पहले अपने आप करते थे। इसलिए उन्होंने करोड़ों व्यक्तियों के जीवन को प्रभावित किया तथा उनमें त्याग, बलिदान, सेवा, प्रेम और सहानुभूति का भाव भर दिया। धार्मिक संस्थाएँ भी अपने अनुयायियों के चरित्र का इसी प्रकार गठन कर सकती हैं। धार्मिक गुरु और नेता अहंकार, मद, लोभ, तृष्णा, काम और क्रोध को त्याग कर निःस्वार्थ प्रेम, सेवा और बलिदान का जीवन व्यतीत करके असंख्य लोगों के चरित्र का निर्माण कर सकते हैं।

समाचार-पत्र—आदर्श नागरिकता के निर्माण में किसी देश का प्रेस तथा पत्रकार भी बड़ा भाग लेते हैं। यदि समाचार-पत्र, सत्य, न्याय और शान्ति का पक्ष लें और झूठी अफवाहों, मिथ्या आरोपों तथा संघर्ष और दुराचारों की खबरों को बढ़ा-चढ़ाकर न छापें तो जनता का नैतिक स्तर बहुत ऊँचा उठ सकता है। प्रत्येक समाज में निर्माण तथा विनाश का कार्य बराबर होता रहता है। समाचार-पत्रों का धर्म है कि वह निर्माण के कार्यों को अधिक प्रसारित करें तथा खबरों को इस ढंग से छापें कि उनसे समाज में प्रेम, सहयोग तथा सेवा का भाव निर्माण हो। क्षणिक लाभ के लिए समाज के विचारों को ऊपर लानेवाले पत्र तथा हिंसा, घृणा और वैमनस्य का प्रचार करनेवाली पत्रिकाएँ समाज की बहुत बड़ी हानि करती हैं और श्रेष्ठ नागरिकता के विकास में बाधक सिद्ध होती हैं।

राज्य—अन्त में राज्य अपने कानूनों द्वारा तथा सामाजिक संगठनों एवं संस्थाओं पर नियंत्रण रखकर आदर्श नागरिकता के निर्माण में बहुत महत्त्वपूर्ण भाग लेता है। राज्य द्वारा ही शिक्षा-संस्थाओं का संचालन किया जाता है। राज्य ही कानून पास करके सामाजिक कुरीतियों को नष्ट कर सकता है। राज्य द्वारा ही नशाबन्दी का प्रबन्ध किया जा सकता है। राज्य ही ऐसी संस्थाओं को कार्य करने से रोक सकता है जो समाज में अनैतिकता का प्रचार करती हैं। राज्य द्वारा ऐसा वातावरण निर्माण किया जा सकता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सुख और शान्ति के साथ अपना जीवन निर्वाह कर सके।

इस प्रकार उपरोक्त सभी साधनों के प्रयोग से हम किसी देश में आदर्श नागरिकता के मार्ग में आनेवाली बाधाओं का विनाश कर सकते हैं।

स्वाधीन, जनशील, सुबोध तथा चैतन्यशील नागरिकता का महत्त्व अथवा आदर्श

प्रश्न उठता है कि आदर्श नागरिकों के बुद्धिमान्, सुबोध तथा चैतन्यशील समूह से राज्य तथा समाज को क्या लाभ होता है? ऐसे नागरिक किस आदर्श की पूर्ति का स्वप्न देखते हैं तथा वह उसे किस प्रकार पूरा करते हैं?

समाज को लाभ—उपरोक्त प्रश्नों का उत्तर यही है कि नागरिकों के आन्तरिक गुणों पर ही किसी समाज या राष्ट्र का भविष्य निर्भर करता है। संसार के सभी देशों में ही मनुष्य बसते हैं। फिर क्यों कुछ देश अत्यन्त प्रगतिशील, सभ्य, न्यायप्रिय तथा उच्च माने जाते हैं, और दूसरे अवनत, पिछड़े हुए, असभ्य तथा संघर्परत। इसका कारण यही है कि चरित्रवान् समाजसेवी, प्रेम, सेवा, सहयोग और त्याग की भावनाओं से प्रभावित व्यक्ति ही किसी देश को आगे बढ़ाते हैं और उसकी गणना संसार के सभ्य और उन्नतिशील देशों की श्रेणी में कराते हैं। हम एक ऐसे देश को बड़ा नहीं मानते जहाँ अधिक आबादी हो वरन् एक ऐसे राष्ट्र को महान् कहते हैं जहाँ के नागरिकों का समूह सभ्य, बुद्धिमान्, निपुण, सुबोध तथा चैतन्यशील हो। अफ्रीका महाद्वीप में २० करोड़ आदमी बसते हैं फिर भी उसके मुकाबले में स्विट्जरलैण्ड जैसे ३५ लाख की आबादी के देश का अधिक मान है। इसका कारण यही है कि महत्ता और बड़प्पन का मापदंड संख्या नहीं वरन् गुण है।

जनशील नागरिकता का आदर्श—बुद्धिमान् तथा सुबोध नागरिकों का आदर्श यह

नही होता कि वह किसी भी प्रकार अपनी स्वार्थ-साधना करें एव धन तथा ऐश्वर्य के सचय से अपनी निजी शक्ति बढायें। उनका ध्येय होता है कि वह उस समाज तथा राष्ट्र की नि-स्वार्थ सेवा कर सकें जिसके वह अविच्छिन्न अग हैं तथा जिसके आगे बढने से उनकी अपनी मान-मर्यादा बढती है। आदर्श नागरिक जन-कल्याण में अपना स्वय का कल्याण देखता है, वह समझता है कि यदि समाज उन्नति करता है तो उसमें उसकी अपनी उन्नति सन्निहित है, यदि उसका राष्ट्र महत्ता को प्राप्त होता है तो उसकी अपनी शान बढती है। ऐसा व्यक्ति समाज से दु ख, दर्द, क्लेश, सघर्ष, गरीबी, भूख, अशिक्षा तथा अधविश्वास को निकालने के लिए सदा प्रयत्नशील रहता है तथा अपने जीवन का लक्ष्य दूसरो की सेवा बनाता है।

देश को लाभ—विदित है कि किसी भी देश को नागरिको के ऐसे वर्ग पर गर्व हो सकता है। बुद्धिमान् नागरिक देश मे शान्ति का निर्माण करते है, वह समाज से निर्धनता और गरीबी को दूर करते है, वह शोषण के विरुद्ध आवाज उठाते है, वह सदा न्याय का पक्ष लेते हैं, वह अधिकारो की अपेक्षा अपने कर्तव्यो की पूर्ति पर अधिक जोर देते हैं, वह स्वतत्रता का मूल्य समझते है तथा अपने देश की रक्षा एव अपने अधिकारो की प्राप्ति के लिए बडे से बडा बलिदान करने को तत्पर रहते है। कोई भी देश ऐसे ही नागरिको के कारण उन्नति को प्राप्त होता है और ससार में नाम कमाता है।

सरकार को लाभ—श्रेष्ठ नागरिको के समूह से शासन के कार्य में भी अत्यन्त सुगमता रहती है। वास्तव में किसी भी देश में प्रजातत्र शासन उस समय तक सफलता प्राप्त नही कर सकता जब तक उसके नागरिको का चरित्र उच्च न हो और वह आदर्श नागरिकता का अर्थ न समझते हो। श्रेष्ठ नागरिक ही मतदान-क्रिया का उचित उपयोग करते है और ऐसे व्यक्तियो को अपना प्रतिनिधि चुनते है जो समाज की नि स्वार्थ भाव से सेवा कर सकें। ऐसे नागरिक ही चैतन्यशील रहकर अपने अधिकारों की रक्षा करते है तथा शासन को निरकुश और स्वार्थी लोगो के हाथों में जाने से रोकते हैं। ऐसे नागरिक ही सरकार को इस बात के लिए विवश करते हैं कि वह जन-कल्याण की योजनाएँ बनाये और किसी वर्ग विशेष के हित के लिए कार्य न करे। कल्याणकारी तथा प्रगतिशील राज्य का निर्माण ऐसे ही व्यक्तियो के सहयोग से हो सकता है।

योग्यता प्रश्न

१. आप 'नागरिक और नागरिकता' से क्या समझते हैं? (यू० पी०, १९३०, १९३२)

२. "मनुष्य की उच्च उन्नति उसके अल्प हितों को उच्च और विस्तृत हितो के अधीन बनाने में सन्निहित है", इसका विवेचन कीजिए। (यू० पी०, १९३०)

३. आप नागरिकता की किस तरह व्याख्या करेंगे? नागरिक के राज्य के प्रति क्या कर्तव्य हैं? (यू० पी०, १९३२ और १९३६)

४. "नागरिकता का अर्थ हमारी शक्ति को अपने में, परिवार में, धर्म में, नगर में और राष्ट्र में क्रमानुसार उचित रूप से जमाना है।" इस पर प्रकाश डालिए। (यू० पी०, १९३८ और १९३९)

५. अच्छी नागरिकता की बाधाओं का वर्णन कीजिए और बतलाइये कि वे किस तरह हटाई जा सकती हैं ? (यू० पी०, १९३८)

६. अच्छी नागरिकता की बाधाएँ क्या हैं और वे किस तरह हटाई जा सकती है ? (यू० पी०, १९३९)

७. "नागरिकता का अर्थ शक्ति का उचित क्रमानुसार संगठन है ?" आप अपनी शक्ति परिवार, नगर, समाज और देश के प्रति किस प्रकार से संगठित करेंगे यह समझाइये। (यू० पी०, १९३९, १९४८)

८. "नागरिकता जीवन की वह परिस्थिति है जो मनुष्य को राज्यभक्ति प्रदर्शन करने के बदले में नागरिक और राजनैतिक सभी प्रकार के अधिकारों के उपभोग की पूर्ण व्यवस्था करती है।" इस पर प्रकाश डालिए। (यू० पी०, १९४१)

९. नागरिकता का क्या अर्थ है ? नागरिक और विदेशी का भेद बताइये। (यू० पी०, १९४३)

१०. नागरिकता की सबसे प्रमुख कसौटी राय देने का अधिकार क्यों माना गया है ? (यू० पी०, १९४५)

११. नागरिक के सबसे प्रमुख कर्तव्यों का उल्लेख आप किस प्रकार करेंगे ? (यू० पी०, १९४८, पंजाब, १९५०)

१२. स्वाधीन, जनशील, चैतन्य नागरिकता का आपके अनुसार क्या आदर्श है ?

१३. देश को नागरिकों के चैतन्यशील समूह से क्या लाभ है ? शासन की कार्यवाहियों पर उनका क्या प्रभाव पड़ता है ? (पंजाब, १९५६)

१४. जन्मजात नागरिक (Natural born Citizen) और राज्यदत्त नागरिक (Naturalised Citizen) की भिन्नता समझाइये। नागरिकता किस प्रकार प्राप्त की जाती है और किस प्रकार विलुप्त हो जाती है, इस पर प्रकाश डालिए।

१५. अच्छी नागरिकता के विकास में हमारी आदतों का क्या महत्व है ?

१६. एक नागरिक, एक विदेशी और एक प्रजा के भेद समझाइये। अच्छे नागरिक में कौन-कौन से गुण होने चाहिए ?

१७. नागरिक जीवन में प्रमुख बाधाएँ क्या हैं ? भारतीय दशाओं पर विशेष ध्यान देते हुए इसका विवेचन करो। (यू० पी०, १९५३, पंजाब, १९५६)

१८. "नागरिकता हमारे कर्तव्यों का उचित रूप से क्रम-निर्धारण है।" इस वाक्य पर प्रकाश डालिए। (यू० पी०, १९५५, पंजाब, १९५५)

१९. नागरिकता से आप क्या समझते हैं ? आदर्श नागरिक सरकार के लिए क्यों महत्त्वपूर्ण है ? (यू० पी०, १९५६)

२०. नागरिकता का अर्थ शक्ति का उचित क्रमानुसार संगठन है। हम अपनी शक्ति, परिवार, नगर, समाज और देश के प्रति किस प्रकार से संगठित करेंगे। (यू० पी०, १९५८, पंजाब, १९५५)

अध्याय ७

अधिकार और कर्तव्य

(Rights and Duties)

पिछले अध्यायों में हमने समाज की अतीतावस्था पर एक विहगम दृष्टि डाली है और वर्तमान समाज के सगठन का भी कुछ वर्णन किया है।

सामाजिक व्यवस्था का उपयोग विभिन्न उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किया जा सकता है। उदाहरण के लिए इसके द्वारा एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को आतंकित करने की चेष्टा करता है, अथवा एक ही देश के अन्दर गरीब मजदूरों और किसानों का शोषण किया जा सकता है। इसलिए राज्य और उसके विभिन्न अगो का अध्ययन करने से पहले उन आदर्शों का वर्णन करना चाहिए जिनके अनुसार हमें समूचे सामाजिक सगठन की व्यवस्था करनी है। आदर्श सामाजिक व्यवस्था वह है जिसमें प्रत्येक मनुष्य को चाहे वह किसी भी वर्ण, जाति, धर्म, सम्प्रदाय या लिंग से सम्बन्ध रखता हो अपने हित-साधन के लिए बराबर के ही अवसर प्राप्त हो। ऐसा सामाजिक सगठन समाज के प्रत्येक मनुष्य के लिए एक-से-ही अधिकार और कर्तव्यों की प्राप्ति पर अवलम्बित है, इसलिए प्रस्तुत अध्याय में हम सर्वप्रथम मनुष्य के अधिकारो और कर्तव्यों का ही विवेचन करेंगे।

§ १. अधिकारों का स्वभाव

(Nature of Rights)

अधिकारों का अर्थ और व्याख्या—(Nature of Rights)—अधिकार शब्द के सही अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में भी मतभेद है। इसलिए सर्वप्रथम हम अधिकारो के विषय में विभिन्न राजनीतिक लेखको के मतो का अध्ययन करेंगे।

हालैंड अधिकार की व्याख्या इस प्रकार करता है। "अधिकार एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति के कर्तव्यों को समाज के मत और शक्ति द्वारा प्रभावित करने की क्षमता है।[1] आस्टिन के मतानुसार "एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों से बलपूर्वक कुछ विशेष प्रकार के कार्य कराने की क्षमता का नाम अधिकार है।"[2] विले अधिकार शब्द की व्याख्या इस प्रकार करता है कि "यह विशेष कार्य-पालन करने में

---

१ "Rights are one man's capacity of influencing the acts of another by means of the opinion and force of the society."

(Holland)

२ "Rights mean one man's capacity of exacting from another or others acts of forbearances.

(Austin)

स्वाधीनता की उचित माँग है।"[३] क्रॉस एक और ही नये ढंग से अधिकारों की प्रथा का वर्णन करता है। उसके अनुसार "अधिकार नैतिक जीवन की बाह्य आवश्यक शर्तों का आंगिक समूह है।"[४] हमारे विचार मे अधिकार शब्द की सबसे उत्तम परिभाषा यह है कि **अधिकार मनुष्य या मनुष्य समुदाय के अच्छा जीवन व्यतीत करने की वह माँगें हैं जो समाज के द्वारा समाज हित की भावना से स्वीकृत कर ली गई हों।**[५]

अधिकारों का ब्यौरा—ऊपर की गई परिभाषा के अन्तर्गत अधिकारों के तीन आवश्यक अंग हैं :—

(१) अधिकार किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के समुदाय की माँग का नाम है। (२) यह वह माँग है जो उस मनुष्य-समूह के हित के लिए आवश्यक है और (३) यह वह माँग है जिसे पूरा समाज भी अपने सब सदस्यों के हित के लिए आवश्यक समझता है।

अब हम अधिकारों के इन तीनों अंगों का सविस्तार वर्णन करेंगे :—

(१) प्रत्येक मनुष्य की अनेक इच्छाएँ होती हैं जिन्हें वह संतुष्ट करना चाहता है। ये इच्छाएँ केवल विशेष परिस्थितियों में और विशेष वस्तुओं द्वारा ही संतुष्ट की जा सकती हैं। इसलिए मनुष्य उन परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करना चाहता है। मनुष्य की इन अवस्थाओं को चाहने की माँग पर ही अधिकारों की नींव कायम है।

(२) मनुष्य की इच्छाएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। इनमें से कुछ की पूर्ति मे उसका हित साधन होता है, परन्तु कुछ इच्छाएँ ऐसी होती हैं जो उसके स्थायी हित के अनुकूल नहीं कही जा सकतीं। उदाहरण के लिए हम देखते हैं कि बहुत से लोग शराब या दूसरी मादक वस्तुओं का प्रयोग करना चाहते हैं, कुछ चोरी करना चाहते हैं, कुछ जुआ खेलना चाहते हैं। ऐसी माँगें मनुष्यों के अधिकार नहीं कही जा सकतीं क्योंकि वह उसके सच्चे हित के विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त जो लोग विवेक से काम करने की क्षमता रखते हैं और स्वभावतया नैतिक जीवन व्यतीत करते हैं हम उन्हीं लोगों के लिए अधिकारों की कल्पना कर सकते हैं, विवेकहीन और अपवित्र विचारोंवाले व्यक्तियों के लिए नहीं। पशु-संसार में एक पशु का दूसरे पशु के विरुद्ध किसी प्रकार का अधिकार नहीं होता। एक शेर जब चाहे और जब भी उसका दाँव लगे एक भेड़ या बकरी या दूसरे किसी जानवर को मारकर खा सकता है; भेड़ या बकरी को शेर के विरुद्ध रक्षा का अधिकार

---

३ "Rights are a reasonable claim to freedom in the exercise of certain activities." (Wilde)

४ "Rights are the organic whole of the rational life." (Krause)

५ "Rights are those claims of an individual or group of individuals to good life which are recognised by the community as essential for the common good."

६ "Rights are those conditions of social life without which no man can seek to be himself at his best." (Laski)

प्राप्त नही। ऐसा इसलिए है कि पशु-समाज का सगठन विवेक या नैतिकता के आधार पर नही वरन् भावना के आधार पर होता है। अधिकारो का अस्तित्व केवल एक विवेकशील और नैतिक समाज में ही हो सकता है। विवेक और नैतिकता, 'माँग' को अधिकार बनाती हैं। इसलिए मनुष्य की केवल ऐसी माँगो को अधिकार कहा जा सकता है जो उसके हित अथवा नैतिक जीवन के लिए आवश्यक हो।

(३) अन्त में माँग उस समय तक अधिकार नही बन सकती जब तक उसे समाज की स्वीकृति प्राप्त न हो। ऐसा होने के दो कारण हैं। पहला यह कि मनुष्य समाज में रहकर ही अच्छा जीवन व्यतीत कर सकता है। समाज से बाहर जैसा हम पहले देख चुके है, मनुष्य न अपनी आवश्यकताओं की ही पूर्ति कर सकता है और न अपने व्यक्तित्व का विकास ही। यदि समाज, अपनी नैतिक शक्ति द्वारा दूसरे मनुष्यों से किसी व्यक्ति की माँगों की पूर्ति नही करा सकता, तो ऐसी दशा मे उसे अपनी माँग की पूर्ति के लिए अपनी ही शक्ति पर निर्भर रहना पड़ेगा। ऐसा करने से समाज में अनेक प्रकार के झगडे पैदा हो सकते है और समाज का सगठन अस्त-व्यस्त हो सकता है, इसलिए यह आवश्यक है कि मनुष्य की प्रत्येक माँग पर समाज निष्पक्ष भाव से विचार करे और यदि उसे न्यायसगत पाये तो उसे अधिकार का रूप दे दे। समाज द्वारा माँग के न्यायपूर्ण मान लिये जाने पर उसमे समाज की शक्ति जुड जाती है और इसके पश्चात् सारा समाज ही अपने नैतिक बल द्वारा उस माँग की पूर्ति कराने मे लग जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि समाज द्वारा मनुष्य को उसके अधिकारो की स्वीकृति प्राप्त हो।

समाज द्वारा अधिकार की स्वीकृति अनिवार्य होने का दूसरा कारण यह है कि *अधिकारों का विचार केवल समाज में ही उत्पन्न होता है।* मनुष्य समाज से अलग रहकर निर्जन स्थान में अपना जीवन व्यतीत नही कर सकता। यदि ऐसा सम्भव होता तो मनुष्य को अधिकारो की आवश्यकता ही नही पड़ती वह तो सारे ही जगल का स्वामी होता। अधिकारो की आवश्यकता तो केवल ऐसे समाज मे पड़ती है जहाँ दूसरे मनुष्य भी रहते हो और जहाँ एक मनुष्य के अधिकार दूसरे मनुष्य के अधिकारो से सघर्ष मे आते हों। *समाज में रहकर प्रत्येक मनुष्य एक सुखी और समृद्धिशाली जीवन व्यतीत करना* चाहता है। ऐसा करने के लिए आवश्यक है कि समाज के दूसरे लोग उसे ऐसा जीवन व्यतीत करने की आवश्यक सुविधाएँ प्रदान करें। जब समाज के दूसरे सभी व्यक्ति इस प्रकार की सुविधाएँ देने के लिए उद्यत हो जाते हैं, तो मनुष्य की माँग अधिकार का स्वरूप धारण कर लेती है, परन्तु ऐसी सुविधा प्राप्त करने में प्रत्येक मनुष्य को समाज के दूसरे सदस्यो के प्रति भी अपने कर्तव्यों का पालन करना पड़ता है। इस प्रकार हम देखते है कि समाज की स्वीकृति और सरक्षता अधिकारो की आधार-शिला है।

अधिकार सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्त (Different Theories Regarding Rights)

अधिकारों की उत्पत्ति कैसे हुई तथा उनकी स्वीकृति क्यो आवश्यक है, इस सम्बन्ध में राजनीतिक दार्शनिको में काफी मतभेद है। इस सिलसिले में निम्न सिद्धान्त विशेष रूप से प्रतिपादित किये जाते हैं :—

(१) **नैसर्गिक अधिकार सिद्धान्त** (Natural Right Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकार मनुष्य को प्रकृति की देन है, वह सनातन हैं और अनादि काल से चले आ रहे हैं। रूसो, लॉक तथा हॉब्स के मतानुसार जब समाज नहीं था, उस समय भी मनुष्य को प्राकृतिक अधिकार प्राप्त थे। इन अधिकारों में जीवन का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार तथा सम्पत्ति का अधिकार मुख्य थे। ये अधिकार मनुष्य-स्वभाव में व्याप्त हैं। इनका अस्तित्व समाज या राज्य की स्वीकृति के कारण कायम नहीं, वरन् मनुष्य की अपनी प्रकृति पर निर्भर है। राज्य को इन अधिकारों पर किसी प्रकार प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिए क्योंकि यह अधिकार राज्य से ऊपर है।

आलोचना—वास्तव में यह सिद्धान्त सर्वथा भ्रममूलक है, कारण, अधिकारों की उत्पत्ति समाज के कारण ही होती है। समाज के बिना अधिकारों का अस्तित्व असम्भव है। समाज की स्वीकृति के ही कारण यदि कोई हमारे अधिकारों पर आघात करता है तो उसे समाज या राज्य द्वारा दण्ड दिया जाता है। प्राकृतिक अवस्था का कोई अर्थ नहीं, मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक जीव है और यदि यह मान भी लिया जाय कि कोई प्राकृतिक अवस्था थी, तो ऐसी स्थिति में मनुष्य को अधिकार नहीं वरन् शक्ति प्राप्त थी। इस अवस्था में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाला सिद्धान्त ही चरितार्थ होता था। इसलिए यह सिद्धान्त सर्वथा अमान्य है।

(२) **वैधानिक अधिकार सिद्धान्त** (Legal Rights Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार हमारे अधिकार वही हैं जो हमें राज्य द्वारा दिये जाते हैं, कारण, राज्य ही अधिकारों की रक्षा कर सकता है। बेन्थम, हॉलैण्ड, आस्टिन, सालमण्ड इत्यादि लेखक इसी सिद्धान्त में विश्वास करते हैं।

आलोचना—यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं है, कारण यदि किन्हीं उचित माँगों को राज्य स्वीकार करता है तो वह अधिकार कहलाने से वंचित नहीं रह सकते। यदि कोई राज्य व्यक्ति की स्वतंत्रता या उसकी सम्पत्ति या धार्मिक विश्वासों की कद्र नहीं करता तो यह राज्य का दोष है, माँगों के औचित्य का नहीं। अधिकारों का आधार नैतिकता धर्म और न्याय है। राज्य की स्वीकृति उन्हें कानूनी संरक्षण दे देती है, परन्तु यदि राज्य उन्हें स्वीकार नहीं करता तो भी वह समाज द्वारा स्वीकृत अधिकार रहते हैं। इस प्रकार इस सिद्धान्त में केवल अर्ध-सत्य ही है।

(३) **रीति-रिवाज सिद्धान्त** (Tradition Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार पुराने रीति-रिवाज तथा परम्पराएँ अधिकारों के रूप में परिणत हो जाती हैं, उदाहरणार्थ हिन्दुओं का सम्पत्ति-विभाजन सम्बन्धी मिताक्षरा तथा दायभाग नियम, मुसलमानों में विवाह सम्बन्धी मुता कानून इत्यादि।

आलोचना—यह सत्य है कि बहुत से रीति-रिवाज कालान्तर में अधिकार बन जाते हैं, परन्तु यह सिद्धान्त सब अधिकारों के सम्बन्ध में लागू नहीं किया जा सकता। राज्य द्वारा भी बहुत से नये अधिकार प्रदान किये जाते हैं तथा हानिकारक रीति-रिवाजों

को कानून द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। हिन्दुओं में अछूतपन तथा हरिजनों के मन्दिरों में जाने पर रोक-सम्बन्धी रीति-रिवाजों को सरकार द्वारा अमान्य ठहराया गया है। आधुनिक काल में मजदूरों तथा निर्धनों को अनेक नये अधिकार राज्य द्वारा प्रदान किये गये है। इसलिए अधिकार सम्बन्धी यह सिद्धान्त भी गलत है।

(४) उपयोगिता सिद्धान्त (Utility Theory)—इस मत के प्रवर्तक बैन्थम, मिल तथा लास्की इत्यादि लेखक हैं। उनके मतानुसार समाज को केवल ऐसे ही अधिकारों को मान्यता देनी चाहिए जिनमे अधिकतम लोगों का अधिकतम लाभ हो सके।

आलोचना—इस सिद्धान्त में अधिकारों की प्राप्ति के लिए समाज की स्वीकृति तथा जन-साधारण का कल्याण आवश्यक ठहराया गया है। परन्तु इसमें सबसे बडा दोष यह है कि यह किस प्रकार निश्चय किया जाय कि अमुक अधिकार के प्रदान करने से ही अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख मिलेगा ? इसके अतिरिक्त कभी-कभी समाज के अधिकाश व्यक्ति एक गलत मार्ग पर चलने में, उदाहरणार्थ अछूत-प्रथा के पालन मे, अपना लाभ अनुभव कर सकते है। अधिकारो का अस्तित्व विशुद्ध नैतिक भावना पर आश्रित है, इसलिए, ऐसी मांगो को अधिकार का रूप नही दिया जा सकता।

(५) नैतिक या दार्शनिक सिद्धान्त (Philosophical Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकारो का आधार हमारी नैतिक आवश्यकताएँ है। हमें अधिकारों की आवश्यकता इसलिए पडती है कि उनके बिना हमारा नैतिक जीवन सम्भव नही और हम अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नही कर सकते। व्यक्ति के आदर्श हित और समाज के आदर्श हित में किसी प्रकार का विरोध नही है, इसलिए जिन अधिकारो से व्यक्ति का हित साधन होता है उनसे समाज की भी उन्नति होती है।

अधिकारों के सबध में उपरोक्त अन्तिम मत ही सर्वश्रेष्ठ है यह मत अधिकारों की सामाजिकता को स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है। इस मत के अनुसार अधिकार हमारी वह मांगें हैं जो हमारे व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है, जो समाज द्वारा स्वीकार कर ली जाती हैं तथा जो समस्त समाज के कल्याण के लिए भी आवश्यक है।

राज्य द्वारा अधिकारो का सृजन नही होता। अधिकार राज्य से पूर्व उत्पन्न होते है। एक अच्छे राज्य का कर्तव्य है कि वह अधिकारो की रक्षा करे तथा ऐसी स्थिति का निर्माण करे जिसमे प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों का उचित रीति से उपयोग कर सके। राज्य को सब व्यक्तियों को समान अधिकार ही प्रदान करने चाहिए, किसी को कम या किसी को अधिक नही।

अधिकार सर्वदेशीय हैं (Rights are Universal)

इस मत के अनुसार अधिकार एक के नही वरन् सबकी सम्पत्ति बन जाते है। उन पर सारे सामाजिक मनुष्यों का हित अवलम्बित रहता है। वे किसी व्यक्ति विशेष के शरीर या स्थान या काल विशेष से सम्बन्ध नही रखते। वे समाज के प्रत्येक मनुष्य

के व्यक्तित्व के विकास के लिए प्रदान किये जाते हैं। अधिकारों और कर्तव्यों की दुनिया में छोटे और बड़े, अमीर और गरीब, नीच और ऊँच, स्त्री और पुरुष, बालक और बड़े, काले और गोरे का भेद नहीं किया जाता। आदर्श समाज में समस्त सदस्यों के बराबर के अधिकार होते हैं। यदि किसी समाज में कोई व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह अपनी शक्ति के बल से दूसरों के अधिकारों को छीनने का प्रयत्न करता है, तो इससे अधिकारों का नाश नहीं होता वरन् शक्ति का दुरुपयोग होता है और समाज में अशांति और दुःख फैल जाता है। प्रत्येक समाज का धर्म है कि वह अपने नैतिक बल से दुर्बल और शक्ति-हीन मनुष्यों के अधिकारों की रक्षा करे।

अधिकार और राज्य (Rights and State)

राज्य (State) समाज की एक संगठित व्यवस्था का नाम है। इसका मुख्य ध्येय समाज में शान्ति और अनुशासन कायम रखना और मनुष्यों के अधिकारों की रक्षा करना होता है। अधिकारों का जन्म राज्य के कारण नहीं होता, वरन् राज्य का जन्म अधिकारों की रक्षा के लिए होता है। अधिकारों का सम्बन्ध मनुष्य के व्यक्तित्व से है। यह उन अवस्थाओं का नाम है जो मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक हैं। यदि कोई राज्य इन अवस्थाओं का प्रबन्ध नहीं करता तो इससे अधिकारों का अस्तित्व नष्ट नहीं होता वरन् राज्य की व्यवस्था बिगड़ जाती है। वह राज्य कहलाने का अधिकारी नहीं रहता। प्रायः ऐसे ही देशों में राज्यक्रांति भी हुआ करती हैं। जनता राज्य के शासकों के विरुद्ध खड़ी हो जाती है और उनके स्थान पर नये शासकों का चुनाव कर लेती है।

अधिकार केवल कर्तव्यों की दुनिया में ही जीवित रह सकते हैं
(Rights Imply Duties)

अधिकार शब्द का आशय समझ लेने के पश्चात् प्रश्न उठता है कि अधिकारों और कर्तव्यों का आपस में क्या सम्बन्ध है। कुछ लोग इन दोनों नियमों को एक दूसरे का विरोधी समझते हैं, क्योंकि अधिकार शब्द से उन्हें एक प्राप्ति की भावना होती है और कर्तव्य से हानि की। वह समझते हैं कि अधिकारों की प्राप्ति से वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति कर सकते हैं, परन्तु कर्तव्यों के बोझ से उन्हें कुछ शारीरिक अथवा मानसिक कष्ट होता है।

अधिकारों और कर्तव्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में यह मत सर्वथा भ्रमपूर्ण है। **अधिकार और कर्तव्य एक दूसरे के विरोधी नहीं वरन् सहायक हैं।** इन दोनों का कार्य-कारण का-सा सम्बन्ध है, अर्थात् कर्तव्य के बिना अधिकार स्थिर नहीं रह सकते। प्रत्येक अधिकार के दो स्वरूप होते हैं—एक सामाजिक और दूसरा वैयक्तिक। व्यक्तिगत दृष्टि से जो अधिकार हैं, वही सामाजिक दृष्टि से कर्तव्य बन जाते हैं। इस प्रकार एक व्यक्ति का अधिकार सारे समाज अर्थात् सारे ही व्यक्तियों, संस्थाओं

और संगठनो का उसके प्रति कर्तव्य हो जाता है। यदि यह दूसरे व्यक्ति और संघ, उस अधिकार-प्राप्त मनुष्य के प्रति अपने कर्तव्यो का पालन नही करते तो समाज में अधिकार का अस्तित्व कायम नही रह सकता।

एक-दो उदाहरणो से सम्भवतः हमारा आशय और अधिक स्पष्ट हो जायगा। समाज में प्रत्येक मनुष्य को जीवित रहने का अधिकार है, परन्तु किसी व्यक्ति का यह अधिकार तभी कायम रह सकता है जब समाज के दूसरे व्यक्ति उस मनुष्य को चोट न पहुँचायें या उसकी हत्या करने का प्रयत्न न करें। इसका मतलब यह हुआ कि मेरे जीवित रहने का अधिकार समाज के दूसरे सारे सदस्यों का मेरे प्रति कर्तव्य है। इसी प्रकार एक मनुष्य के सम्पत्ति-अधिकार का आशय है कि समाज के दूसरे व्यक्ति उस मनुष्य की जायदाद या चल-सम्पत्ति पर बलपूर्वक कब्जा न करें और उसे अपनी इच्छानुसार सम्पत्ति का उपभोग करने दें। इसका मतलब यह हुआ कि किसी मनुष्य का सम्पत्ति-अधिकार समाज के दूसरे सभी व्यक्तियो के कर्तव्य का रूप धारण कर लेता है। अच्छे सामाजिक जीवन के लिए यह आवश्यक है कि समाज के सभी सदस्यो को एक से ही अधिकार प्राप्त हो। जो किसी व्यक्ति के लिए अच्छा नियम है वह समाज के दूसरे व्यक्तियों के लिए भी अच्छा है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य के अधिकारो के साथ-साथ उसके कर्तव्य भी होते हैं। समाज में कोई भी मनुष्य ऐसा नही हो सकता जिसके केवल अधिकार ही हो, कर्तव्य नही। इस प्रकार अधिकार और कर्तव्य एक दूसरे से पृथक् नही परन्तु एक-दूसरे के पूरक है। वह एक ही नियम के दो पहलू हैं। सामाजिक दृष्टि से वह नियम कर्तव्य कहलाते हैं और वैयक्तिक दृष्टि से अधिकार। सहयोग की भावना में अधिकारो की उत्पत्ति होती है और इसी के द्वारा उनकी रक्षा। इस प्रकार दोनो साथ-साथ ही चलते है।

इस मत के विरोध मे कभी-कभी ऐसा कहा जाता है कि समाज में, कुछ विशेष व्यक्तियों को केवल अधिकार ही प्राप्त होते है, और कुछ अन्य व्यक्तियो को केवल कर्तव्य ही प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए कहा जाता है कि पूँजीपति मजदूरों का शोषण करते हैं। पूँजीपतियों को हर प्रकार के अधिकार प्राप्त होते है और मजदूरो से केवल यह आशा की जाती है कि वह अपने कर्तव्यो की ही पूर्ति करेंगे। परन्तु यह मत एकदम गलत है। वास्तव में व्यक्तियों की प्रत्येक माँग अधिकार नहीं हो सकती। अधिकार का अर्थ मनुष्य की वह माँग है जो समाज के समान हित के लिए आवश्यक हो। इस दृष्टि से पूँजीपतियों का मजदूरो के विरुद्ध कथित अधिकार, अधिकार माना ही नही जा सकता। वह तो केवल एक शक्ति है जिसका अस्तित्व अन्याय और पाशविक शक्ति पर निर्भर है, समाज की नैतिक शक्ति पर नही। पूँजीपतियों का मजदूरो को उनके अधिकारो से वंचित कर देना या उनके प्रति अपने कर्तव्य पालन न करना अधिकारो का नाश नही, वरन् शक्ति का दुरुपयोग है। समाज में कितने ही मनुष्य शक्ति इकट्ठी कर दुर्बल मनुष्यों पर अत्याचार और अनाचार करते हैं। इसी कारण समाज में दुःख और अशान्ति का वातावरण बना रहता है। यदि प्रत्येक मनुष्य अपने कर्तव्यों का

ठीक रूप से पालन करें तथा दूसरे मनुष्यों को उनके अधिकारों से वंचित करने का प्रयत्न न करें, तो समाज में स्वर्ग की स्थापना हो सकती है।

अधिकार और कर्तव्य का दूसरे दो कारणों से भी निकट सम्बन्ध है। प्रत्येक अधिकार-प्राप्त मनुष्य का धर्म है कि वह समाज के दूसरे व्यक्तियों के प्रति भी अपने कर्तव्यों का पालन करे। यदि हम समाज के दूसरे सदस्यों से इस बात की आशा करते हैं कि वह हमें अधिकारों का शान्तिपूर्वक उपभोग करने दें, तो हमारे भी समाज के दूसरे सदस्यों के प्रति कर्तव्य हैं कि हम उनके अधिकारों की रक्षा में सहायक सिद्ध हों और जिस कर्तव्य पालन की हम दूसरों से आशा करते हैं वही कर्तव्य हम दूसरों के प्रति पालन करने के लिए सदा उद्यत रहें। यदि हम अपने लिए जीवन या सम्पत्ति या वाक्-स्वतन्त्रता का अधिकार चाहते हैं तो हमारा भी धर्म है कि दूसरों की जीवन-रक्षा करें, उनकी सम्पत्ति का अनुचित उपभोग न करें; और उनको दूसरों पर अपने विचारों को प्रकट करने की स्वतन्त्रता दें। यदि हम अपने देश की स्वतन्त्रता चाहते हैं तो हमें कोई अधिकार नहीं कि दूसरे देशों को अपना गुलाम बनाकर रखें। हमारे प्रत्येक अधिकार के साथ इस प्रकार हमारा एक कर्तव्य है। **हमारा धर्म है हम दूसरों को भी वही अधिकार प्राप्त करने दें जो हम स्वयं अपने लिए चाहते हैं।**

अन्त में, प्रत्येक अधिकारप्राप्त मनुष्य का एक और भी कर्तव्य है और वह यह कि वह स्वयं अपने अधिकार का उचित रूप से उपभोग करे। अधिकारों की प्राप्ति मनुष्य के अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए होती है। यदि मनुष्य उन अधिकारों का अनुचित रूप से उपभोग करता है, तो समाज का कर्तव्य है कि वह ऐसे मनुष्य को अधिकार-वंचित कर दे। यदि हमें समाज द्वारा अपने विचारों को स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट करने का अधिकार है तो हमारा यह भी कर्तव्य है कि हम इस अधिकार का अनुचित प्रयोग न करें; दूसरों को गाली न दें; साम्प्रदायिकता का विष न फैलायें या हिंसा का प्रचार न करें। यदि हम धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहते हैं तो हमारा कर्तव्य है कि हम दूसरे धर्मावलम्बी मनुष्यों के विचारों का भी आदर करें, उनको बुरा-भला न कहें।

आधुनिक संसार में जितना कलह, द्वेष, प्रतिस्पर्धा और लड़ाई-झगड़े हमें देखने को मिलते हैं उनका एक ही मूल कारण है और वह यह है कि हम अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए तो सदा उत्सुक रहते हैं परन्तु अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करते। यदि मनुष्य केवल अपने कर्तव्यपालन पर ही जोर दे और कुछ थोड़े समय के लिए अपने अधिकारों को भूल जाय तो संसार सारे दुःखों से मुक्त हो सकता है। हमारे देश के पुराने धर्मशास्त्रों ने भी मनुष्य को अपने कर्तव्य पालन करने की शिक्षा दी है। कर्तव्यों के पालन से अधिकार स्वयं ही प्राप्त हो जाते हैं, उनकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसलिए नागरिकशास्त्र की सबसे अनुपम शिक्षा यही है कि मनुष्य अपने कर्तव्य पालन पर जोर दें। ऐसा करने से हमारा कलहपूर्ण जीवन स्वर्गीय आनन्द का अनुभव करने लगेगा।

§ २. अधिकारों के भेद

(Kinds of Rights)

अधिकारों की कोई विस्तृत सूची देना या उनका अलग-अलग श्रेणियों में विभाजन करना कोई सरल कार्य नहीं, कारण, अधिकारों का सम्बन्ध मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास से है। जो भी अवस्थाएँ मनुष्य को इस कार्य में सहायता देती हैं वही उसके अधिकार बन जाती है। अधिकारों का स्वरूप भी समय और काल की प्रगति के साथ बदलता रहता है। पुरातन काल में जब मनुष्य आखेट अवस्था में रहते थे, व्यक्तियों को दूसरे प्रकार के अधिकार प्राप्त थे। आजकल की औद्योगिक और व्यापारिक सभ्यता में उसे दूसरे प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं। राज्य अधिकारों को जन्म नहीं देता, परन्तु वह उन्हें मान्यता प्रदान कर सकता है। यदि वह ऐसा करता है तो साधारण अधिकार कानूनी अधिकारों में बदल जाते है।

साधारणतः अधिकारों को हम चार श्रेणियों में विभाजित कर सकते है —(१) प्राकृतिक या नैसर्गिक अधिकार, (२) नैतिक अधिकार, (३) कानूनी या वैधानिक *अधिकार और (४) मौलिक अधिकार।*

प्राकृतिक अथवा नैसर्गिक अधिकार (Natural Rights)

प्राकृतिक अधिकारों के सही अर्थ के सम्बन्ध में कुछ मतभेद हैं। सविदा सिद्धान्त में विश्वास रखने वाले दार्शनिक—हॉब्स, लॉक तथा रूसो—प्राकृतिक अधिकारों का *अर्थ उन अधिकारों से लगाते हैं जो समाज तथा राज्य की रचना से पहले मनुष्यों को* प्राप्त थे। इन अधिकारों में जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकार मुख्य हैं।

जैसा पहले बताया जा चुका है, प्राकृतिक अधिकारों का यह आशय एकदम भ्रमात्मक है। अधिकारों का अस्तित्व सामाजिक दशा में ही सम्भव है, किसी विचार-जगत् में व्याप्त प्राकृतिक अवस्था में नहीं। अधिकार समाज की देन है, इसलिए प्राकृतिक अवस्था में अधिकारों के अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता।

'प्राकृतिक अधिकार' नामक शब्द का प्रयोग एक दूसरे अर्थ अर्थात् 'आदर्श' के रूप में भी किया जा सकता है, अर्थात् प्राकृतिक अधिकार वह अधिकार है जो किसी आदर्श समाज में व्यक्तियों को उनके पूर्ण तथा सर्वांगीण विकास के लिए प्रदान किये जाते हैं। ऐसे अधिकारों का पालन केवल ऐसे ही समाज में हो सकता है जो न्याय, सत्य और व्यक्तियों के पूर्ण विकास की भावना पर अवलम्बित हो। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि ऐसे अधिकार उसी दशा में आदर्श अधिकार कहे जा सकते हैं जब सारा समाज उन्हें मान्यता प्रदान करे। अधिकारों का अर्थ मनुष्य की प्रत्येक माँग से नहीं, वरन् केवल उन माँगों से होता है जो उसके व्यक्तित्व के विकास में सहायक हो तथा जिनसे सभी मनुष्यों का भला हो।

प्रत्येक प्राकृतिक अधिकार के लिए यह आवश्यक नहीं कि राज्य द्वारा उसे

मान्यता दी जाय। आरम्भ में प्रायः प्रत्येक देश में अधिकारों का पालन लोकमत और जनता की नैतिक शक्ति पर आश्रित रहता है। फिर शनैः-शनैः वह कानूनी या संवैधानिक अधिकारों का रूप धारण कर लेते हैं।

नैतिक अधिकार (Moral Rights)

नैतिक अधिकार वह अधिकार कहे जाते हैं जिनका पालन राज्य की शक्ति पर आश्रित नहीं वरन् मनुष्य की अपनी नैतिक भावना अथवा समाज की नैतिक जागृति पर आश्रित है। इस प्रकार के अधिकारों में हम शिष्ट व्यवहार का अधिकार, पिता का अपने पुत्र से वृद्धावस्था में पालन-पोषण का अधिकार, या स्त्री का अपने पति से स्नेह प्राप्त करने का अधिकार इत्यादि के नाम ले सकते हैं। राज्य चाहे तो भी इन अधिकारों को अपनी शक्ति के आधार पर पालन नहीं करा सकता। इनका पालन मनुष्य और समाज की नैतिक भावना पर ही निर्भर रहता है।

यदि पुत्र अपने पिता का आदर नहीं करता अथवा उसे वृद्धावस्था में उदर-पोषण के लिए सहायता नहीं देता, तो पिता कानूनी अदालत में जाकर अपने इस अधिकार को नहीं मनवा सकता, क्योंकि कोई भी राज्य मनुष्य को नैतिक जीवन व्यतीत करने के लिए मजबूर नहीं कर सकता। इस प्रकार के अधिकार केवल जनमत और समाज की नैतिक भावना पर ही अवलम्बित रहते हैं।

कानूनी या वैधानिक अधिकार (Legal Rights)

जो अधिकार राज्य द्वारा मान लिये जाते हैं तथा जिनकी वह कानूनों द्वारा रक्षा करता है, वह कानूनी अधिकार बन जाते हैं। इन अधिकारों के उपभोग में जो बाधा डालता है उसे राज्य द्वारा दण्ड दिया जाता है। हमारा जीवन या सम्पत्ति का अधिकार कानूनी अधिकार है। यदि कोई मनुष्य हमें मारने अथवा हमारे माल को लूटने का प्रयत्न करे तो सरकार ऐसे व्यक्ति को खून अथवा चोरी के अपराध में सजा देती है। इसके विपरीत निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करने अथवा रोजगार प्राप्त करने के अधिकार कानूनी अधिकार नहीं कहे जा सकते क्योंकि उचित होने पर भी राज्य उन्हें मान्यता प्रदान नहीं करता। धीरे-धीरे प्रायः प्रत्येक सभ्य देश में मनुष्य के नैसर्गिक या आदर्श अधिकार कानूनी रूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार आज जो हमारे नैसर्गिक अधिकार हैं, वही कल कानूनी अधिकार बन जाते हैं।

मौलिक अधिकार (Fundamental Rights)

जिस समय नागरिकों के मूल अधिकारों का वर्णन उस देश के संविधान में कर दिया जाता है तथा कहा जाता है कि राज्य का कोई भी कानून जो इन मूल अधिकारों पर कुठाराघात करेगा, अवैध माना जायगा, तो संविधान द्वारा प्रदत्त ऐसे अधिकार नागरिकों के मौलिक अधिकार कहे जाते हैं। कानूनी अधिकार और मौलिक अधिकारों में मुख्य भेद यह होता है कि पहली प्रकार के अधिकार विधान मण्डल द्वारा निर्मित

कानूनो द्वारा प्रदान किये जाते है और दूसरे प्रकार के अधिकार सविधान की देन होते है। मौलिक अधिकारो पर कुठाराघात होने की दशा में कोई भी व्यक्ति देश के सर्वोच्च न्यायालय में अपने अधिकारो की रक्षा के लिए प्रार्थनापत्र दे सकता है। इन अधिकारो को अत्यन्त उच्च तथा पावन स्थान प्रदान किया जाता है।

आजकल ससार के अनेक प्रगतिशील देशो में नागरिको के मूल अधिकारो का उल्लेख उनके सविधानो में कर दिया गया है। भारत के नये सविधान मे भी नागरिको के मूल अधिकारो का वर्णन किया गया है।

§ ३ अधिकारों का वर्गीकरण

जैसा पहले कहा जा चुका है, अधिकारो की कोई विस्तृत सूची देना असम्भव है। फिर भी मोटे तौर पर कुछ अधिकार ऐसे है जो प्राय सभी सभ्य देशो में नागरिको को राज्य द्वारा प्रदान किये जाते है। इन अधिकारो को दो श्रेणियो में बाँटा जा सकता है —

(१) नागरिक अधिकार (Civic Rights)
(२) राजनीतिक अधिकार (Political Rights)

नागरिक अधिकार (Civic Rights)

इस श्रेणी में ऐसे अधिकारो की गिनती होती है जो मनुष्य को मनुष्य होने के नाते प्रदान किये जाते हैं। इन अधिकारो को प्रदान करने में नागरिक और अनागरिक में भेद नही किया जाता। सब व्यक्तियो को यह अधिकार समान रूप से प्रदान किये जाते है। यह बात अवश्य है कि कुछ राज्यो में नागरिक अधिकारो की सख्या अधिक होती है और कुछ में कम। निरकुश राज्यो मे इन अधिकारो को बहुत सीमित सख्या मे ही प्रदान किया जाता है। वहाँ की प्रजा एकाधिकारी सम्राट् अथवा तानाशाह की आज्ञाओं का ही पालन करती है, अधिकारो का उपभोग नही। अधिकारो का अस्तित्व प्रजातन्त्र शासन में ही सम्भव हो सकता है, निरकुश राज्यो में नही। प्रजातन्त्र राज्यो में भी अधिकारो के उचित उपभोग के लिए आवश्यक है कि जनता में उच्चकोटि की राजनैतिक चेतना हो। वह अपने कर्तव्यो की पूर्ति करते हुए, अपने अधिकारो के प्रति जागरूक रहे। अधिकारो की रक्षा का मूल्य 'निरन्तर सतर्कता' (Eternal vigilance) है।

नागरिक अधिकारो की श्रेणी में मुख्यतया निम्न अधिकार सम्मिलित किये जाते हैं :—

(१) जीवन-रक्षा का अधिकार (Right to Life)
(२) सम्पत्ति का अधिकार (Right to Property)
(३) अन्य आर्थिक अधिकार (Economic Rights)
(४) विचार, भाषण और लेखन की स्वतन्त्रता (Freedom of Thought and Expression)

(५) संगठन की स्वतन्त्रता (Freedom of Association)
(६) न्याय का अधिकार (Right to Justice)
(७) व्यक्तिगत सम्मान की रक्षा का अधिकार (Right to Reputation)
(८) धार्मिक अधिकार (Right to freedom of Religion)
(९) सांस्कृतिक अधिकार (Cultural and Educational Right)
(१०) मनोरंजन अधिकार (Recreational Right)
(११) स्वतन्त्र पारिवारिक जीवन का अधिकार (Right to free Family Life)

(१) **जीवन रक्षा का अधिकार**—प्रत्येक मनुष्य को जीवन-रक्षा का अधिकार है। जीवित रहने पर ही अधिकार और कर्तव्यों की शृंखला आश्रित है। इसीलिए नागरिक अधिकारों की श्रेणी में जीवन-रक्षा को सबसे प्रमुख स्थान दिया गया है। यदि कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को मारने अथवा चोट पहुँचाने का प्रयत्न करे तो ऐसा व्यक्ति हर सम्भव उपाय से अपने जीवन की रक्षा कर सकता है। आत्म-रक्षा में वह हर प्रकार से हथियारों का भी प्रयोग कर सकता है। जीवन-अधिकार इतना व्यापक है कि मनुष्य को स्वयं अपनी जान लेने अर्थात् आत्म-हत्या करने का अधिकार प्राप्त नहीं। मनुष्य का जीवन एक सामाजिक निधि है। इसलिए उसकी हर सम्भव उपाय से रक्षा अपेक्षित है।

(२) **सम्पत्ति का अधिकार**—जीवित रहने के लिए कुछ न कुछ धन सम्पत्ति की आवश्यकता पड़ती है। मनुष्य को क्षुधा शान्त करने के लिए रोटी, पहनने के लिए कपड़ा तथा रहने के लिए मकान चाहिए। इन सुविधाओं का प्रबन्ध व्यक्ति स्वयं भी कर सकता है और सरकार भी। प्रथम दशा में व्यक्ति को धन के संग्रह की आवश्यकता पड़ती है। द्वितीय दशा में उसकी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति का भार सरकार वहन करती है।

बहुत से विचारकों का मत है कि सम्पत्ति के अधिकार को नागरिकों का मौलिक अधिकार नहीं मानना चाहिए, वरन् उनकी राय में निजी सम्पत्ति की प्रथा ही संसार में कलह, द्वेष, प्रतिस्पर्धा, लूट-खसोट, चोरी, डाका, झूठ, धोखादेही इत्यादि बुराइयों का बीज है। धन-लोलुपता के कारण ही संसार में मनुष्य मनुष्य का खून चूसता है। इसलिए इस प्रथा का अन्त ही अपेक्षित है।

परन्तु कुछ दूसरे दार्शनिकों का मत है कि धन और सम्पत्ति के कारण ही मनुष्य में अधिकाधिक काम करने तथा नये-नये आविष्कारों और प्रयोगों द्वारा रुपया कमाने की प्रेरणा पैदा होती है। धन के कारण मनुष्य सदाचारी तथा स्वतन्त्र विचारक बनता है। सम्पत्ति के द्वारा चरित्र एवं व्यक्तित्व का विकास होता है।

उपरोक्त दोनों मतों में आंशिक सत्य है। यह सच है कि आधुनिक युग में सम्पत्ति के अधिकार से पूंजीपतियों तथा जमींदारों ने गरीब जनता का निर्दयतापूर्वक शोषण

किया है, परन्तु इसका मुख्य कारण राज्य द्वारा धन प्राप्ति तथा वितरण (Production and Distribution) की सामग्री पर उचित प्रकार के नियन्त्रण की कमी है। सम्पत्ति का अधिकार दो प्रकार का हो सकता है—एक ऐसी सम्पत्ति पर अधिकार जो रुपया कमाने के काम में आती है, दूसरा ऐसी सम्पत्ति पर अधिकार जो मनुष्य के उपयोग में आती है। पहली प्रकार की सम्पत्ति के उदाहरण में हम कारखाने, जमीन, दूकान तथा व्यापारिक सम्पत्ति का नाम ले सकते है। दूसरी प्रकार की सम्पत्ति मे, रहने का मकान या कोठी, मोटरकार, बाग-बगीचा, फरनीचर इत्यादि ऐसी चीजें आती है जो मनुष्य के स्वय के काम में आती है और जिनसे धन कमाने का प्रयत्न नही किया जाता। इस प्रकार की सम्पत्ति से जनता का शोषण नही होता। इसलिए ऐसी सम्पत्ति रखने का अधिकार प्रत्येक सभ्य मनुष्य को मिलना चाहिए। साथ ही पहली प्रकार की सम्पत्ति के अधिकार पर सरकार को बडा नियन्त्रण रखना चाहिए। सरकार का धर्म है कि वह देखे कि सम्पत्ति का उपयोग जनता की भलाई के लिए ही होता है न कि उसके शोषण के लिए।

(३) अन्य आर्थिक अधिकार—मनुष्य सम्पत्ति केवल उस समय सग्रहित कर सकता है जब उसे योग्यतानुसार कार्य मिले, तथा उसे अपनी स्वतन्त्र इच्छानुसार कोई भी व्यवसाय या नौकरी करने की आजादी हो इसलिए सम्पत्ति के अधिकार के साथ-साथ प्रत्येक नागरिक को व्यवसाय की स्वतन्त्रता तथा योग्यतानुसार उचित वेतन पर काम-धधा मिलने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। व्यवसाय की स्वतन्त्रता का अधिकार प्राय: सभी राज्यो में माना जाता है। मनुष्य अपनी इच्छानुसार अपना काम निश्चित कर सकता है, परन्तु रोजगार प्राप्त करने का अधिकार केवल साम्यवादी देशों में ही स्वीकार किया गया है, पूंजीवादी राज्यो मे नही।

रोजगार के अतिरिक्त मजदूरो के अधिकारो की रक्षा, उनके न्यूनतम वेतन का निश्चय, उनके लिए मकानो की व्यवस्था, उनके काम करने की अवस्थाओ का निर्णय तथा उनकी सामाजिक सुरक्षा (Social insurance) का प्रबन्ध करना भी राज्य का कर्तव्य है।

(४) विचार, भाषण और लेखन की स्वतन्त्रता—यह तीनो ही अधिकार प्रजातन्त्र शासन के मूल स्तम्भ माने जाते है। इन अधिकारो के अभाव में प्रजातन्त्र शासन का कोई मूल्य नही रहता। विचार विनिमय द्वारा ही सार्वजनिक विषयो पर सही राय कायम की जा सकती है। जनता में राजनैतिक ज्ञान का प्रसार भी इन्ही अधिकारो की मान्यता से होता है। समाचार-पत्र राजनैतिक चेतना उत्पन्न करने तथा सरकार को उसकी त्रुटियों से अवगत कराने का प्रशसनीय कार्य करते है। प्रजातन्त्र राज्यों में इसीलिए समाचार पत्रों के प्रकाशन पर किसी प्रकार की रोक नही लगाई जाती।

परन्तु भाषण और लेखन स्वतन्त्रता का यह अर्थ कदापि नही कि इन अधिकारो का अनुचित उपयोग किया जाय, इनके द्वारा जाति वैमनस्य, या धार्मिक विद्वेष फैलाया

जाय, या सरकार के विरुद्ध झूठा प्रचार किया जाय। सरकार को इस बात का प्रबन्ध करना चाहिए कि समाज के गैरजिम्मेदार व्यक्ति इन अधिकारों का दुरुपयोग न कर सकें।

(५) **संगठन की स्वतन्त्रता**—समान उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए नागरिकों को अपने अलग संघ बनाने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। मानव व्यक्तित्व का विकास उस समय अधिक होता है जब व्यक्ति विभिन्न संस्थाओं व संघों का सदस्य होता है। इसलिए उचित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संघों के निर्माण पर किसी प्रकार की रोक नहीं लगानी चाहिए। परन्तु इस अधिकार का यह आशय नहीं कि कुछ व्यक्ति सामाजिक जीवन को अस्त-व्यस्त करने के लिए गैरकानूनी संघ बना लें। ऐसे संघों की कार्यविधियों पर सरकार को कड़ी निगाह रखनी चाहिए।

(६) **न्याय का अधिकार**—इस अधिकार का आशय है कि कानून के सामने सब मनुष्यों के साथ समान व्यवहार होना चाहिए। एक ही प्रकार की कानूनी अदालतों को सब अपराधियों के मुकदमे तय करने चाहिए, और एक ही कानून सबके लिए लागू होना चाहिए। किसी व्यक्ति विशेष के साथ विशेष प्रकार का व्यवहार नहीं होना चाहिए। मुकदमे की पैरवी के समय किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं किया जाना चाहिए। न्यायालयों को सजा देते समय व्यक्ति की हैसियत, वर्ण, जाति या धर्म का विचार नहीं करना चाहिए। अँग्रेज और हिन्दुस्तानी, लखपति और कंगाल, ब्राह्मण और शूद्र, बड़े और छोटे—कानून के सामने सब एक समान हैं। इस अधिकार का दूसरा अर्थ यह भी है कि न्याय में विलम्ब और व्यय अधिक नहीं होना चाहिए, जिससे कि गरीब भी अपने अधिकारों की रक्षा के लिए कानूनी अदालतों की शरण ले सकें। इस सम्बन्ध में नागरिकों का भी यह कर्तव्य है कि वे न्याय के पक्ष में राय दें और अदालतों में कभी झूठी गवाहियाँ न दें।

(७) **व्यक्तिगत सम्मान की रक्षा**—प्रत्येक मनुष्य को अपनी सामाजिक ख्याति बनाये रखने तथा उनके प्रति आक्रमण से रक्षा करने का पूर्ण अधिकार है। किसी मनुष्य को दूसरे व्यक्ति के विरुद्ध निर्मूल, निराधार और गलत दोषारोपण करने अथवा गाली देने का अधिकार प्राप्त नहीं। यदि कोई मनुष्य ऐसा करता है अर्थात् किसी दूसरे की मान-प्रतिष्ठा को सर्वसाधारण की दृष्टि में भंग करने का प्रयत्न करता है तो अपमानित मनुष्य को अधिकार है कि वह अपने विरुद्ध लगाये गये अभियोगों को झूठा साबित करके अपराधी व्यक्ति के विरुद्ध दीवानी या फौजदारी अदालत में मुकदमा दायर कर सके।

(८) **धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार**—नागरिकों को सामाजिक स्वतन्त्रता की भाँति धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार भी प्राप्त होना चाहिए। धार्मिक स्वतन्त्रता का अर्थ है—(१) किसी भी धर्म में विश्वास रखने की स्वतन्त्रता, (२) पूजा की स्वतन्त्रता तथा (३) धार्मिक प्रचार द्वारा शान्तिपूर्ण तथा उचित उपायों से दूसरे मनुष्यों को अपने धर्म में परिवर्तित करने की स्वतन्त्रता।

धार्मिक अधिकार के अन्तर्गत धार्मिक सहिष्णुता का कर्तव्य भी सन्निहित है।

इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि वह अपने धर्म के समान ही दूसरे धर्मों की भी इज्जत करे।

(९) **सांस्कृतिक अधिकार**—इस अधिकार के अन्तर्गत सबसे प्रमुख साधारण और वैज्ञानिक शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है। शिक्षा अच्छे सामाजिक जीवन की कुंजी तथा प्रजातन्त्र शासन की जड है। वैज्ञानिक शिक्षा आधुनिक प्रगति की आधार-शिला है। इसलिए राज्य का धर्म है कि वह नागरिकों को दोनों ही प्रकार की शिक्षा प्रदान करने का समुचित प्रबन्ध करे।

सांस्कृतिक अधिकार के अन्तर्गत ही वाचनालय और पुस्तकालयों की स्थापना का अधिकार तथा अन्वेषण-संस्थाओं, अजायबघर तथा अन्य सांस्कृतिक-केन्द्रों की स्थापना का अधिकार भी आ जाता है। संसार के प्रगतिशील ज्ञान के साथ सम्पर्क बनाये रखने तथा उसका और अधिक विकास करने के लिए इन सभी संस्थाओं की स्थापना आवश्यक है।

(१०) **मनोरंजन का अधिकार**—दिन भर के शारीरिक अथवा मानसिक परिश्रम के पश्चात् मनुष्य बिल्कुल थक जाता है और अपनी शारीरिक थकान को मिटाने के लिए किसी प्रकार का मनोरंजन चाहता है। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह नागरिकों के लिए बगीचे (Parks), खेलने के लिए स्थान, तैरने के लिए तालाब, व्यायामशाला, सिनेमा, नाटकघर, चित्रालय, जू, नृत्यशाला, कला-केन्द्र इत्यादि का प्रबन्ध करे जिससे लोग अपने अवकाश तथा छुट्टी के समय को इन स्थानों पर जाकर व्यतीत करें और इस प्रकार अपनी दिन भर की थकान को दूर कर सकें।

(११) **स्वतन्त्र पारिवारिक जीवन का अधिकार**—इस अधिकार का अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना पारिवारिक जीवन अपनी स्वतन्त्र इच्छानुसार तथा दूसरे व्यक्तियों के हस्तक्षेप के बिना व्यतीत करने का अधिकार होना चाहिए। हम अपने घर में किस प्रकार रहते हैं, अपने बच्चों को किस प्रकार की शिक्षा देते हैं, अपनी स्त्री को किस प्रकार के वस्त्र या आभूषण पहनाना पसन्द करते है, ये हमारे व्यक्तिगत प्रश्न है। समाज के दूसरे व्यक्तियों को इन मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं। हाँ, यदि हम अपने बच्चों या स्त्री के साथ दुर्व्यवहार करते हैं, अपने घर को पाप और दुराचार का अड्डा बनाते हैं या बच्चों को चोर और डाकू बनने की शिक्षा देते है तो समाज हमारे इन कामों में हस्तक्षेप कर सकता है। स्वतन्त्र पारिवारिक जीवन का अर्थ यही है कि हम सामाजिक नियमों का पालन करते हुए जिस प्रकार चाहें अपना गृहस्थ-जीवन व्यतीत कर सकते है।

इसी अधिकार के अन्तर्गत स्वतंत्र रूप से विवाह करने का अधिकार तथा गृहस्थ-जीवन के भार स्वरूप हो जाने पर तलाक का अधिकार भी सम्मिलित है। विवाह मनुष्य-जीवन की महत्वपूर्ण घटना है जिसकी सफलता पर गृहस्थ-जीवन का सुख अवलंबित है। इसलिए व्यक्ति को अपना जीवन-साथी चुनने के कार्य में पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इस चुनाव में जाति बन्धन अथवा धर्म की बाधाएँ नहीं होनी चाहिए।

तलाक के अधिकार की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि यदि किन्हीं विशेष परिस्थितियों में पति और पत्नी का जीवन सुखपूर्वक व्यतीत न हो सके और वह कलह और द्वेष का घर बन जाय तो तलाक के द्वारा मनुष्य का गार्हस्थ्य-जीवन नरक बनने से बचा रहे। यह एक स्वाभाविक-सी बात है कि कभी-कभी मनुष्य अपने जीवन के साथी चुनने में गलती कर सकता है, परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि इस गलती के लिए मनुष्य को सारी उम्र नारकीय जीवन में रहने के लिए मजबूर किया जाय। ऐसी विषम परिस्थितियों में प्रत्येक स्त्री-पुरुष को तलाक का अधिकार मिलना चाहिए। परन्तु तलाक को एक भीषण बीमारी का अंतिम उपचार ही मानना चाहिए, प्रथम नहीं।

राजनैतिक अधिकार (Political Rights)

नागरिक अधिकारों के विश्लेषण के पश्चात् आवश्यक है कि हम राजनैतिक अधिकारों का विवेचन करें। यह वे अधिकार हैं जो प्रत्येक व्यक्ति को नहीं वरन् केवल नागरिकों को ही प्राप्त होते हैं। इन अधिकारों की प्राप्ति से ही नागरिक और अनागरिक में भेद किया जाता है। इन अधिकारों के कारण नागरिक अपने देश के शासन में भाग ले सकते हैं। इनमें निम्नलिखित अधिकार सम्मिलित किये जाते हैं:—

(१) मत प्रदान करने का अधिकार (Right to Vote)

(२) विधान मण्डल के सदस्य चुने जाने का अधिकार (Right to Election)

(३) पद प्राप्त करने अर्थात् सरकारी नौकरी प्राप्त करने का अधिकार (Right to office)

अब हम इन तीनों अधिकारों का विस्तार से उल्लेख करेंगे।

(१) **मताधिकार**—राज्य के प्रत्येक सदस्य को इस बात का अधिकार प्राप्त होना चाहिए कि वह देश की विधान सभा, नगरपालिका तथा जिला बोर्ड इत्यादि संस्थाओं के चुनाव में भाग ले सके। इन संस्थाओं के कानूनों का प्रत्येक मनुष्य के हित पर प्रभाव पड़ता है। इसलिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार प्रदान किया जाय कि वह अपने मत द्वारा इस बात को घोषित कर सके कि वह किन विचार-वाले और किस प्रकार के शासकों को अपने देश के प्रबन्ध के लिए उचित समझता है। किसी विशेष जाति, वर्ण, धर्म, सम्प्रदाय, लिंग अथवा हैसियत के व्यक्तियों को इस बात का अधिकार नहीं होना चाहिए कि वे राज की सत्ता को अपने हाथों में केन्द्रित कर लें और समाज के दूसरे व्यक्तियों को राजसत्ता का उपभोग न करने दें। ऐसा होने से राज्य का शासन सारी जनता की भलाई के लिए नहीं वरन् समाज के एक विशेष अधिकार प्राप्त वर्ग की भलाई के लिए ही किया जाता है और इससे समाज में अशान्ति और अव्यवस्था फैल जाती है। इसलिए देश में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को ही बराबर के राजनीतिक अधिकार प्राप्त होने चाहिए।

(२) **विधान सभा में निर्वाचन का अधिकार**—मताधिकार के अतिरिक्त प्रजा-तंत्र शासन में प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का भी अधिकार प्राप्त होता है कि वह स्वयं

भी विधान सभा तथा इसी प्रकार की संस्थाओं की सदस्यता के लिए चुनाव में खड़ा हो सके। सच्चे प्रजातंत्र शासन का अर्थ है "जनता की जनता के हित में जनता द्वारा सरकार।" इस प्रकार की सरकार की स्थापना तभी हो सकती है जब राज्य के प्रत्येक सदस्य को मताधिकार के अतिरिक्त स्वयं राज्याधिकारी बनने का अवसर प्राप्त हो।

(३) पद प्राप्त करने अर्थात् सरकारी नौकरी प्राप्त करने का अधिकार— नागरिक का तीसरा राजनीतिक अधिकार ऊँची से ऊँची सरकारी नौकरी प्राप्त करने का अधिकार है। किसी व्यक्ति को अपने वर्ण, जाति, लिंग अथवा हैसियत के कारण सरकारी नौकरी से वंचित न रखा जाय। नौकरी प्राप्त करने के लिए कुछ योग्यता का होना तो आवश्यक है परन्तु इस योग्यता की प्राप्ति प्रत्येक मनुष्य के लिए एक-सी होनी चाहिए। ऐसा न हो कि एक व्यक्ति को उसके धन अथवा हैसियत के कारण ऊँचा सरकारी पद दे दिया जाय और दूसरे व्यक्ति को योग्यता होने पर भी उसकी गरीबी के कारण नौकरी न मिले। सरकारी नौकरियों में परीक्षा द्वारा भरती होनी चाहिए। जो भी व्यक्ति इन परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो जायँ उन्हें सरकारी नौकरी मिलने का अधिकार होना चाहिए। सिफारिश या रिश्वत के आधार पर नौकरियों का वितरण नहीं होना चाहिए।

कभी-कभी राज्य के सर्वोच्च कर्मचारी के पास सार्वजनिक तकलीफों को दूर करने के लिए प्रार्थना-पत्र देने का अधिकार भी राजनीतिक अधिकारों में ही शामिल कर लिया जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ लेखक, देश के बाहर बसनेवाले नागरिकों की रक्षा का अधिकार, संगठन की स्वतन्त्रता, मत प्रकट करने की स्वतन्त्रता और सार्वजनिक सभा करने की स्वतन्त्रता को भी राजनैतिक अधिकारों की श्रेणी में शामिल कर लेते हैं, परन्तु हमारी सम्मति में ऐसे अधिकारों को नागरिक अधिकारों की श्रेणी में ही रखना चाहिए।

अधिकारों की संख्या अनिश्चित है (Rights are Unlimited)

पिछले पृष्ठों में जिन अधिकारों का वर्णन किया गया है। वह नागरिकों के अधिक आवश्यक तथा महत्वपूर्ण अधिकार कहे जा सकते हैं। अधिकारों की यह संख्या पूर्ण नहीं है, सभ्यता तथा संस्कृति के विकास के साथ अधिकारों की संख्या तथा उनकी सीमा भी बढ़ती जाती है। जिस प्रकार समाज और राज्य विकासशील है उसी प्रकार अधिकार भी। समय की प्रगति के साथ पिछड़े हुए निरंकुश राज्य भी अपने नागरिकों को अधिकार देने की महत्ता स्वीकार करने लगे हैं। यह सच है कि आज भी संसार में अनेक ऐसे देश हैं, जहाँ नागरिकों के साथ पशुवत् व्यवहार किया जाता है, जहाँ उन्हें किसी भी प्रकार के विचार, प्रकाशन अथवा विश्वास की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हैं, उन्हें राजकाज के कामों में भाग लेने के लिए आमन्त्रित नहीं किया जाता, जहाँ काले और गोरे का प्रश्न उठाकर केवल एक विशेष जाति के लोगों को ही अधिकार प्रदान किये जाते है तथा जहाँ स्त्रियों को पुरुषों के समान ही अधिकार प्राप्त नहीं हैं। अफ्रीका महाद्वीप, मध्यपूर्व के देशों, दक्षिण-पूर्वी एशिया के अनेक द्वीप तथा अधीनस्थ इलाकों की जनता को किसी प्रकार के नागरिक अथवा राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं हैं। परन्तु धीरे-धीरे

राजनीतिक जागृति उत्पन्न होने तथा साम्राज्यवाद के ह्रास के कारण, अब इस दशा में समुचित सुधार हो रहा है।

संयुक्त राष्ट्र संस्था का मानव अधिकार सम्बन्धी कार्य
(Human Rights Recognised by United Nations)

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा भी इस दिशा में अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य किया जा रहा है। इस संस्था की आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् ने जनवरी सन् १९४७ में एक १८ सदस्यों का मानव अधिकार आयोग बनाया जिसकी प्रधाना श्रीमती रूजवेल्ट थीं। इसमें हमारे देश की प्रतिनिधि श्रीमती हंसा मेहता थीं। इस आयोग ने एक ४४ सूत्री मानव अधिकार घोषणा तैयार की और उसे सदस्य सरकारों के विचारार्थ प्रस्तुत किया। बहुत वाद-विवाद तथा विचार-विनिमय के पश्चात् मानव अधिकार सम्बन्धी धाराओं की संख्या ४४ से घटाकर ३० कर दी गई। अंत में सितम्बर सन् १९४८ में घोषणापत्र 'संघ' की साधारण सभा के सम्मुख प्रस्तुत किया गया और १० दिसम्बर को, उसी वर्ष, ४८ राष्ट्रों के बहुमत से वह स्वीकार कर लिया गया। इस घटना की पुण्य स्मृति में सारा विश्व १० दिसम्बर को मानव अधिकार दिवस मनाता है।

घोषणा पत्र में जिन अधिकारों का उल्लेख किया गया है उनमें मुख्य यह हैं :—

संसार के सब मानव स्वतंत्र और समान हैं और उन्हें अपने व्यक्तित्व के विकास तथा अपने सम्मान की रक्षा के लिए बराबर के अधिकार प्राप्त होने चाहिए।

अधिकारों की प्राप्ति में स्थान, देश, रंग, वर्ण, जाति, आयु, स्थिति, धन, भाषा, धर्म या राजनीतिक विश्वासों का भेद-भाव नहीं रहना चाहिए। संसार के सभी मनुष्यों को, चाहे वह स्वतंत्र हैं या किसी दूसरे के अधीन, बराबर के ही अधिकार प्राप्त होने चाहिए।

प्रत्येक मनुष्य को जीवन, स्वतंत्रता और सुरक्षा का अधिकार है।

संसार में कोई प्राणी गुलाम बनाकर नहीं रखा जायगा। गुलामी की प्रथा को समूल नष्ट कर दिया जायगा।

संसार में किसी व्यक्ति के साथ अमानुषिक, निर्दय या सभ्यता से गिरा हुआ व्यवहार नहीं किया जायगा।

कानून की दृष्टि में सब व्यक्ति समान होंगे। किसी के साथ किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं किया जायगा।

कोई व्यक्ति बिना उचित कार्यवाही के गिरफ्तार नहीं किया जायगा और न उसे हिरासत में रखा जायगा।

प्रत्येक व्यक्ति को उसके विरुद्ध लगाये गये आरोपों को गलत साबित करने का अधिकार होगा, और उसका मुकदमा स्वतंत्र और निष्पक्ष न्यायालय द्वारा सुना जायगा।

मनुष्य के व्यक्तिगत अथवा पारिवारिक मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जायगा।

प्रत्येक व्यक्ति को विचरण एवं भ्रमण की स्वतंत्रता होगी।

प्रत्येक व्यक्ति को नागरिकता के अधिकार प्राप्त होंगे और उसे बलपूर्वक अनागरिक घोषित नहीं किया जायगा।

प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्र रूप से विवाह करने तथा परिवार में रहने की आज्ञा होगी।

प्रत्येक व्यक्ति को सम्पत्ति रखने का अधिकार होगा और बिना उचित कार्यवाही के उसे इस अधिकार से वंचित नहीं किया जायगा।

धर्म, विश्वास, पूजा तथा प्रचार की प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रता होगी।

किसी भी प्रकार के विचार रखने तथा दूसरों पर उन्हें प्रकट करने की प्रत्येक मनुष्य को आजादी होगी।

संघ बनाने तथा सार्वजनिक सभा करने का भी प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार होगा।

मतदान तथा सरकारी पद प्राप्त करने का अधिकार सभी व्यक्तियों को प्राप्त होगा। राज्य का आधार जनमत होगा तथा इसका निर्णय करने के लिए समय-समय पर चुनाव किये जायेंगे।

प्रत्येक व्यक्ति को आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकार मिलेंगे। कोई व्यक्ति जिस प्रकार का चाहे व्यवसाय कर सकेगा। बराबर का काम करने के लिए सबको समान वेतन मिलेगा। प्रत्येक मनुष्य को अपने आर्थिक अधिकारों की रक्षा के लिए ट्रेड यूनियन बनाने तथा उसमें सम्मिलित होने का अधिकार होगा।

प्रत्येक व्यक्ति को अवकाश प्राप्त करने तथा बीमारी इत्यादि की दशा में उचित उपचार का अधिकार होगा। बुढ़ापे, दुर्घटना, बेकारी, मौत इत्यादि की दशा में सब व्यक्तियों को सामाजिक सुरक्षा का अधिकार होगा।

प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार होगा। प्रारम्भिक शिक्षा निःशुल्क तथा अनिवार्य होगी। व्यक्तियों के दूसरे सांस्कृतिक अधिकारों की भी रक्षा की जायगी।

उपरोक्त अधिकारों के बदले प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्त्तव्यों की पूर्ति करनी होगी, क्योंकि कर्तव्यों के पालन पर ही अधिकारों का अस्तित्व कायम है।

उपरोक्त अधिकारों का पालन

संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा द्वारा मानव अधिकारों का घोषणा-पत्र स्वीकार हो जाने का यह अर्थ नहीं कि अब विश्व के समस्त राष्ट्रों में व्यक्ति स्वतंत्रतापूर्वक जीवन व्यतीत कर सकेंगे। इस घोषणा-पत्र को सभी सरकारों ने अभी मान्यता नहीं दी है, यद्यपि अनेक देशों के संविधान जैसे ऐरीट्रीया, हैटी, इंडोनेशिया, जार्डन, लिब्या, पाकिस्तान, सीरिया, कौस्टारिका इत्यादि में इसकी स्पष्ट झलक दिखाई देती है। इस दशा में बहुत अधिक कार्य तथा तीव्र जनमत तैयार करने की आवश्यकता है। अधिकारों की प्राप्ति के लिए बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ता है और वह मूल्य है 'निरन्तर जागरूकता

तथा सतर्कता।' यदि संसार के सभी मनुष्य अपने अधिकारों तथा कर्त्तव्यों के प्रति सचेत रहें तो कोई कारण नहीं कि उन्हें हर प्रकार के अधिकार प्राप्त न हो जायँ। परन्तु अभी इस आदर्श तक पहुँचने के लिए बहुत बड़े कार्य की आवश्यकता है।

अधिकारों की उपयोगिता (Utility of Rights)

अधिकारों की प्राप्ति से समाज तथा नागरिकों को जो लाभ होता है वह सर्व-विदित है। अधिकारों के द्वारा ही **व्यक्तित्व का विकास** सम्भव है। अधिकार मानव-उत्थान की आधार-शिला है। अधिकारहीन मनुष्य पशुवत् जीवन व्यतीत करता है। अधिकारों की प्राप्ति से मनुष्य की मर्यादा तथा उसकी मान-प्रतिष्ठा की रक्षा होती है। अधिकारप्राप्त मनुष्य ही अपने समाज और राष्ट्र की उन्नति का हेतु होता है। वही अपने आन्तरिक गुणों का पूर्ण विकास कर अपने देश को उन्नति के शिखर तक पहुँचा सकता है। अधिकारों की नींव पर ही सभ्यता और संस्कृति का विकास कायम है। प्रगति, उत्थान और विकास का मूल मंत्र अधिकारों की स्वीकृति है।

अधिकारों की मान्यता से न केवल व्यक्ति को ही लाभ होता है वरन् **समाज और राष्ट्र की उन्नति** होती है। उन्हीं के द्वारा विश्वराज्य और विश्वशान्ति का आदर्श पूर्ण हो सकता है। यदि संसार के सभी मनुष्यों को बराबर के अधिकार प्राप्त हों, किसी व्यक्ति के साथ भेद-भाव की नीति न बरती जाय, संसार के सब राष्ट्र स्वतंत्र हों, शोषण, अत्याचार और अन्याय का अन्त कर दिया जाय, तो इस पृथ्वी पर स्वर्ग की स्थापना हो सकती है।

प्रश्न उठता है कि यदि अधिकारों की स्वीकृति पर ही मानव-कल्याण निर्भर है तो बहुत से राज्यों द्वारा इन अधिकारों को मान्यता क्यों नहीं प्रदान की जाती? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आज मनुष्यों की कुछ ऐसी प्रकृति हो गई है कि वह अपने अधिकारों की सुरक्षा तो चाहते हैं, परन्तु अपने कर्तव्यों का पालन करना नहीं। यह भावना शासक और शासित सभी में देखने को मिलती है।

हम दूसरों से तो यह आशा करते हैं कि वह अपने कर्तव्यों को पूरा करें, परन्तु हम स्वयं अपने कर्तव्यों को पूरा करने के लिए उद्यत नहीं रहते। संसार के वर्तमान कलह, अशान्ति, संघर्ष, युद्ध, गुलामी, निर्धनता, भूख, महामारी तथा सभी सामाजिक बुराइयों की जड़ में हमारी यही प्रवृत्ति काम कर रही है। कर्तव्यों की पूर्ति में कुछ स्वार्थ का बलिदान करना पड़ता है। हममें से कोई भी मनुष्य यह बलिदान करने के लिए उद्यत नहीं होता और इसका फल यह है कि आज हमारा सब का जीवन दुखी और संतप्त है। समाज के अधिक भाग्यशाली व्यक्ति अपने बल तथा धन के गर्व में गरीबों की चिन्ता नहीं करते। वह अपने क्षणिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए समाज के विस्तृत हित का ध्यान नहीं रखते। यह प्रवृत्ति शासकों में और अधिक देखने को मिलती है। वह शक्ति के मद में अंधे हो जाते हैं और यह नहीं चाहते कि उनके अधिकारों का उपयोग दूसरे व्यक्ति भी करें। यही कारण है कि स्वार्थपरता उन्हें सब व्यक्तियों को समान अधिकार देने से रोकती है और

चूंकि हम स्वयं इस भावना के शिकार हैं, इसलिए दूसरों के साथ मिलकर, हम अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए सबल आन्दोलन नही करते। अधिकारों की प्राप्ति का मूल इसलिए कर्तव्यों का पालन है। जिस समय समाज के सब व्यक्ति इस अकाट्य सत्य की यथार्थता को स्वीकार कर, उसके अनुसार आचरण करने लगेंगे, अधिकारों की प्राप्ति हमें स्वय ही हो जायगी।

§ ४. कर्तव्य

(Duties)

पिछले पृष्ठों में अधिकारों का वर्णन करते समय हमने कर्तव्य शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर किया है। इसलिए अब हम कर्तव्यों का विस्तार से वर्णन करेंगे और यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि इस शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है तथा हमारे विभिन्न समुदायों एव राज्य के प्रति क्या कर्तव्य है।

कर्तव्यों का अर्थ और उनके प्रकार (*Meaning and Kinds of Duties*)

कर्तव्यों का अर्थ एक इस प्रकार के कार्य करने की प्रेरणा है जो एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य अथवा सारे समाज के प्रति करने चाहिए। कर्तव्य दो प्रकार के हो सकते हैं — **(१) नैतिक (moral) और (२) कानूनी (legal)**। "हम दूसरों के प्रति आदर सत्कार का व्यवहार करें, उनकी मान-प्रतिष्ठा को हानि न पहुँचावे, अपने माता-पिता और गुरुजनों की आज्ञा का पालन करें" इत्यादि हमारे नैतिक कर्तव्य हैं। नैतिक अधिकारों की भांति प्रत्येक मनुष्य के नैतिक कर्तव्य भी होते हैं और इसी प्रकार कानूनी अधिकारों की भांति उनके कानूनी कर्तव्य। कानूनी कर्तव्यों में हम दूसरों के शरीर को चोट न पहुँचाने का कर्तव्य, चोरी न करने का कर्तव्य, दूसरों की मान-हानि न करने का कर्तव्य इत्यादि के उदाहरण दे सकते हैं। यदि मनुष्य अपने इन कर्तव्यों की पूर्ति न करें तो उन्हें राज्य द्वारा दण्ड दिया जा सकता है। नैतिक कर्तव्य में राज्य दड की व्यवस्था नही हो सकती। कोई भी राज्य मनुष्य को सच बोलने, दूसरों का आदर करने तथा एक निर्मल जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य नही कर सकता। इस प्रकार का जीवन तो मनुष्य की आन्तरिक नैतिकता की भावना पर ही निर्भर है और इसलिए ऐसे कर्तव्य कानूनी कर्तव्य न कहलाकर मनुष्य के नैतिक कर्तव्य कहलाते हैं।

हमारे कर्तव्य किसी व्यक्ति-विशेष अथवा सारे समाज के प्रति हो सकते है। यदि हम किसी व्यक्ति से ५० रुपये उधार लेते हैं तो हमारा उस एक व्यक्ति के प्रति कर्तव्य है कि हम उसका ऋण चुका दें। हमारे सारे समाज के प्रति भी कर्तव्य होते है जैसे हम सदाचारी जीवन व्यतीत करें, समाज में शान्ति और सुव्यवस्था बनाये रखने में सहायता दें, राष्ट्रीय सरकार को सहयोग दें, इत्यादि।

कर्तव्यों और अधिकारों का जैसा हम पहले देख चुके है, 'कार्य-कारण' का सम्बन्ध है। अधिकार कर्तव्यों की दुनिया में ही कायम रह सकते हैं। नागरिक शास्त्र का सबसे

महत्त्वपूर्ण उद्देश्य समाज के प्रत्येक मनुष्य को उसके अधिकार और कर्तव्यों का ज्ञान कराना है। जो मनुष्य इतना भीरु है कि वह अपने अधिकारों की रक्षा के लिए नहीं लड़ सकता, वह मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं । इसी प्रकार जो मनुष्य अपने कर्तव्यों को नहीं समझता तथा उनका पालन नहीं करता वह मनुष्य नागरिकता का अधिकारी नहीं। नागरिकशास्त्र अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यों पर अधिक जोर देता है और इसका कारण यह है यदि समाज में प्रत्येक मनुष्य अपने कर्तव्यों का पालन करता चला जाय तो अधिकारों की रक्षा स्वयं ही हो जाती है। हिन्दू धर्म में भी कर्तव्यों के पालन पर ही अधिक जोर दिया गया है। "धर्म का अर्थ कर्तव्य है।" हिन्दू समाज में प्रत्येक अच्छे कार्य को धर्म का स्वरूप इसलिए दिया गया है कि मनुष्य पाप के भय से अपने कर्तव्यों का उचित रूप से पालन करे।

कर्तव्यों का क्षेत्र (Scope of Duties)

कर्तव्यों का क्षेत्र भी उतना ही विशाल है जितना अधिकारों का। जिस समय से मनुष्य होश सँभालता है और उसमें भले-बुरे का ज्ञान होने लगता है, उसी समय से कर्तव्यों की माँग होने लगती है। हमारे जीवन के प्रत्येक क्षण के साथ कर्तव्यों की शृंखला बँधी हुई है। हम कभी सामाजिक ऋण से उऋण नहीं हो सकते, इसलिए जीवन-पर्यन्त हमें अपने कर्तव्यों की पूर्ति करते रहना चाहिए। कर्तव्य-पालन से हमें अधिकारों की प्राप्ति स्वतः ही हो जाती है, इसलिए अधिकारों की अपेक्षा नागरिक शास्त्र कर्तव्य-पालन पर ही अधिक बल देता है।

अधिकारों की भाँति कर्तव्यों की कोई पूर्ण सूची बनाना असम्भव कार्य है। हमारे कर्तव्य विकासशील हैं और उनकी सीमा एवं क्षेत्र सामाजिक जीवन की प्रगति के साथ बढ़ते रहते हैं। फिर भी संक्षेप में हम मनुष्य के कुछ मुख्य कर्तव्यों का उल्लेख इस प्रकार कर सकते हैं:—

(१) **अपने प्रति कर्तव्य**—प्रत्येक व्यक्ति का जीवन राष्ट्र की निधि है। व्यक्तियों के जोड़ से समाज तथा राष्ट्र बनता है। यदि किसी राष्ट्र के नागरिक स्वस्थ, चरित्रवान्, संयमी, उद्योगी तथा स्वावलम्बी हैं तो राष्ट्र आगे बढ़ता है और उसका मान एवं प्रतिष्ठा संसार में फैलती है। इसके विपरीत यदि नागरिक रोगी, अस्वस्थ, काहिल, सुस्त, आलसी, परोपजीवी, चरित्रहीन तथा उच्छृंखल हैं तो देश पिछड़ा हुआ रहता है और उन्हें अन्य राष्ट्रों के अधीन रहना पड़ता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि वह सर्वप्रथम अपने स्वयं के प्रति कर्तव्यों का पालन करे, अपने शरीर को व्यायाम तथा शुद्ध एवं पौष्टिक पदार्थ खाकर स्वस्थ रक्खे, अपने जीवन में संयम तथा अनुशासन लाने का प्रयत्न करे, अपने जीवन को दूसरों के लिए उपयोगी बनाये, अच्छी से अच्छी शिक्षा प्राप्त करे, श्रम का आदर करना सीखे, कभी दूसरों पर निर्भर न रहे, कठिन से कठिन परिश्रम करने के लिए उद्यत रहे, मितव्ययिता का मूल्य सीखे तथा अपनी अधिक से अधिक मानसिक एवं आत्मिक उन्नति करे।

(२) परिवार के प्रति कर्तव्य—व्यक्ति का सुख, शान्ति एवं विकास बहुत कुछ परिवार पर ही निर्भर करता है। माता-पिता के अगाध प्रेम के कारण बच्चे बड़े होकर अपने पैरों पर आप चलना सीखते हैं। माता-पिता अपने बालकों को जिस निःस्वार्थ भाव से प्रेम करते हैं तथा उनके सुख एवं सुविधा के लिए जिस प्रकार कष्ट सहन करते हैं, उसका दूसरा जोड़ संसार में नहीं मिलता। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि बड़ा होकर वह अपने माता-पिता, बाबा-दादी, चाचा-चाची, भाई-बहिन तथा दूसरे स्वजनों की सेवा-सुश्रूषा, आज्ञा-पालन तथा आदर-सत्कार करे। उसे चाहिए कि वृद्धावस्था में वह अपने माता-पिता को अकेला और अनाश्रित न छोड़ दे। पहले अपनी आय का भाग परिवार के दूसरे व्यक्तियों पर खर्च करे और फिर स्वयं अपनी इच्छाओं की पूर्ति की बात सोचे। उसे अपनी पत्नी तथा बच्चों की भी ठीक प्रकार से देख-भाल करनी चाहिए, उन्हें अच्छी से अच्छी शिक्षा प्रदान करनी चाहिए तथा उनके साथ बहुत शिष्ट एवं अच्छा व्यवहार करना चाहिए।

(३) ग्राम, नगर, जाति तथा समाज के प्रति कर्तव्य—जब व्यक्ति वयस्क हो जाता है और परिवार के संरक्षण से हटकर स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है, तो उसे अपने व्यक्तित्व के विकास में गाँव, नगर, शिक्षा-संस्थाओं, धार्मिक समुदायों तथा दूसरी सामाजिक संस्थाओं से बहुत सहायता मिलती है। वह अपने नगर या गाँव की अनेक संस्थाओं का सदस्य बनता है तथा उनमें दूसरे व्यक्तियों के साथ मिलकर जनसाधारण की भलाई के लिए कार्य करना सीखता है। उसकी मित्रता का दायरा बढ़ जाता है और परिवार के सदस्यों के अतिरिक्त वह अपने पड़ोसियों, सहपाठियों, ग्राम या नगरवासियों, जाति-भाइयों, सम्बन्धियों, मित्रों तथा अपने आप विभिन्न संस्थाओं में काम करनेवाले साथियों के ऊपर अपने दुःख और कष्ट के समय निर्भर रहने लगता है। उसकी उन्नति और विकास में यह सब संस्थाएँ पूर्ण योगदान देती है। मनुष्य के सम्बन्धों का दायरा निरन्तर बढ़ता ही रहता है। पहले पड़ोस, फिर गाँव, फिर जाति, फिर प्रान्त, फिर देश तथा अन्त में समस्त मानव-समाज से वह सम्बन्ध जोड़ लेता है। यातायात तथा संचार की सुविधाओं के कारण आज सारा संसार सिकुड़कर एक छोटी-सी इकाई बन गया है। मनुष्य के सामाजिक सम्बन्ध भी इसलिए बहुत विस्तृत होते जा रहे हैं। समाज के सभी अंग—गाँव, नगर, पड़ोस, जाति, संघ इत्यादि मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में भारी सहायता प्रदान करते हैं, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि वह इन सब समुदायों के प्रति अपने कर्तव्यों की पूर्ति करे। हमारा अपने पड़ोसियों के प्रति कर्तव्य है कि उनके दुःख-दर्द में शरीक हों, उनके सुख और आनन्द में अपना कल्याण समझें, उनकी हर प्रकार से सहायता करने के लिए उद्यत रहें। हमारा अपने गाँव या नगर के प्रति कर्तव्य है कि उसके उत्थान के लिए सदा कार्य करते रहें, ग्राम-पंचायत या नगरपालिकाओं के काम में सक्रिय भाग लें, शिक्षा-संस्थाओं, पुस्तकालय, सार्वजनिक स्थान, पार्क, आमोद-प्रमोद-गृह इत्यादि सुविधाओं का निर्माण करें। हमारी अपनी जाति के प्रति कर्तव्य है कि व्यर्थ की सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न करें, अपने जाति-भाइयों से

प्रेम करें तथा उनका समाज के दूसरे वर्गों के साथ सम्पर्क बढ़ायें। हमारा समस्त समाज के प्रति कर्तव्य है कि विभिन्न संस्थाओं एवं संघों के कार्य में सक्रिय भाग लें, सामाजिक उत्थान की योजनाएँ बनायें तथा स्वार्थपरता का त्याग कर सामाजिक हित को अपना लक्ष्य बनायें।

देश तथा विश्व के प्रति कर्तव्य—परिवार, ग्राम, नगर, प्रान्त तथा समस्त संघों से ऊपर हमारा देश है। यदि देश उन्नति करता है तो सारा समाज आगे बढ़ता है। अंग्रेजी में एक कहावत है ('Who lives if the country dies, and who dies if the country lives') अर्थात् यदि देश मरता है तो कौन व्यक्ति जीवित रह सकता है और यदि देश जीवित है तो व्यक्ति कभी नहीं मर सकता। हमारे अपने देश के प्रति कर्तव्यों की इससे अधिक उचित व्याख्या नहीं हो सकती। इसी कर्तव्य-भावना के कारण व्यक्ति अपने राष्ट्र के उत्थान तथा उसकी मान-मर्यादा की रक्षा के लिए उच्च से उच्च बलिदान करने को उद्यत हो जाते हैं। गुलाम देशों में स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए यही भावना असंख्य नागरिकों को जेल जाने, तरह-तरह की यातनाएँ सहने तथा अपने सीने पर गोली भी खाने के लिए प्रेरित करती है। स्वतंत्र राष्ट्रों के नागरिक इसी भावना की प्रेरणा से अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए फौज में भरती होकर, युद्ध के मोरचे पर शत्रु का मुकाबला करते हैं। वह ऐसा इसलिए करते हैं कि राष्ट्र की भलाई में ही वह अपना सुख तथा उसकी अवनति में ही अपना दुःख और क्लेश अनुभव करते हैं। राष्ट्रीय सरकार ही किसी देश में शान्ति और व्यवस्था कायम रखती है, वही देश की आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक योजनाएँ बनाती है, वही समाज के निर्बल, असहाय तथा अनाश्रित व्यक्तियों की रक्षा करती है तथा वही अपराधों की रोक-थाम कर न्याय का प्रबन्ध करती है। संक्षेप में सारे समाज का सुख उसी की कार्य-कुशलता पर निर्भर करता है। अपने राष्ट्र की इन सर्वोन्मुखी सेवाओं के बदले प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि वह देशहित के सम्मुख अपने दूसरे स्वार्थों को अत्यन्त हेय समझे तथा उसकी सेवा-शुश्रूषा के लिए सदा तत्पर रहे।

परन्तु देश-सेवा तथा देश-भक्ति का यह अर्थ कदापि नहीं लगाना चाहिए कि व्यक्ति अपने राष्ट्र की झूठी शान या मान-मर्यादा के लिए दूसरे राष्ट्रों की स्वतंत्रता हड़प करने में सरकार का साथ दे। यदि व्यक्ति का धर्म है कि वह अपने देश की सेवा करे, तो राष्ट्र का भी एक द्विमुखी कर्तव्य है—एक यह कि वह अपने देशवासियों की उन्नति की योजनाएँ बनाये और दूसरा यह कि वह अन्य देश के नागरिकों की स्वतंत्रता का अपहरण न करे। कर्तव्य तथा अधिकारों की दृढ़ शिला पर सामाजिक कल्याण की नींव तभी रक्खी जा सकती है जब विश्व में शान्ति हो तथा कोई देश दूसरे राष्ट्र को अपने अधीन गुलाम न रक्खे। हमें चाहिए कि राष्ट्रहित से भी आगे बढ़कर हम विश्वकल्याण की बातें सोचें और संसार के सभी मानवों को अपना सगा सम्बन्धी भाई समझें।

राज्य के प्रति नागरिकों के कुछ विशेष कर्तव्य (Duties towards State)

हम ऊपर बता चुके हैं कि राष्ट्रीय सरकार द्वारा ही देश में उन परिस्थितियों का निर्माण होता है जिनमें व्यक्ति अपने अधिकारों की रक्षा कर सुख और आनन्द के साथ

अपना जीवन व्यतीत कर सकता है। अपने राज्य तथा शासन के प्रति इसलिए हमारे कुछ विशेष कर्त्तव्य हैं। इन कर्त्तव्यों को पूरा करने पर ही हम अपने राज्य से यह आशा कर सकते हैं कि वह हमारी सर्वोन्मुखी उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहेगा। ये कर्त्तव्य इस प्रकार हैं:—

(१) राजाज्ञाओं के पालन का कर्तव्य—मनुष्य का अपने राज्य के प्रति सबसे महत्वपूर्ण कर्त्तव्य राज्य के कानूनों का पालन करना है। कानून समाज के हित तथा समाज में शान्ति रखने के लिए बनाये जाते हैं। हृदय से राज्य का हित चाहने वाले प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह राज्य के अच्छे कानूनों को माने। आज्ञापालन की सीमा की विस्तृत विवेचना कानून के अध्याय में की जायगी। यहाँ केवल इतना बता देना काफी है कि आमतौर पर नागरिको को राज्य के सभी कानूनों को मानना चाहिए।

(२) भक्ति (Allegiance)—राज्यभक्ति के आधार पर ही किसी देश में नागरिक और अनागरिक की पहचान की जाती है। राज्यभक्ति का अर्थ है कि किसी भी नागरिक को राज्य के प्रति विश्वासघाती न होना चाहिए। राज्यभक्ति में नागरिक के निम्नलिखित कर्तव्य शामिल है —

(अ) फौज में नौकरी करने का कर्तव्य—वैसे तो प्रत्येक देश में बाहरी आक्रमणो से उसकी रक्षा के लिए एक फौज का प्रबन्ध होता है परन्तु कभी-कभी राष्ट्र पर इतना संकट आ जाता है कि मामूली फौज देश की स्वतन्त्रता की रक्षा नही कर सकती। ऐसे अवसर पर प्रत्येक नागरिक का धर्म है कि वह फौज में भरती होकर अपने देश की रक्षा के लिए लडाई में भाग ले।

(ब) सरकारी अफसरों की सहायता—प्रत्येक नागरिक का यह भी कर्तव्य है कि वह समाज में शान्ति और सुव्यवस्था बनाये रखने में सरकार का हाथ बटाये। किसी भी देश में चोर और डकैत, लुटेरे और व्यभिचारी लोगो को पकडने का उस समय तक कोई समुचित प्रबन्ध नही हो सकता जब तक जनता पुलिस का इस काम में हाथ न बटाये। प्रजातंत्रवादी शासन में जनता के प्रत्येक सदस्य का धर्म है कि वह अपने आपको सरकार का ही अंग समझे और उसके कार्य में हर प्रकार की सहायता दे।

(स) करों को चुकाना—कर राज्य का प्राण है। किसी भी देश की सरकार बिना धन के नही चलाई जा सकती। यह धन सरकार को केवल करो के रूप में ही मिलता है। प्रत्येक नागरिक का धर्म है कि वह इन करो की अदायगी को अपना परम धर्म समझे। करों के चुकाने में किसी प्रकार की बेईमानी नही करनी चाहिए। ऐसी बेईमानी से मनुष्य का नैतिक पतन होता है और सरकार को अच्छे प्रकार से शासनकार्य चलाने के लिए समुचित धन प्राप्त नही होता।

उपरोक्त सभी कर्तव्यो की पूर्ति के लिए राज्य नागरिको के विरुद्ध बल-प्रयोग कर सकता है। यदि नागरिक कानूनो का पालन न करें तो न्यायालय द्वारा उन्हें दंड दिया जा सकता है। इसी प्रकार राष्ट्रीय संकट के समय सरकार फौजी भरती को अनिवार्य

घोषित कर सकती है। यदि कोई नागरिक अपराधों की छानबीन में पुलिस की सहायता न करे तो उन्हें ऐसा करने के लिए कानून द्वारा विवश किया जा सकता है। करों की वसूली में भी बल का प्रयोग किया जा सकता है।

परन्तु नागरिकों के राज्य के प्रति कुछ दूसरे कर्तव्य भी होते हैं जो कानूनी नहीं वरन् नैतिक होते हैं। इन कर्तव्यों की पूर्ति के लिए नागरिकों को विवश नहीं किया जा सकता, परन्तु श्रेष्ठ तथा अच्छे नागरिक उन्हें स्वतः ही, अन्तःप्रेरणा के कारण, पूर्ण करते हैं।

(३) **मताधिकार का उचित उपयोग**—इन कर्त्तव्यों में मताधिकार का उचित प्रयोग सबसे महत्त्वपूर्ण है। मत राष्ट्र या नागरिक को सौंपा हुआ एक पवित्र विश्वास है। इसलिए उसका उपयोग बड़ी सावधानी, ईमानदारी और विचारपूर्वक करना चाहिए। किसी विशेष उम्मीदवार के पक्ष में मत देते समय जातीय अथवा व्यक्तिगत हित की भावना का ध्यान नहीं रखना चाहिए। इस कर्त्तव्य का पालन करते समय हमें समाज के हित को ही सबसे प्रमुख समझना चाहिए।

नागरिकों के राज्य के प्रति अन्य नैतिक कर्तव्यों में हम सदाचारी, अनुशासनपूर्ण, संयमी, परोपकारी तथा प्रेमपूर्ण जीवन व्यतीत करने के कर्तव्यों का उल्लेख कर सकते हैं। नागरिकों के चरित्र-बल पर ही राज्य की शक्ति तथा मान-मर्यादा निर्भर करती है, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि वह अपने चरित्र-गठन द्वारा राज्य की मर्यादा को संसार में बढ़ाये।

व्यक्ति का यह भी धर्म है कि वह सरकारी नौकरी द्वारा भी राज्य की सेवा करने के लिए उद्यत रहे। यदि सरकार किसी व्यक्ति को कोई विशेष कार्य करने के लिए उपयुक्त समझती है तो उसका धर्म है कि वह उस कार्य को सँभालने में आनाकानी न करे।

§ ५. भारतीय संविधान में नागरिकों के मूल अधिकार

(Fundamental Rights of Indian Citizens)

१५ अगस्त सन् १९४७ को सदियों की गुलामी के बाद भारत स्वतंत्र हुआ। परतंत्रता की घोर निशा को चीरकर भारत ने एक बार फिर स्वतंत्रता के स्वर्णिम प्रभात में प्रवेश किया। भारत के नागरिकों को परतंत्रता के काल में किसी प्रकार के नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। भारतीय जनता के स्वतंत्रता संग्राम का दमन करने के लिए ब्रिटिश सत्ता ने तरह-तरह के कानून बना रखे थे। जनता को किसी प्रकार की वाक्-स्वतंत्रता, सार्वजनिक सभा करने की आजादी या स्वतंत्र रूप से पत्र प्रकाशित करने का अधिकार नहीं था। किसी भी मनुष्य को बिना मुकदमा चलाये या उस पर बिना किसी प्रकार का अभियोग सिद्ध हुए जेल में डाला जा सकता था। नागरिकों के एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने पर रोक लगाई जा सकती थी। उनको धारा १४४ के अन्तर्गत भाषण देने से रोका जा सकता था। यदि ब्रिटिश शासन में किसी को अधिकार प्राप्त थे तो वह केवल जमींदारों, राजाओं या बड़े-बड़े पूँजीपतियों को थे जिनके कारण वे स्वच्छन्द

रूप से जनता का निर्भीकता तथा निर्दयतापूर्वक शोषण करते थे। भारत में गरीब तथा मूक जनता को किसी प्रकार के नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं थे।

परन्तु, आज भारत स्वतंत्र है, पराधीनता की बेड़ियो से मुक्त है। भारत के नये संविधान में नागरिको के अनेक मूल अधिकारो का वर्णन किया गया है। इनमें कहा गया है कि भारत का संविधान स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व भाव पर अवलम्बित है। भारत के प्रत्येक नागरिक को भाषण, सार्वजनिक सभा, संगठन, चलने-फिरने, पत्र प्रकाशित करने और किसी भी प्रकार का व्यापार करने की स्वतंत्रता है। किसी भी मनुष्य को उसके धर्म, जाति या सम्प्रदाय के कारण अधिकारो से वंचित नही किया जाता। स्त्री और हरिजनो को बराबर के नागरिक अधिकार प्राप्त है। अस्पृश्यता का अंत कर दिया गया है। स्वतंत्र भारत में किसी भी नागरिक को राज्य की ओर से उपाधि नही दी जाती। सम्पत्ति खरीदने और बेचने का अधिकार प्रत्येक नागरिक को प्राप्त है। कोई भी मनुष्य किसी भी धर्म में विश्वास रख सकता है। अल्पसंख्यको के धर्म और संस्कृति की रक्षा की जाती है। भारतीय समाज से बेगार और जबर्दस्ती काम लेने की प्रथा का अन्त कर दिया गया है। नागरिको के इन अधिकारो की रक्षा देश की सबसे बडी अदालत (Supreme Court) द्वारा की जाती है।

योग्यता प्रश्न

१. अधिकारों की व्याख्या कीजिए और बताइये कि आपकी राय के मुताबिक राज्य को कौन से अधिकार प्रदान करना चाहिये ? (यू० पी०, १९३२)

२. आप 'मनुष्य के अधिकार' शब्द से क्या समझते हैं ? वे किस प्रकार स्वीकृत किये जाते हैं और नागरिक के लिए सुरक्षित रखे जाते हैं ?

३. 'अधिकार कर्तव्यों के जगत् में उत्पन्न होते हैं।' इस पर प्रकाश डालिये। (यू० पी०, १९३७, १९४०, १९४४, पंजाब, १९५०, ५२, ५५)

४. 'अधिकार' की व्याख्या कीजिये। एक नागरिक के नागरिक अधिकारों का वर्णन कीजिये। (कलकत्ता, १९३२, १९४१)

५. 'अधिकार और कर्तव्य' शब्द को समझाइये। प्राकृतिक अधिकार क्या है ? (यू० पी०, १९३५, १९४६)

६. नागरिकों के राज्य के प्रति कौन से कर्तव्य हैं ? किस हद तक राज्य उन कर्तव्यों का पालन करने के लिए मजबूर कर सकता है ? (यू० पी०, १९३९, १९५०)

७. 'राजनीतिक अधिकार' शब्द की व्याख्या कीजिये। आपके ख्याल से मुख्य राजनीतिक अधिकार क्या हैं ? (यू० पी०, १९३६)

८. आधुनिक राज्य के नागरिकों के अधिक आवश्यक अधिकारों और कर्तव्यों का वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९४२)

९. आप 'अधिकार और कर्तव्य' शब्द से क्या समझते हैं? वे कितने प्रकार के होते हैं ?

१०. ऐसे अधिक आवश्यक अधिकार कौन से हैं जो नागरिकों को मिलने चाहिये ? (यू० पी०, १९४३)

११. अधिकार किस तरह सामाजिक वस्तु हैं और वह किस प्रकार मनुष्य की आत्मउन्नति के लिए जरूरी है—बतलाइए।

१२. अधिकारों की स्वीकृति की आवश्यकता और उपयोगिता क्या है ?

१३. अधिकारों की उत्पत्ति, विकास और स्वभाव क्या है ?

१४. आदर्श, नैतिक और कानूनी अधिकारों की भिन्नता बतलाइये। आपकी राय के मुताबिक वे कौन से आदर्श अधिकार हैं जिन्हें नागरिक को उपयोग करना चाहिए ?

१५. आपकी राय में नागरिक के सबसे महत्त्वपूर्ण कर्तव्य कौन से हैं ? (यू० पी०, १९४८, पंजाब १९५३)

१६. 'अधिकार' शब्द का अर्थ समझाइये। आधुनिक राज्यों में नागरिकों को कौन से अधिकार प्रदान किये जाते हैं ? (यू० पी०, १९४९)

१७. राज्य के प्रति नागरिक के क्या कर्तव्य हैं ? राज्य कहाँ तक उसको इनके पालन के लिए बाध्य कर सकता है ? (यू० पी०, १९५०, १९५३)

१८. अधिकार और कर्तव्य एक दूसरे के विरोधी नहीं वरन् सहायक हैं। इस कथन का विवेचन कीजिए। (यू० पी०, १९५८)

अध्याय ८

स्वतंत्रता

(Liberty)

“स्वतंत्रता का अर्थ नियंत्रण का अभाव नहीं, वरन् व्यक्तित्व के विकास की अवस्थाओं की प्राप्ति है”—महात्मा गांधी

स्वतन्त्रता का स्वभाव (Nature of Liberty)

हम पिछले अध्याय में बता चुके हैं कि अधिकार और कर्त्तव्य मनुष्य के अच्छे सामाजिक जीवन की आवश्यक अवस्थाएँ है, तथा दूसरे अधिकारों की भाँति स्वतन्त्रता भी मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। मनुष्य के दूसरे अधिकारों का विश्लेषण हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। इस अध्याय में हम स्वतन्त्रता का ही अर्थ समझाने का प्रयत्न करेंगे।

स्वतंत्रता शब्द का भ्रममूलक अर्थ (Wrong Conception of Liberty)

दुर्भाग्यवश, आधुनिक काल में स्वतन्त्रता शब्द का प्रयोग तो बहुत अधिक होता [illegible]

और इसलिए उसे अपनी इच्छानुसार स्वतन्त्र रूप से कार्य करने की स्वाधीनता होनी चाहिए। कोई आदमी कैसे रहता है, क्या खाता है, अपने बच्चों से किस प्रकार का व्यवहार करता है, गन्दे मकान में रहता है या अच्छे में, शराब पीता है या नहीं, किस उम्र में और कितने विवाह करता है इत्यादि वैयक्तिक प्रश्न है। समाज के दूसरे मनुष्यों को इन कार्यों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं होना चाहिए। ऐसे मनुष्य सड़क के बीचो-बीच चलने में ही अपनी शान समझते हैं और यदि कोई व्यक्ति उनसे कहे कि सड़क के बाईं ओर चलना चाहिए बीच में नहीं, तो इसमें वह अपनी स्वतन्त्रता का नाश और अधिकारों का हनन समझते हैं। स्वतन्त्रता शब्द का यह स्वरूप एकदम विकृत है। यदि यही अर्थ सच मान लिया जाय, तो इस आशय के अन्तर्गत संसार में केवल एक ही मनुष्य स्वतन्त्र रह सकेगा, संसार के दूसरे सारे मनुष्य उसके गुलाम बनकर ही रहेंगे।

हम पिछले अध्यायों में बतला चुके हैं कि मनुष्य सर्वथा वैयक्तिक जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। स्वभाव और आवश्यकता दोनों के कारण वह समाज में ही जीवित

रह सकता है और समाज के ही द्वारा अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है। इसलिए यह कहना कि "मनुष्य किस प्रकार का आचरण करता है—" यह एक वैयक्तिक प्रश्न है, सामाजिक नहीं, सर्वथा गलत है। मनुष्य के प्रत्येक कार्य का समाज पर प्रभाव पड़ता है, इसलिए समाज का धर्म है कि वह देखे कि कोई व्यक्ति ऐसा काम तो नहीं करता जिसके द्वारा वह अपना और समाज दोनों का अहित करता हो। मनुष्य शराब पीते समय या कोई और बुरा काम करते समय यह नहीं सोचता कि इससे उसकी हानि होती है और समाज का नैतिक पतन होता है। इसलिए समाज के दूसरे सारे सदस्यों का धर्म है कि वह मनुष्य के प्रत्येक कार्य की जाँच करें और उसे केवल ऐसे ही कार्य करने दें जिससे उसका स्वयं और समाज दोनों का भला हो। इसलिए स्वतंत्रता शब्द का अर्थ स्वच्छन्दता नहीं, इस शब्द का अर्थ है 'मनुष्य को अपने व्यक्तित्व के विकास की पूर्ण आजादी।'[1] दूसरे शब्दों में 'ऐसी अवस्थाओं का अभाव जिनके कारण मनुष्य एक अच्छा और उपयोगी सामाजिक जीवन व्यतीत करने में असमर्थ हो।')

स्वतन्त्रता शब्द का कुछ लोग एक और मतलब भी लगाते हैं और वह यह कि प्रत्येक मनुष्य को कार्य करने की उस समय तक पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए, जब तक वह दूसरे मनुष्य के समान अधिकारों पर वार नहीं करता अर्थात् यदि एक मनुष्य अपने पड़ोसी को परेशान नहीं करता तो वह अपने मकान में जिस प्रकार भी चाहे रह सकता है। स्वतंत्रता शब्द का यह अर्थ भी भ्रमात्मक है। कारण, यह अर्थ इस भावना पर अवलम्बित है कि मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास केवल उसी समय कर सकता है जब दूसरे लोग उसके कार्य में हस्तक्षेप न करें और उसे अपनी इच्छानुसार कार्य करने दें। वास्तव में सच्चाई बिल्कुल इसके विपरीत है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज के दूसरे मनुष्यों के क्रियात्मक सहयोग और सहायता के बिना कोई भी मनुष्य समाज में उन्नति नहीं कर सकता। बच्चा या बूढ़ा, अपाहिज या रोगी, अलग रहकर, समाज के दूसरे सदस्यों के सहयोग के बिना, मर ही सकता है, अपने जीवन का विकास नहीं कर सकता। इसलिए स्वतंत्रता शब्द का अर्थ न स्वच्छन्दता अर्थात् 'नियंत्रण का अभाव' है और न 'कम से कम नियंत्रण'।

स्वतंत्रता शब्द का सही अर्थ (True meaning of Liberty)

स्वतंत्रता शब्द का सही अर्थ है (१) मनुष्य के मौलिक अधिकारों की रक्षा और (२) ऐसे नियंत्रणों का अभाव जो मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में बाधाएँ सिद्ध हों।

---

1 "Liberty means freedom to develop one's personality within maximum limits."

Liberty means "hindering of hindrances to good social life."

Liberty, according to Laski, is "the eager maintenance of that atmosphere in which men have the opportunity to be their best selves."

इन दो भावों के अन्तर्गत 'स्वतन्त्रता' सकारात्मक (Positive) और नकारात्मक (Negative) दोनों बन जाती हैं।

(१) सकारात्मक—स्वतंत्रता केवल एक नकारात्मक भावना नहीं। स्वतंत्रता का अर्थ है उन परिस्थितियों का होना जिनके कारण मनुष्य अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके। मनुष्य के अधिकारों की रक्षा ही मनुष्य की स्वतन्त्रता की पूर्ण रक्षा है।

(२) नकारात्मक—स्वतंत्रता का दूसरा आवश्यक अंग उन परिस्थितियों और नियंत्रणों को दूर करना है जिनके कारण मनुष्य अपनी सामाजिक उन्नति नहीं कर सकता। प्रत्येक मनुष्य अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए कुछ स्वतन्त्र वातावरण चाहता है। हर क्षेत्र और हर कार्यों में हस्तक्षेप मनुष्य को आलसी और परोपजीवी बना देता है। उसमें स्वयं कार्य करने, विचारने, आविष्कार करने तथा नई-नई बातें सोचने की शक्ति नहीं रहती। इसलिए स्वतन्त्रता का अर्थ उन परिस्थितियों को रोकना भी है जो मनुष्य के सर्वतोमुखी तथा पूर्ण व्यक्तित्व के विकास में बाधक सिद्ध हो सकती है।

संप्रभुता तथा स्वतंत्रता (Sovereignty and Liberty)

यदि स्वतंत्रता का अर्थ स्वच्छन्दता नहीं वरन् अधिकारों की रक्षा है तो यह आवश्यक है कि समाज में कोई ऐसी संस्था अवश्य होनी चाहिए जो मनुष्य के मौलिक अधिकारों की रक्षा कर सके तथा अपराधियों को दण्ड दे सके। यह कार्य प्रत्येक देश में राज्य द्वारा किया जाता है। कुछ लोगों का विचार है कि राज्य के नियमों के पालन से मनुष्य की स्वतन्त्रता का हनन होता है क्योंकि राज्य शक्ति का परिचायक है और मनुष्य की स्वतन्त्रता केवल उस समय कायम रह सकती है जब मनुष्य स्वेच्छा से कार्य करे, शक्ति के भय से नहीं। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो यह मत एकदम भ्रममूलक सिद्ध होगा। प्रत्येक समाज में कुछ न कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जो दूसरों के अधिकारों की परवाह न करके मनमानी करते हैं। राज्य का कर्तव्य है कि वह ऐसे मनुष्यों को दण्ड दे और इस प्रकार समाज के छोटे से छोटे और कमजोर से कमजोर व्यक्ति की सहायता करे। राज्य निष्पक्ष संस्था है, वह समाज के प्रत्येक व्यक्ति के अधिकारों की बिना भेद-भाव के रक्षा कर सकती है। इसीलिए राज्य की सम्प्रभुता स्वतंत्रता की विरोधी नहीं वरन् उसकी प्राथमिक आवश्यकता है। बिना 'राजा' के किसी भी मनुष्य की स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं हो सकती।

परन्तु इस सबका यह अर्थ कदापि नहीं समझना चाहिए कि प्रत्येक देश की सरकार जनता के अधिकारों तथा उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा करती है। बहुत-सी सरकारें इस प्रकार की होती हैं जो जनता का दमन और उसका निर्दयतापूर्वक शोषण करती हैं। ऐसी सरकारों के नियम मानने के लिए नागरिक बाध्य नहीं। परन्तु किसी सरकार के बुरे होने का अर्थ राज्य की सत्ता को मिटा देना नहीं वरन् सरकार को बदलने की आवश्यकता पर जोर देना है। राज्य और सरकार दो भिन्न-भिन्न संस्थाएं हैं। सरकार बुरी हो सकती है, परन्तु राज्य नहीं। सरकार बदली जा सकती है, परन्तु राज्य की सत्ता नहीं मिटाई जा सकती।

कानून या विधि और स्वतंत्रता (Law and Liberty)

स्वतंत्रता की रक्षा के लिए केवल राज्य का होना ही आवश्यक नहीं, वरन् राज्य द्वारा प्रसारित नियम और कानूनों का होना भी आवश्यक है। कानून या विधि का अर्थ राज्य के उन नियमों से है जो समाज में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने तथा जनता के अधिकारों की रक्षा के लिए बनाये जाते हैं। प्रत्येक मनुष्य का धर्म है कि वह राज्य के ऐसे नियमों का पालन करे। इन नियमों के पालन से समाज के सारे सदस्यों के अधिकारों की रक्षा हो सकती है। इनकी अवहेलना से समाज में मार-काट, लूट-खसोट और अराजकता फैल जाती है। किसी भी मनुष्य के अधिकार सुरक्षित नहीं रहते और 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' नियम के अंतर्गत समाज का संगठन चलने लगता है।

एक उदाहरण से हमारा यह आशय बिल्कुल स्पष्ट हो जायगा। प्रत्येक नगर में पैदल जनता, मोटर-गाड़ी, बैल-ठेला, ताँगा-घोड़ा इत्यादि के चलने के लिए 'सड़क के नियम' (Rules of the road) होते हैं। इन नियमों के अनुसार पैदल जनता पटरियों पर चलती है, आहिस्ता चलनेवाली सवारी सड़क के बायें और तेज चलनेवाली गाड़ियाँ सड़क के बीचों बीच चलती हैं। थोड़ी देर के लिए यदि इन नियमों का पालन न किया जाय और प्रत्येक मनुष्य को यह स्वतंत्रता दे दी जाय कि वह जहाँ चाहे सड़क पर चले, तो इससे कुछ ही मिनटों में सड़क पर एक अजीब कोलाहल, भीड़-भाड़ और अव्यवस्था का दृश्य दृष्टिगोचर होगा। शायद कुछ ही देर में दो-चार दुर्घटनाएँ भी हो जायँ और बेगुनाह राहगीरों का खून भी बहने लगे। सरकार के कानूनों द्वारा इस प्रकार की अव्यवस्था की रोकथाम की जाती है और थोड़े से नियंत्रण तथा असुविधा से जनता के सारे सदस्यों के अधिकारों की रक्षा हो जाती है।

राज्य के कानून इस प्रकार जनता के अधिकारों का हनन नहीं वरन् उनकी रक्षा करते हैं। वह प्रत्येक मनुष्य से अनुशासित जीवन की माँग करके सारी जनता के अधिकारों की रक्षा करते हैं।

परन्तु यहाँ यह समझ लेना भी आवश्यक है कि प्रत्येक कानून से स्वतंत्रता की रक्षा नहीं होती। कानून या विधि ऐसे शासकों द्वारा भी बनाये जा सकते हैं जो उसके द्वारा गरीब जनता का दमन तथा अपना स्वार्थसिद्ध करना चाहें। कानून या विधि एक दुधारी तलवार है, इससे जनता का भला भी हो सकता है और उसके अधिकारों का अपहरण भी। अच्छे शासक कानून द्वारा जनता की सेवा कर सकते हैं, परन्तु स्वार्थी शासक उन्हीं कानूनों से जनता के अधिकारों का अपहरण भी। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक कानून से स्वतंत्रता की रक्षा के लिए अच्छे नियमों के पालन की आवश्यकता होती है। अच्छे और बुरे कानूनों की क्या पहचान है तथा किन परिस्थितियों में मनुष्य राज्य के कानून मानने के लिए बाध्य नहीं, इस प्रश्न का विचार हम अगले अध्याय में करेंगे। यहाँ केवल मोटे तौर पर इतना समझ लेना पर्याप्त है कि कानूनों के पालन के बिना स्वतंत्रता की रक्षा नहीं हो सकती, और प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि वह अराजकता रोकने के लिए सरकार के प्रत्येक नियम का पालन करे।

स्वतंत्रता की आवश्यकता (Necessity of Liberty)

फासिस्ट दृष्टिकोण (Fascist view)—स्वतन्त्रता शब्द का सही अर्थ समझ लेने के पश्चात् यह आवश्यक है कि हम यह समझने का प्रयत्न करें कि स्वतन्त्रता सामाजिक सगठन के लिए क्यों आवश्यक है, क्या स्वतन्त्रता के बिना मनुष्य एक अच्छा जीवन व्यतीत नही कर सकता, क्या समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्वतन्त्रता आवश्यक है, क्या स्वतन्त्र समाज ही उन्नति कर सकता है, किसी एक सर्वाधिकार सम्पन्न नेता के नीचे सगठित समाज नही ? यह प्रश्न अत्यन्त विचारणीय है।

ससार में ऐसे लोगो का अभाव नही जो स्वतन्त्रता को मनुष्य और समाज दोनो के हितो का घातक समझते है। इन लोगो में सभी देशो के फासिस्ट विचारवाले मनुष्य शामिल है। इन लोगो का कहना है कि समाज में अधिकतर मनुष्य मूर्ख होते है, वह अच्छे और बुरे की पहचान नही कर सकते, वह प्रत्येक वस्तु को तर्क की दृष्टि से नही वरन् भावना की दृष्टि से देखते हैं। उनके जीवन का मस्तिष्क नही वरन् हृदय सचालन करता है। ऐसे मनुष्य, अपनी या समाज की वास्तविक भलाई, किसी विशेष परिस्थिति में, किस प्रकार का कार्य करने में है, नही समझते। वह सार्वजनिक प्रश्नो पर अखबारो, रेडियो, बडे वक्ताओ के भाषणो तथा राजनीतिज्ञो के व्याख्यानो के आधार पर अपनी राय कायम करते हैं, स्वतंत्र विचार करने की इन लोगों में शक्ति नहीं होती। इसलिए फासिस्ट विचारको का कहना है कि जनता के कुछ थोडे आदमियो को छोडकर जो वास्तव में बुद्धिमान हैं तथा भले-बुरे की पहचान कर सकते हैं, बाकी लोगो को किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नही होनी चाहिए। इन लोगो को स्वतन्त्रता देने से सामाजिक सगठन ढीला पड जाता है, समाज में अनेक वर्ग और पार्टियाँ बन जाती हैं, आपस के झगडे बढ़ जाते हैं, सामाजिक कार्य-कुशलता का अन्त होता है और अन्त में देश उन्नति करने के बजाय अवनति की ओर अग्रसर होने लगता है। फासिस्ट विचारवाले लोग इसलिए केवल ऐसे ही मनुष्यो को स्वतन्त्रता देना चाहते हैं जो दूसरो पर राज्य कर सकें, दूसरो पर अपना प्रभुत्व जमा सकें। वह स्वतन्त्र विचार के नियम में विश्वास नही करते। वह जनता के विचारो पर रेडियो, अखबारो, सिनेमाओ तथा इसी प्रकार के दूसरे प्रकार के साधनो द्वारा नियन्त्रण रखना चाहते हैं। वह समाज का सगठन—'एक नेता', 'एक उद्देश्य', 'एक कार्यक्रम'—के नारे पर करना चाहते हैं। जनता के सारे सदस्यो के व्यक्तित्व तथा उनकी इच्छाओ का एकीकरण, वह नेता के व्यक्तित्व तथा उसकी इच्छा में कर देना चाहते हैं। फासिस्ट शासन में जनता की राय का कोई मूल्य नही माना जाता। एक नेता और उसके नीचे काम करने-वाले कुछ थोड़े से लोगो का समूह सारे समाज और राष्ट्र के कार्य का सचालन करता है।

प्रजातंत्रात्मक दृष्टिकोण (Democratic View)—हमारी राय में स्वतन्त्रता का फासिस्ट दृष्टिकोण व्यक्ति और समाज दोनो की भलाई के विचार से अत्यन्त खतरनाक है। स्वतन्त्रता मनुष्य-जीवन का सार है, यह वह शक्ति है जो मनुष्य को जगली जानवरों और पशुओ से भिन्न बनाती है, यह वह भावना है जो मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में बीज

का काम देती है। स्वतंत्रताहीन मनुष्य चिड़ियाघर में बन्द शेर और चीता के समान होता है, जिसे खाने-पीने के प्रत्येक सुख होने पर भी जीवन का वास्तविक आनन्द नहीं मिलता। मनुष्य महल में बन्द होकर और संसार के आनन्द की सभी वस्तुएँ प्राप्त करके, उस आनन्द के एक कण का भी अनुभव नहीं कर सकता जो स्वतंत्र जीवन में मनुष्य जंगल में रहकर और भूखा रहने पर भी अनुभव करता है। स्वतंत्रता जीवन का मधु है, यह मनुष्यता की आत्मा है।

फासिस्ट विचार-शैली कार्य-कुशलता पर अधिक जोर देती है। इस कुशलता की प्राप्ति के लिए यदि उसे व्यक्ति की स्वतंत्रता का बलिदान करना पड़े तो वह इसमें परहेज नहीं करती, परन्तु यह उस आदर्श का बिल्कुल विचार छोड़ देती है जिसकी प्राप्ति के लिए सामाजिक संगठन का ढाँचा खड़ा किया जाता है। सामाजिक संगठन का आदर्श मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास है। किसी समाज में इस आदर्श का बलिदान करके कार्य-कुशलता की प्राप्ति करना, समाज के संगठन की हँसी उड़ाना है और उसके मूल तत्व को भुला देना है। व्यक्तियों से मिलकर समाज का संगठन बनता है। यदि किसी समाज में जनता के व्यक्तित्व का विकास नहीं होता तो वह सामाजिक संगठन बिल्कुल निर्मूल और खोखला है। इसलिए फासिस्ट विचार शैली मानव व्यक्तित्व के विकास की शत्रु है।

फासिस्ट विचारों के अन्तर्गत समाज का संगठन एक नेता की इच्छा के अधीन होता है, जनता के किसी भी सदस्य को नेता के आदर्शों पर टीका-टिप्पणी करने का अधिकार प्राप्त नहीं होता, इससे शासन में उस विरोधी दल का जन्म नहीं होने पाता जिसके कारण शासकवर्ग अपनी त्रुटियों को देख सकते हैं और जनता की इच्छानुसार अपने राज्य-कार्य का संचालन कर सकते हैं। विरोधी दल के अभाव में राज्य-कार्य का संचालन करनेवाले लोग अत्याचारी बन जाते हैं और वह जनता के हित का विचार छोड़कर अपनी स्वार्थसिद्धि की पूर्ति में लग जाते हैं। इसके विपरीत प्रजातंत्रात्मक नियमों के अधीन शासकवर्ग जनता की राय का उल्लंघन नहीं कर सकते, वह जनता के सेवक के रूप में कार्य करते हैं और किसी समय यदि जनता की राय उन्हें प्राप्त न हो तो उन्हें अपने पद से अलग हो जाना पड़ता है।

स्वतन्त्रता और कार्यकुशलता (Liberty and Efficiency) के चुनाव में मनुष्य सदा स्वतन्त्रता को ही ऊँचा स्थान देगा। स्वतन्त्रता मानव-जीवन का तत्व है। संसार में प्रत्येक जीव स्वतन्त्र वातावरण में ही रहकर उन्नति कर सकता है, स्वतन्त्र व्यक्ति ही अपने समाज की रक्षा कर सकता है, स्वतन्त्रता के बिना मनुष्य कठपुतली के समान रहता है, वह एक लोहे की मशीन के समान कार्य करता है। स्वतन्त्रता उन्नति की जननी है, स्वतन्त्र विचारों से चरित्रगठन होता है, नये विचार और सिद्धान्तों की उत्पत्ति होती है, अनुसन्धान को प्रोत्साहन मिलता है, मनुष्य अपने कष्ट और दुःख के निवारण के लिए नये-नये आविष्कार करता है और इस प्रकार अपने वातावरण पर विजय प्राप्त करना सीखता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वाधीनता, सामाजिक व्यवस्था का मौलिक सिद्धान्त है। यह वह परिस्थिति है जो मनुष्य के नैतिक विकास को सम्भव बनाती है और समाज की उन्नति करती है। स्वाधीनता का अधिकार समाज के प्रत्येक सदस्य को होना चाहिये। इसमें छोटे और बड़े, गरीब और अमीर, पढ़े-लिखे और मूर्ख का विचार नहीं करना चाहिये। स्वतन्त्रता से व्यक्तित्व का विकास होता है और यह विकास प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक है।

§ २. स्वतन्त्रता का वर्गीकरण
(Classification of Liberty)

स्वतन्त्रता मौलिक सिद्धान्त है, इसके अन्तर्गत अनेक प्रकार की स्वतन्त्रताएँ सन्निहित हैं—नागरिक स्वतन्त्रता, राजनीतिक स्वतन्त्रता, भाषण-स्वतन्त्रता, चलने-फिरने की स्वतन्त्रता, सार्वजनिक सभा करने की स्वतन्त्रता, संगठन की स्वतन्त्रता, पत्र प्रकाशित करने की स्वतन्त्रता, विचार की स्वतन्त्रता, व्यावसायिक स्वतन्त्रता, सामाजिक स्वतन्त्रता, राष्ट्रीय-स्वतन्त्रता, आर्थिक स्वतन्त्रता, आत्मा की स्वतन्त्रता इत्यादि सारी ही स्वतन्त्रताएँ इसी एक सिद्धान्त के अन्तर्गत समावेश करती हैं।

नागरिक स्वतंत्रता (Civic Liberty)—इस स्वतन्त्रता का अर्थ राज्य के अथवा अन्य मनुष्यों के अनुचित हस्तक्षेप से मनुष्य के नागरिक अधिकारों की रक्षा है। इस स्वतन्त्रता के अन्तर्गत जीवन, भाषण, सार्वजनिक सभा, संगठन, धर्म और विचार की स्वतन्त्रताएँ सन्निहित हैं।

भाषण-स्वतंत्रता (Freedom of Speech)—सार्वजनिक प्रश्नों पर किसी व्यक्ति को अपना मत प्रकट करने की स्वाधीनता का नाम भाषण-स्वतन्त्रता है।

आत्मा की स्वतंत्रता (Liberty of Conscience)—संसार में किसी भी धर्म में विश्वास करने की स्वाधीनता को आत्मा की स्वतन्त्रता कहा जाता है। इस स्वतन्त्रता के अन्तर्गत पूजा की स्वतन्त्रता और धर्म का प्रचार करने की स्वतन्त्रता भी शामिल है।

पत्र प्रकाशित करने की स्वतंत्रता (Liberty of Press)—इस स्वतन्त्रता का अर्थ देश में बिना किसी विशेष नियन्त्रण के समाचार-पत्रों का प्रकाशित करना है। ऐसा करने में देश के साधारण नियम ही लागू होने चाहिये, कोई विशेष नियम नहीं।

चलने-फिरने की स्वतंत्रता (Freedom of Movement)—इस स्वतन्त्रता का अर्थ मनुष्य को अपनी इच्छानुसार देश के किसी भी भाग में यात्रा करने तथा निवास करने का अधिकार है।

संगठन की स्वतंत्रता (Freedom of Association)—इस स्वतंत्रता का अर्थ नागरिकों को न्यायोचित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संगठन निर्माण करने तथा उसमें सम्मिलित होने का अधिकार है।

राजनीतिक स्वतंत्रता (Political Liberty)—राजनीतिक स्वतंत्रता का अर्थ जनता का अपने शासन में भाग लेने का अधिकार है। इनके अन्तर्गत मत देने का अधिकार, सरकारी नौकरी प्राप्त करने का अधिकार तथा चुनाव में खड़े होने का अधिकार शामिल है।

आर्थिक अथवा व्यावसायिक स्वतंत्रता (Economic Liberty)—किसी मनुष्य का रीति-रिवाज अथवा हैसियत की श्रृंखलाओं को तोड़कर इच्छापूर्वक स्वतन्त्र व्यवसाय करने का अधिकार आर्थिक स्वतन्त्रता कहलाता है।

राष्ट्रीय स्वतंत्रता (National Liberty)—राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का अर्थ राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा आत्मनिर्णय का अधिकार है। किसी एक देश को दूसरे देश की स्वतन्त्रता तथा स्वाधीनता अपहरण करने का अधिकार प्राप्त नहीं। केवल स्वतन्त्र देश में ही मनुष्य अपने व्यक्तित्व तथा नागरिक जीवन के गुणों का विकास कर सकते हैं।

योग्यता प्रश्न

१. 'स्वाधीनता की सच्ची जड़ नियम और व्यवस्था है।' इस पर प्रकाश डालिये। (यू० पी०, १९२८)

२. 'जीवन, स्वाधीनता और हित-साधन की कामना मनुष्य के अविच्छिन्न अधिकार हैं' इस पर प्रकाश डालिये। (यू० पी०, १९२९)

३. आप समानता और स्वाधीनता शब्दों से क्या समझते हैं ? (यू० पी०, १९३२)

४. आप स्वाधीनता और समानता शब्दों से क्या समझते हैं ? उनके विभिन्न अर्थों पर प्रकाश डालिये। (यू० पी०, १९३४)

५. स्वाधीन होना मनुष्य का अधिकार है। आज्ञा-पालन करना मनुष्य का कर्तव्य है। क्या इन मतों के बीच में किसी प्रकार का संघर्ष है ? (यू० पी०, १९३६)

६. आधुनिक समाज में कानून और स्वाधीनता की परस्पर विरोधी मांगें किस प्रकार पूर्ण की जाती हैं ? (यू० पी०, १९३९)

७. स्वाधीनता की परिभाषा करो। "स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए आत्म-संयम आवश्यक है" सिद्ध करो। (यू० पी०, १९४१)

८. इस मत को समझाइए कि कानून स्वाधीनता का सच्चा आधार है। (यू० पी०, १९४०)

९. क्या स्वतंत्रता और कानून साथ-साथ चल सकते हैं ? इन विषयों से आप क्या समझते हैं—भाषा की स्वतंत्रता, मुद्रण की स्वतंत्रता। (यू० पी०, १९४३)

१०. आप 'स्वतंत्रता' और 'समानता' से क्या समझते हैं ? व्याख्या करें। (यू० पी०, १९४६)

११. स्वतंत्रता की शुद्ध परिभाषा दें और उसका सम्बन्ध कानून से क्या है ? सिद्ध करें। (यू० पी०, १९४७)

१२. "न्याय स्वतंत्रता का सहचर है," इस कथन की व्याख्या कीजिए। राजनीतिक और नागरिक स्वतंत्रता का विश्लेषण कीजिए। (यू० पी०, १९५०; पंजाब, १९५०)

१३. 'सरकार हमारी स्वाधीनता की किस प्रकार रक्षा करती है'? यदि सरकारी प्रबन्ध न हो तो क्या स्वाधीनता कायम रह सकती है? (यू० पी०, १९५१)

१४. कानून और स्वतंत्रता पर संक्षिप्त नोट लिखो। (यू० पी०, १९५३)

समानता का अर्थ यह कदापि नहीं कि सब मनुष्यों को एक ही प्रकार की शिक्षा प्रदान की जाय, या उनको एक-सी ही नौकरी दी जाय। पीतल को किसी भी प्रकार सोना नहीं बनाया जा सकता, इसी प्रकार मनुष्यों में जो बुद्धि अथवा प्राकृतिक स्वभाव की असमानताएँ है, उनको दूर नहीं किया जा सकता। किसी देश की सरकार अपने नागरिकों से यह नहीं कह सकती कि वह एक ही मात्रा में खाना खायें, एक-सी ही पोशाक पहनें, एक ही स्कूल या कालेज मे पढ़ें, एक ही नगर में निवास करें। समानता इन चीजों में विद्यमान नही रहती। समानता का सच्चा अर्थ है, प्रत्येक नागरिक को समान अधिकारों की प्राप्ति। मनुष्य अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए कुछ अवसर चाहता है। यह अवसर उसे राज्य द्वारा अधिकारों के रूप में प्रदान किये जाते हैं। राज्य का कर्तव्य है कि वह इन अवसरों के प्रदान करने में छोटे और बड़े, गरीब और अमीर, स्त्री और पुरुष में भेदभाव न करे। दूसरे शब्दों में समानता का अर्थ सामाजिक निष्पक्षता है। वर्तमान समाज में हमें अनेक प्रकार की असमानताएँ देखने को मिलती हैं। उदाहरणार्थ भारतीय महिलाओं को पुरुषों के समान अपने सुख की प्राप्ति के लिए सुविधाएँ प्रदान नहीं की जाती। स्वभावतया इससे उनका शारीरिक तथा मानसिक विकास नहीं हो पाता। इसी प्रकार निर्धन लड़कों के पास इतना धन नहीं होता कि वह अच्छी तरह से विद्याध्ययन कर सकें। सम्भव है कि ऐसे बालकों में मिल्टन जैसा मस्तिष्क और शेक्सपियर जैसी भावुकता हो; परन्तु शिक्षा के अभाव से वह अपनी बुद्धि का विकास नहीं कर पाते। न जाने और कितने ऐसे ही लोग समाज की असमानता का शिकार बनकर, अपने व्यक्तित्व के विकास से वंचित रह जाते है। समाज का धर्म है कि वह इस प्रकार की असमानताओं का अन्त करके सभी मनुष्यों को आत्मोन्नति करने के लिए समान सुविधाएँ प्रदान करे। इन सुविधाओं को प्रदान करने में मनुष्य के वर्ण, जाति, सिद्धान्त, लिंग अथवा पेशे का ध्यान नहीं करना चाहिए। सभी मनुष्यों को समान सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए।[1]

समानता के सिद्धान्त में नकारात्मक (Negative) और सकारात्मक (Positive) दोनों स्वरूप शामिल हैं। नकारात्मक रूप (Negative) का अर्थ है सामाजिक विशेषाधिकारों का अन्त अर्थात् जन्म, वर्ण जाति अथवा पेशे के कारण मनुष्यों में किसी भी प्रकार के भेद-भाव का अन्त। सकारात्मक रूप (Positive) का अर्थ है प्रत्येक मनुष्य को अपने अधिकाधिक विकास के लिए पर्याप्त अवसर प्रदान करना; दूसरे शब्दों में प्रत्येक मनुष्य को बराबर के अधिकार देना। इस प्रकार हम देखते हैं कि समानता का अर्थ स्वतन्त्रता की भाँति ही व्यापक है।

समानता का वर्गीकरण (Classification of Equality)

समानता के अधिकार को हम निम्न श्रेणियों में विभाजित कर सकते है :—

---

[1] According to Laski, "Equality means absence of all special privileges. In the Second place it means that adequate opportunities are laid open to all."

(१) **सामाजिक समानता**—(Social Equality)—इस धारणा का अर्थ है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को बराबर के सामाजिक अधिकार प्राप्त होने चाहिए। कुछ काल पहले तक हमारे देश में करोड़ों हरिजन भाइयों को वही सामाजिक अधिकार प्राप्त नहीं थे जो दूसरे उच्च वर्णवाले हिन्दुओं को दिये जाते थे। हरिजनों को उन स्कूलों में पढ़ने का अधिकार प्राप्त नहीं था जिसमें ब्राह्मण, वैश्य अथवा क्षत्रियों के बच्चे पढ़ते थे, उन्हें ऊँची जातिवाले हिन्दुओं के कुओं से पानी भरने का अधिकार नहीं दिया जाता था; उन्हें कुछ नीच प्रकार के पेशे छोड़ कर किसी प्रकार के व्यवसाय करने की स्वतन्त्रता नहीं थी। कुछ सूबों में तो उनकी परछाई मात्र से ही मनुष्य की पवित्रता नष्ट हो जाती थी। हरिजनों की भाँति स्त्रियों को भी पुरुष के समान अधिकार नहीं दिये जाते थे। उन्हें घर की चहारदीवारी में ही बन्द रखा जाता था। इसी प्रकार की सामाजिक असमानताओं से समाज का संगठन ढीला पड़ जाता है और देश अवनति की ओर जाने लगता है। इसलिए नये संविधान के अंतर्गत इन असमानताओं को दूर कर दिया गया है।

(२) **नागरिक समानता** (Civic Equality)—इस अधिकार का अर्थ है कि कानून या विधि की दृष्टि में समाज में प्रत्येक व्यक्ति को बराबर के अधिकार प्राप्त होने चाहिए। कानून की अदालत में बड़े और छोटे, अमीर और गरीब, ऊँच और नीच, अफसर और मातहत—किसी में भेद-भाव नहीं करना चाहिये। न्याय केवल ऐसे ही समाज में हो सकता है जो नागरिक समानता की धारणा पर अवलम्बित हो।

(३) **राजनीतिक समानता** (Political Equality)—जनता के प्रत्येक सदस्य को राज्यकार्य में बराबर का भाग लेने, अर्थात् वोट देने, सरकारी नौकरी प्राप्त करने तथा चुनाव में खड़े होने का अधिकार, राजनीतिक समानता का अधिकार कहलाता है। किसी जाति या श्रेणी विशेष के मनुष्यों के हाथ में राजनीतिक सत्ता का केन्द्रीकरण नहीं होना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य को केवल एक ही मत देने का अधिकार होना चाहिये, एक से अधिक नहीं। राज्य सब की भलाई के लिए है, उसकी व्यवस्था में सब का समान हाथ होना चाहिए।

(४) **शिक्षा प्राप्त करने की समानता** (Educational Equality)—इस धारणा का यह अर्थ कदापि नहीं कि समाज के प्रत्येक सदस्य को एक ही प्रकार की और एक ही संस्था में शिक्षा मिलनी चाहिए। इस अधिकार का अर्थ है कि समाज के किसी भी व्यक्ति को उसके जन्म, जाति अथवा धनाभाव के कारण शिक्षा से वंचित न रखा जाय। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यतानुसार ऊँची निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिये। शिक्षा अच्छे सामाजिक जीवन की कुंजी है और इसलिए समाज के प्रत्येक व्यक्ति को ही अच्छी से अच्छी शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए।

(५) **आर्थिक समानता** (Economic Equality)—आधुनिक काल में, संसार के प्रायः सभी सभ्य देशों में राजनीतिक, सामाजिक तथा नागरिक समानता स्थापित करने की चेष्टा की जा रही है। परन्तु आर्थिक समानता ऐसा गहन विषय है जिसके अर्थ के सम्बन्ध में राजनीतिज्ञों में अनेक मतभेद हैं और जिसकी स्थापना रूस को छोड़कर,

संसार के किसी दूसरे देश में अब तक नहीं हो सकी है। कुछ काल पहले तक राजनीतिक लेखकों का विचार था कि प्रजातन्त्रात्मक शासन की स्थापना आर्थिक समानता के बिना भी हो सकती है। उनके विचार में एक प्रजातन्त्रवादी शासन की पहचान केवल यही थी कि जनता के प्रत्येक सदस्य को राय देने का अधिकार प्राप्त हो तथा सामाजिक क्षेत्र में सब मनुष्य समान अधिकार रखते हों। वह आर्थिक समानता पर जोर नहीं देते थे।

उन्नीसवीं सदी के मध्य में राजनीतिक नेताओं के हृदय में यह धारणा उत्पन्न हुई कि आर्थिक समानता के बिना प्रजातन्त्रवादी शासन केवल एक ढकोसला है। राय देने का अधिकार गरीब और भूखे व्यक्ति के लिए किसी प्रकार का भी मूल्य नहीं रखता ऐसे व्यक्ति के लिए चुनाव में खडे होने का प्रश्न तो दूर रहा, वह स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी राय का उपयोग भी नहीं कर सकता। भूखे और अतृप्त वोटरों की राय खरीदने में धनिकों को अधिक प्रयत्न की आवश्यकता नहीं पडती; जहाँ दो-चार सिक्कों का प्रलोभन दिया और गरीबों की राय उनके हक में पडने लगी। जिन चुनावों में लाखों रुपयों के खर्च का प्रश्न हो और जहाँ समाचार-पत्रों को केवल रुपये की शक्ति से ही अपने हक में किया जा सके, वहाँ गरीब जनता के प्रतिनिधियों के चुनाव में खडे होने का सवाल ही नहीं उठता। इसलिए वास्तविक प्रजातन्त्रवादी शासन में आर्थिक असमानता और राजनीतिक अधिकार साथ-साथ नहीं चल सकते। जिस देश में एक ओर लोग ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं में रहकर *विलासिता का जीवन व्यतीत करते हों, और दूसरी ओर उनके भाई एडी से चोटी तक का* जोर लगाकर भी अपना पेट न भर सकते हों, वहाँ प्रजातन्त्रवादी शासन सफल नहीं हो सकता। गरीबी नैतिक पतन की माँ है। सरकार को चाहिये कि आर्थिक असमानता को अधिक से अधिक दूर करे। समाजवादी भी इसी सिद्धान्त की दुहाई देते हैं। उनका कहना है कि किसी भी देश में प्रजातन्त्रवादी शासन की स्थापना उस समय तक नहीं हो सकती जब तक देश में आर्थिक समानता का अधिकार जनता को प्राप्त न हो।

परन्तु यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि आर्थिक समानता का अर्थ धन का बराबर-बराबर बँटवारा नहीं, वरन् प्रत्येक मनुष्य का मेहनत करने के पश्चात् सरकार से न्यूनतम वेतन प्राप्त करने का अधिकार है। सरकार की ओर से इस बात का प्रबन्ध होना चाहिये कि जनता के किसी भी सदस्य को काम की कमी के कारण खाली न बैठना पडे; उसे रोजगार मिल सके और दिन भर परिश्रम के पश्चात् उसे कम से कम इतना वेतन अवश्य मिले कि वह अपना और अपने बच्चों का भरण-पोषण कर सके। आर्थिक समानता के अतर्गत प्रत्येक मनुष्य को अपनी इच्छानुसार किसी भी प्रकार का व्यवसाय करने का अधिकार भी सन्निहित है। समाज के किसी भी मनुष्य को उसके धर्म, जाति अथवा सम्प्रदाय के कारण किसी प्रकार का व्यवसाय करने से नहीं रोकना चाहिए।

समानता तथा स्वतंत्रता में सम्बन्ध—(Relationship between Equality and Liberty)

कुछ राजनीतिक लेखकों का विचार है कि समानता और स्वतन्त्रता—दोनों पार-

णाएँ—एक दूसरे की परस्पर विरोधी हैं। उनके विचार से स्वतन्त्रता के साथ समानता का समावेश नहीं हो सकता क्योंकि स्वतन्त्रता नियंत्रण की विरोधी और समानता नियंत्रण की संगिनी है। यह विचार स्वतन्त्रता के गलत अर्थ अर्थात् 'नियंत्रण के अभाव' की धारणा पर अवलंबित है। वास्तव में जैसा हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, स्वतन्त्रता का अर्थ नियंत्रण का अभाव नहीं वरन् अधिकारों की रक्षा है। समानता के अन्तर्गत भी मनुष्य के अधिकारों का समावेश होता है, इसलिए ये दोनों धारणाएँ एक दूसरे की विरोधी नहीं वरन् पूरक हैं। वास्तव में सच्ची समानता स्वतन्त्रता की नींव पर ही खड़ी हो सकती है। जिस मनुष्य के पास खाने को अन्न तथा पहनने को कपड़ा नहीं, वह किस प्रकार स्वतंत्र जीवन व्यतीत कर सकता है? स्वतंत्रता केवल उसी समय कायम रह सकती है जब समाज के सभी सदस्यों को अपने व्यक्तित्व का विकास करने के लिए बराबर के अवसर प्राप्त हों। जिस समाज में एक ओर धन से उन्मत्त पूँजीपति और दूसरी ओर भूख से पीड़ित जनता रहती हो वहाँ किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता कायम नहीं रह सकती।

समानता की आवश्यकता (Necessity of Equality)

समानता व्यक्तिगत हित और सामाजिक स्थिरता—दोनों के लिए आवश्यक है। कोई व्यक्ति अपनी आत्मोन्नति उस समय तक नहीं कर सकता जब तक उसे समाज के दूसरे सदस्यों की भाँति नागरिक तथा राजनीतिक अधिकार प्राप्त न हों। गरीब के बच्चे में शेक्सपियर और कालीदास जैसी प्रतिभा हो सकती है परन्तु यदि उसे उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अवसर ही न दिया जाय और सारी उम्र उसे कमाने के धंधे से ही फुरसत न मिले, तो वह अपनी प्रतिभा का किस प्रकार विकास कर सकता है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उन्नति करने के लिए समान अवसर मिलने चाहिये। समानता व्यक्ति के हितसाधन के लिए ही नहीं समाज के संगठन को दृढ़ बनाने के लिए भी आवश्यक है। कोई भी समाज जिसके अधिकतर सदस्य अपने व्यक्तित्व का विकास न कर सकते हों, अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकता। असमानता समाज में क्रान्ति की जड़ है, इसके द्वारा देश में अनेक प्रकार के विद्रोह खड़े हो जाते हैं, इसलिए सामाजिक संगठन की पुष्टि के लिए भी यह आवश्यक है कि समाज समानता के सिद्धान्त की नींव पर खड़ी हो।

योग्यता प्रश्न

१. कहा जाता है कि समानता का सिद्धान्त एकदम मूर्खतापूर्ण है। इस विषय में आपका क्या मत है? (यू० पी०, १९२९)

२. समानता के अधिकार को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है?

३. समानता शब्द का प्रयोग किन-किन अर्थों में किया जाता है? समझाइये।

४. मनुष्यों के अधिकाधिक लाभ के लिए आर्थिक समानता की आवश्यकता बतलाइए।

५. समानता के अधिकार का वास्तविक स्वभाव क्या है ? साधारण मनुष्य उसके समझने में किस प्रकार की गलती करता है ?

६. आप समानता और स्वाधीनता शब्दों से क्या समझते हैं ? (यू० पी०, १९३२ १९३४, १९४६)

७. आप समानता शब्द से क्या समझते हैं ? क्या समाज के सब लोगों में समानता स्थापित करना उचित है ? किस भाव में समानता प्राप्त करना सम्भव है ? (यू० पी०, १९३८)

८. "प्रजातंत्र शासन का मूल सिद्धान्त है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में अधिक-से-अधिक उन्नति करने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए," समझाइए। (यू० पी०, १९४३)

९. विभिन्न प्रकार की समानता का वर्णन करो। "समानता की भावना स्वाधीनता के सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है वरन् उसकी पूरक है।" क्या आप इससे सहमत हैं ? (यू० पी०, १९४४)

१०. समानता शब्द को समझाइए और सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में उसके उपयोग की जाँच कीजिये। (यू० पी०, १९५२; पंजाब, १९५२)

११. समानता की परिभाषा देते हुए समझाइए कि समानता और स्वतन्त्रता में क्या सम्बन्ध है ? (यू० पी०, १९५५; पंजाब, १९५५)

१२. स्वतंत्रता की व्याख्या कीजिए। इसका समानता से क्या सम्बन्ध है ? (यू० पी०, १९५७)

अध्याय १०

राज्य और उसके तत्व

(State and its Elements)

राज्य का अर्थ (Meaning of State)

समाज के समान राज्य भी मानव-जीवन की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्था है। राज्य के सुप्रवन्ध पर ही किसी देश की जनता का सुख और उन्नति निर्भर रहती है। राज्य के प्रवन्ध के विना समाज में अराजकता फैल जाती है और किसी भी प्रकार की व्यवस्था तथा नियन्त्रण नहीं रहता। आधुनिक काल में मनुष्य के सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में राज्य कुछ न कुछ भाग अवश्य लेता है। हमारे जीवन का आजकल शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र हो जिसमें राज्य क्रियात्मक रूप से हस्तक्षेप न करता हो। व्यापार, शिक्षा, स्वास्थ्य, विदेश-यात्रा, कला-कौशल, आने-जाने के साधन, सफाई, अस्पताल, शिशु गृह, आमोद-प्रमोद के सामान अर्थात् जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ही राज्य कुछ न कुछ भाग अवश्य लेता है। प्राचीन काल में राज्य का इतना अधिक महत्त्व नहीं था जितना आधुनिक काल में है। आजकल समाजवाद की प्रगति के कारण, राज्य मनुष्य समाज का सबसे अधिक शक्तिशाली तथा महत्त्वपूर्ण संगठन बन गया है।

राज्य की परिभाषा—दुर्भाग्यवश राजनीतिक विद्वान् राज्य शब्द की परिभाषा के सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं। एक प्रसिद्ध जर्मन राजनीतिक का कहना है, 'राज्य शब्द की उतनी ही परिभाषाएँ हैं जितने राजनीतिक विद्वान् के लेखक।' राज्य के मूल तत्त्व तथा उद्देश्य के बारे में भी लोगों में भारी मतभेद है, उदाहरणार्थ यदि कुछ लोग राज्य को ईश्वर के समान पवित्र तथा शक्तिशाली संगठन मानते हैं तो दूसरे उसे कुछ धनीमानी तथा समृद्ध व्यक्तियों द्वारा गरीब जनता के शोषण का साधन मानते हैं। कुछ लोग राज्य को शक्ति का प्रतीक मानते हैं तो दूसरे उसे जनता की भलाई का एक आवश्यक संगठन। सर्वप्रथम इसलिए हम राज्य के सम्बन्ध में विभिन्न परिभाषाओं तथा धारणाओं का विवेचन करेंगे।

राजनीति के महान् पंडित अरस्तू ने राज्य की परिभाषा करते हुए लिखा है, "राज्य कुटुम्बों तथा ग्रामों का एक समुदाय है जिसका लक्ष्य पूर्ण तथा आत्म-निर्भर जीवन है।"[1] अरस्तू की इस परिभाषा में केवल तत्कालीन स्थिति का वर्णन कराया गया है।

---

१. "The State is a union of families and villages having for its end a perfect and self-sufficing life, by which we mean a happy and honourable life." (Aristotle)

अंग्रेज विधानवेत्ता हालैण्ड ने राज्य की परिभाषा इस प्रकार की है "राज्य बहुत से ऐसे मनुष्यों का समुदाय है जो किसी निश्चित भू-भाग के स्वामी हों तथा जिस में बहुसख्यक दल या एक निश्चित वर्ग का मत उन व्यक्तियो द्वारा भी माना जाय जो उसका विरोध करते हो ।"[१] इस परिभाषा में राज्य की संप्रभुता का उल्लेख नही है, इसलिए इसे स्वीकार नही किया जाता ।

वुडरो विल्सन ने राज्य की परिभाषा करते हुए लिखा है : "किसी निश्चित भू-भाग में शान्तिमय जीवन के लिए सगठित जनता को राज्य कहा जाता है ।"[२] इस परिभाषा में भी राज्य की सप्रभुता का उल्लेख नही किया गया है।

ब्लंश्ली के मतानुसार "राज्य किसी भू-भाग के राजनीतिक रूप से सगठित जनसमुदाय का नाम है ।"[३] लीकाक की राज्य परिभाषा भी बहुत कुछ इसी से मिलती-जुलती है। उसका कहना है "राज्य एक निश्चित भू-भाग में जनता द्वारा कानून की स्थापना के लिए सगठित समूह का नाम है ।"[४]

राज्य की सबसे सुन्दर परिभाषा गारनर की मानी जाती है। उसके मतानुसार "राज्य मनुष्यो के उस बहुसख्यक समुदाय या सगठन का नाम है जो एक निश्चित भू-भाग में रहता है, जिसकी ऐसी सगठित सरकार है जो बाहरी नियत्रण से पूर्ण स्वतंत्र या स्वतत्रप्राय है तथा जिसकी आज्ञा का पालन अधिकाश जनता स्वभाव से करती है ।[५]

गारनर की यह परिभाषा सर्वश्रेष्ठ इसलिए मानी जाती है क्योंकि वह राज्य के चार आवश्यक तत्व—(१) जनसमूह, (२) भूमि, (३) शासन, तथा (४) सप्रभुता को मानती है। आधुनिक काल में राज्य की सज्ञा उन्ही देशो को दी जाती है जिनमें यह चारो तत्व विद्यमान हो। इनमें से एक तत्व के अभाव में भी राज्य का अस्तित्व स्थिर

---

१. "The State is a numerous assemblage of human beings generally occupying a certain territory, among whom the will of majority or an ascertainable class of persons is by the strength of such a majority or class made to prevail against any of their numbers who oppose it." (Holland)

२. "The State is a people, occupying a definite territory and having after its aim an organised peaceful living." (Woodrow Wilson)

३. "The State is the politically organised people of a definite territory." (Bluntschlli)

४. "The State is a people orgnised for law within a definite territory." (Leacocke)

५. "The State is a community of persons, more or less numerous, permanently occupying a definite portion of territory, independent or nearly so of external control and possessing an organised government to which the great body of inhabitants render habitual obedience." (Garner)

नहीं रह सकता। उदाहरणार्थ हम काश्मीर या हैदराबाद या किसी नगरपालिका को राज्य नहीं कह सकते क्योंकि उन्हें संप्रभुता प्राप्त नहीं है।

राज्य के आवश्यक तत्व

राज्य की उपरोक्त समस्त परिभाषाओं के अध्ययन से निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक राज्य में निम्नलिखित चार तत्वों का होना अनिवार्य है :—

(१) जनसंख्या (Population)
(२) भूमि (Territory)
(३) शासन (Government)
(४) संप्रभुता (Sovereignty)

(१) जनसंख्या—राज्य का सबसे प्रथम तथा सबसे आवश्यक अंग जनता है। पशु या पक्षियों के संगठन से राज्य की स्थापना नहीं होती। मनुष्यों के राजनीतिक संगठन को ही राज्य कहते हैं। किसी एक राज्य में मनुष्यों की कितनी संख्या होनी चाहिए, इसका कोई परिमाण नहीं है। राज्य में थोड़े भी सदस्य हो सकते हैं और बहुत अधिक भी। चीन राज्य में ६० करोड़ जनता की आबादी है तो स्विट्जरलैण्ड में केवल ४० लाख आदमियों की और लुक्षमवर्ग तथा लोशैंशटीन राज्यों में केवल ८ या १० लाख की। परन्तु यह बात बिलकुल साफ है कि १०० या ५० आदमियों के संगठन से राज्य की स्थापना नहीं हो सकती, क्योंकि इतनी थोड़ी आबादी में राज्य के दूसरे आवश्यक अंग नहीं मिल सकते। किसी राज्य की जनसंख्या जितनी अधिक होगी तथा उसके प्राकृतिक साधन जितने अधिक सम्पन्न होंगे, राज्य उतना ही अधिक शक्तिशाली होगा। आधुनिक काल में आवागमन के साधनों की सुगमता के कारण राज्यों की सीमाएँ बढ़ रहीं हैं तथा उनकी जनसंख्या भी अधिक हो रही है। वर्तमान काल में केवल वही राज्य सम्मानित तथा भयहीन जीवन व्यतीत कर सकते हैं जिनकी जनसंख्या पर्याप्त हो।

(२) भूमि—राज्य का दूसरा आवश्यक अंग भूमि है। भूमि अर्थात् किसी निश्चित स्थान के बिना मनुष्यों का समूह राज्य नहीं कहा जा सकता। यहूदी लोग कुछ दिनों पहले तक दुनिया के चारों कोनों में फैले हुए थे, परन्तु फिर भी भूमि के अभाव के कारण वह अपना राज्य स्थापित नहीं कर पाये थे। परन्तु अब भूमि पर अधिकार हो जाने से वह राज्य बन गये हैं।

राज्य की सीमा के अन्तर्गत जितने मनुष्य रहते हैं अथवा जन्म लेते हैं, राज्य का उन सब पर अधिकार रहता है। उन्हें राज्य के नियमों का पालन करना पड़ता है, उसके लिए युद्ध में लड़ना पड़ता है, टैक्स देना पड़ता है तथा उसकी आज्ञाओं का पालन करना पड़ता है।

आबादी की भाँति, किसी राज्य की भूमि का क्षेत्रफल कितना होना चाहिए इसका भी कोई निश्चित नियम नहीं है। क्षेत्रफल कम भी हो सकता है और अधिक भी; परन्तु आबादी की भाँति अधिक क्षेत्रफल तथा प्राकृतिक साधनों की बहुतायत राज्य-शक्ति के लिए आवश्यक है। एक और भी बात का वर्णन कर देना यहाँ आवश्यक प्रतीत

होता है और वह यह कि किसी राज्य की सीमा देश की प्राकृतिक सीमा से मिलती-जुलती होनी चाहिए, जिससे राज्य के प्रबन्ध तथा देश की रक्षा के कार्य में सुगमता हो।

(३) शासन—आबादी और भूमि के पश्चात्, राज्य की स्थापना के लिए राजनीतिक संगठन अर्थात् एक सरकार की आवश्यकता पड़ती है। राज्य और सरकार का अटूट संबंध है। सरकार की स्थापना के साथ राज्य की स्थापना होती है। सरकार के प्रबन्ध के टूट जाने से राज्य छिन्न-भिन्न हो जाता है। देश में अराजकता फैल जाती है। सरकार राज्य की आत्मा है। जिस प्रकार आत्मा के शरीर से अलग हो जाने पर, शरीर एक मिट्टी का ढेर हो जाता है, ठीक उसी प्रकार सरकार के बिना राज्य की व्यवस्था नहीं चल सकती। सरकार ही कानून बनाती है तथा देश में शान्ति और व्यवस्था कायम करती है।

राज्य में सरकार किस प्रकार की हो, इसके लिए भी कोई निश्चित नियम नहीं है। सरकार प्रजातन्त्रवादी भी हो सकती है और एकतन्त्रवादी भी। आवश्यकता केवल इस बात की है कि राजनीतिक संगठन समाज में शान्ति और व्यवस्था रख सके।

(४) संप्रभुता—अन्तत, राज्य संप्रभु संगठन है। संप्रभुता का अर्थ यह है कि राज्य पर कोई बाहरी शक्ति प्रभुत्व न रखे तथा राज्य के अन्तर्गत रहनेवाले प्रत्येक व्यक्ति तथा व्यक्तियों के समुदाय राज्य की आज्ञा का पालन करें। राज्य सबसे शक्तिशाली संगठन है। कोई राज्य केवल उसी समय स्वतंत्र कहा जा सकता है जब कोई बाहरी देश उस पर हुकूमत न करे तथा देश के अन्दर रहनेवाले हर प्रकार के लोग राज्य की आज्ञाओं का पालन करें। किसी देश में केवल राज्य ही पुलिस और फौज रख सकता है, कोई दूसरी संस्था नहीं।

§ १. राज्य तथा कुछ अन्य संस्थाओं में भेद

(State and other Associations)

राज्य शब्द का प्रयोग अधिकतर अनिश्चित, अस्पष्ट तथा संदिग्ध रूप में किया जाता है। बहुत बार इसे समाज, राष्ट्र अथवा सरकार का पर्यायवाची मान लिया जाता है परन्तु वास्तव में यह सब शब्द एक दूसरे से पूर्णतः भिन्न हैं। अब हम राज्य तथा संस्थाओं का भेद समझायेंगे।

राज्य और समाज में अन्तर (Difference between State and Society)

(१) समाज से उन मनुष्यों का बोध होता है जो एक दूसरे के साथ सामाजिक बन्धन में रहते है। इसके विपरीत राज्य समाज की वह व्यवस्था है जिसके द्वारा समाज में शान्ति और व्यवस्था कायम की जाती है।

(२) समाज के अधिकार में कोई भूमि नहीं रहती। वह तो केवल मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध पर निर्भर रहता है, इसलिए समाज का क्षेत्र सारा संसार भी हो सकता है और एक परिवार भी। इसके विपरीत राज्य का अस्तित्व बिना किसी खास और

निश्चित भूमि के नहीं रह सकता। उसकी अपनी निज की सीमाएँ होती हैं। दूसरे किसी भी राज्य को उस पर सबल स्वामित्व करने का अधिकार नहीं होता।

(३) राज्य में विशिष्ट राजनीतिक व्यवस्था होती है जिसे शासन या सरकार कहा जाता है। समाज में किसी विशेष व्यवस्था की आवश्यकता नहीं पड़ती। उदाहरण के लिए जब हम शिकारियों के समाज की बातें करते हैं तब हम उस समाज की व्यवस्था का उल्लेख नहीं करते।

(४) राज्य अपनी आज्ञाओं का शक्ति के द्वारा पालन करा सकता है। समाज अपनी आज्ञा पालन कराने के लिए सिर्फ आग्रह कर सकता है। समाज के अन्तर्गत कोई सेना या पुलिस नहीं होती और इसीलिए उसे अपनी आज्ञाओं के पालन के लिए केवल जनता की सदिच्छा पर अवलम्बित रहना पड़ता है।

(५) समाज का क्षेत्र राज्य से कहीं विस्तृत होता है। राज्य समाज का केवल अंग विशेष है। यह समाज के अन्तर्गत दूसरे अनेक संगठनों के समान एक संगठन है।

राज्य और संघ में अन्तर (Difference between State and Association)

कभी-कभी समाज शब्द का प्रयोग एक और अर्थ में किया जाता है, अर्थात् मनुष्यों के उस संगठन के रूप में जिसकी व्यवस्था समान उद्देश्य की उन्नति के लिए की जाती है। वास्तव में ऐसे संगठनों को नागरिकशास्त्र में हम संघ कहते हैं, समाज नहीं।

संघ और राज्य के संगठन में निम्नलिखित अन्तर होते हैं —

(१) राज्य की सदस्यता आवश्यक है। हर एक नागरिक को किसी न किसी राज्य का सदस्य अवश्य बनना पड़ता है, परन्तु संघ की सदस्यता ऐच्छिक है। मनुष्य किसी भी संघ का सदस्य बनने से इन्कार कर सकता है।

(२) राज्य का विस्तार एक विशेष सीमा के अन्तर्गत होता है। उसकी निश्चित सीमाएँ होती हैं। परन्तु संघ सारे संसार में भी फैल सकता है। आधुनिक काल में कितने ही संघ अन्तर्राष्ट्रीय होते हैं, जैसे कम्यूनिस्ट इन्टरनेशनल, वर्ल्ड फेडरेशन ऑफ लेबर इत्यादि।

(३) एक मनुष्य एक समय में एक से अधिक संघों का सदस्य हो सकता है, परन्तु वह एक समय में एक राज्य से अधिक राज्यों का सदस्य नहीं रह सकता।

(४) संघ किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनाया जाता है, जैसे शिक्षा-प्रसार अथवा मनोरंजन अथवा राजनीति में भाग लेने के लिए। परन्तु राज्य अनेक कर्तव्यों की पूर्ति करता है। वह शिक्षा, स्वास्थ्य, शान्ति, कला-कौशल, कारखाने तथा इसी प्रकार के अनेक दूसरे काम एक साथ ही करता है।

(५) राज्य स्थायी संस्था है परन्तु अधिकतर संघों का अस्तित्व अस्थायी रहता है। संघों का उस समय लोप हो जाता है जब उनके उस उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है जिसके लिए उनका जन्म हुआ था। उदाहरण के लिए यदि किसी बाढ़-सहायक समाज की स्थापना की जाय तो बाढ़-सहायक कार्यों के समाप्त हो जाने पर उसके अस्तित्व का अन्त हो जाता है।

(६) राज्य नागरिकों पर कर लगा सकता है जो प्रत्येक नागरिक को बल-पूर्वक देने पड़ते हैं। संघ इसके विपरीत केवल चंदे वसूल कर सकता है।

(७) नागरिकों के लिए राज्य की आज्ञा का पालन करना अनिवार्य है। यदि कोई मनुष्य राज्य के कानूनों को नही मानता तो उसे कानूनी अदालत द्वारा दण्ड दिया जा सकता है। परन्तु यदि वह संघों के नियमों का पालन नही करता तो केवल जनमत द्वारा उसकी निन्दा की जा सकती है। उसे कारावास का दण्ड नही दिया जा सकता।

(८) राज्य एक सप्रभु संस्था है। उसकी शक्ति अपरिमित है, परन्तु संगठनों की शक्ति राज्य के कानूनों या विधियो पर निर्भर रहती है।

राज्य और शासन में अन्तर—(Difference between State and Government)

शासन राज्य की वह मशीन या व्यवस्था है जिसके द्वारा उसके आदेशो का पालन होता है। वे सब कर्मचारी जो राज्य की इच्छा को व्यक्त करते हैं या उसका पालन कराते हैं, शासन में सम्मिलित समझे जाते हैं। दूसरे शब्दों में केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय संस्थाओं के कर्मचारी मिलकर सरकार कहलाते हैं। राज्य और शासन का अन्तर नीचे दिया जाता है :—

(१) राज्य में सभी नागरिक शामिल होते हैं, परन्तु शासन में केवल वही थोड़े से लोग सम्मिलित होते हैं जो सरकारी कामकाज मे सहायता देते है।

(२) राज्य स्थायी है और सरकार अस्थायी। सरकार दिन-प्रति-दिन या एक साल या इससे कुछ अधिक समय में बदल सकती है। उदाहरणार्थ हमारे देश में कांग्रेस के स्थान पर समाजवादी दल की सरकार बन सकती है या उसके स्थान पर साम्यवादी दल की। परन्तु राज्य कभी नहीं बदलता। राज्य केवल उसी समय बदल सकता है जब वह अपनी स्वाधीनता खो बैठे और किसी दूसरे शक्तिशाली राज्य के अधीन गुलाम हो जाय।

(३) राज्य अप्रत्यक्ष संस्था है, वह देखी नही जा सकती, उसका अनुभव किया जा सकता है। परन्तु सरकार प्रत्यक्ष संस्था है, उसे प्रत्येक मनुष्य अच्छी प्रकार देख सकता है। एक प्रकार से हम कह सकते हैं कि राज्य निराकार धारणा है और सरकार उसका एक साकार रूप।

(४) सरकार का स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है जैसे कुछ शासन प्रजातन्त्रात्मक, कुछ कुलीनतंत्र और कुछ राजतन्त्र होते हैं, परन्तु सब राज्य एक से ही होते हैं। उन सब में जनसंख्या, भूमि, सरकार तथा प्रभुत्व शक्ति वास करती है।

(५) राज्य प्रधान है और सरकार उसकी प्रतिनिधि। राज्य की शक्ति मौलिक तथा प्राथमिक होती है, सरकार की गौण तथा राज्य से ही प्राप्त की हुई।

(६) राज्य को सप्रभु अधिकार प्राप्त होते हैं। परन्तु सरकार केवल उन्ही अधिकारो का प्रयोग कर सकती है जो राज्य द्वारा प्रदान किये जाते हैं। इनअधिकारों की संख्या सीमित होती है। मनुष्यों के शासन के विरुद्ध अधिकार हो सकते हैं परन्तु राज्य के विरुद्ध नही।

क्या भारत तथा दूसरे स्वतंत्र उपनिवेश राज्य हैं ? (Are Dominions States ?)

कैनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, दक्षिण अफ्रिका, न्यूफाउन्डलैण्ड और आयरिश स्वतन्त्र राज्य १९३१ में स्वीकृत वेस्ट-मिनस्टर स्टैचूट के अधीन स्वतन्त्र औपनिवेशिक राज्य स्वीकार कर लिए गये थे। इन स्वतन्त्र उपनिवेशों में १९४७ के कानून के अधीन, भारत, सीलोन और पाकिस्तान को भी सम्मिलित कर लिया गया। अब मलाया तथा घाना (Ghana) राज्य भी इसके सदस्य हैं।

उपनिवेश ब्रिटिश राज्य के अन्तर्गत स्वतन्त्र और स्वशासित समाज हैं। उनके अधिकार समान हैं; वे किसी भी प्रकार एक दूसरे के अधीन नहीं हैं। वे अपनी आन्तरिक तथा वाह्य शासन-नीति का निश्चय स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकते हैं। वे सब समान रूप से कामनवेल्थ ऑफ नेशन्स या राष्ट्रमण्डल के स्वतंत्र सदस्य हैं। ब्रिटिश पार्लियामेन्ट को उपनिवेशों की पार्लियामेन्ट द्वारा स्वीकृत कानूनों को संशोधित करने या रद्द करने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। उपनिवेश चाहें तो राष्ट्रमण्डल से अलग भी हो सकते हैं। आयरलैण्ड ने ब्रिटिश साम्राज्य से प्रायः सभी सम्बन्धों का विच्छेद कर लिया है। सन् १९४९ के संशोधित कानून के मातहत अब कोई कामनवेल्थ राष्ट्र ब्रिटिश सम्राट् से भी सम्बन्ध विच्छेद कर सकता है। भारत तथा पाकिस्तान गणतन्त्र राज्य (Republic) होते हुए भी, राष्ट्रमण्डल के सदस्य हैं। वेस्टमिनस्टर स्टैचूट में यह भी कहा गया है कि उपनिवेशों के सम्बन्ध में ब्रिटिश पार्लियामेंट उस समय तक कोई कानून नहीं बना सकती जब तक ऐसा करने के लिए उपनिवेश ही स्वयं प्रार्थना न करे। ब्रिटिश पार्लियामेंट को किसी भी उपनिवेश के संविधान को बदलने या उसके दूसरे कानूनों को स्वीकार या अस्वीकार करने का अधिकार नहीं है। उपर्युक्त कारणों से स्पष्ट है कि उपनिवेश बिल्कुल स्वतन्त्र राष्ट्र हैं। इसलिए अधिकतर राजनीतिक विद्वानों की राय में उपनिवेशों को राज्य ही माना जाता है।

राज्य और राष्ट्र में अन्तर—(Difference between State and Nation)

बहुत से राजनीतिक विद्वान् राष्ट्र और राज्य शब्दों में भेद नहीं करते। इसका पता इस उदाहरण से चलता है कि जो सचमुच राज्यों का संघ है वह राष्ट्रों का संघ (United Nations) कहलाता है। वास्तव में राष्ट्र और राज्य पर्यायवाची शब्द नहीं, वरन् बिल्कुल भिन्न शब्द हैं।

राष्ट्र का सम्बन्ध भाव से है और राज्य का सम्बन्ध एक राजनीतिक संगठन के अस्तित्व से। राष्ट्र आध्यात्मिक भावना है और राज्य उद्देश्यपूर्ण व्यवस्था। मोटे तौर पर हम राष्ट्र और राज्य में निम्नलिखित भेद कर सकते हैं :—

(१) राज्य बिना सरकार के जीवित नहीं रह सकता, परन्तु राष्ट्र एक व्यवस्थित ज भी हो सकता है और अव्यवस्थित भी।

(२) राज्य संप्रभु संगठन है। वह अपने नागरिकों से बलपूर्वक अपनी आज्ञा न करा सकता है और बागियों को दण्ड दे सकता है, परन्तु राष्ट्र का आधार केवल

एक आध्यात्मिक भावना है। राष्ट्र के प्रति केवल वही व्यक्ति भक्ति-भाव रख सकता है जिसमें ऐसे भाव विद्यमान हो।

(३) राज्य के अन्तर्गत एक से अधिक राष्ट्र रह सकते हैं। उदाहरणार्थ यूगोस्लेविया, बलगेरिया इत्यादि देशों में अनेक राष्ट्रों के लोग रहते हैं। राष्ट्र बहुत से राज्यों में विभाजित हो सकता है जैसा पोल या यहूदी दुनिया के कई राष्ट्रों में फैले हुए हैं।

राज्य और देश में अन्तर (Difference between State and Country)

बहुत बार लोग राज्य और देश में अन्तर नही करते। वास्तव में यह दोनों शब्द बिल्कुल भिन्न हैं। देश भौगोलिक शब्द है, इससे राजनीतिक व्यवस्था का कोई सम्बन्ध नहीं है। देश में बहुत से राज्य शामिल हो सकते हैं। भारतवर्ष में आजकल इण्डिया और पाकिस्तान दो राज्य हैं। इसके अतिरिक्त एक राज्य बहुत से देशों में भी फैल सकता है जैसे इंगलैण्ड और रूस। साधारणतया राज्यों की व्यवस्था उनकी स्वाभाविक सीमाओं के अन्तर्गत ही होती है। इसी कारण बहुत से मनुष्य इन दोनो शब्दो में भेद नही करते।

२. राज्य की आवश्यकता
(Necessity of State)

राज्य की शक्ति का आधार पुलिस, फौज, कानूनी अदालत तथा जेलखाने हैं। इन शस्त्रो के द्वारा राज्य अपने नागरिकों को विशेष प्रकार का संयमित तथा व्यवस्थित जीवन व्यतीत करने के लिए मजबूर करता है। जो नागरिक राज्य के आदेशों का पालन न कर अपनी मनमानी करते हैं, राज्य उन्हें कारावास का दण्ड देता है, तथा कभी-कभी भीषण अपराधो के लिए मृत्यु-दण्ड भी देता है। प्रश्न उठता है कि मनुष्य राज्य की इन आज्ञाओं का क्यो पालन करता है, क्या वह बिना राज्य की संस्था के अपना जीवन सुखपूर्वक व्यतीत नही कर सकता? संसार का कोई भी मनुष्य जबर्दस्ती या दण्ड के भय के कारण काम नही करना चाहता। वह स्वेच्छा तथा स्वतन्त्र रूप से ही प्रत्येक कार्य को करना चाहता है। दण्ड के भय से काम करने में मनुष्य के स्वाभिमान, यश तथा उत्साह को भारी ठेस पहुँचती है। ऐसा मनुष्य सदा भय के चंगुल में ही फँसा रहता है और स्वतन्त्र रूप से सोचने तथा कार्य करने की शक्ति खो बैठता है। इन शक्तियों के लुप्त हो जाने से संसार की सभ्यता तथा संस्कृति को भारी ठेस पहुँचती है। भय और शक्ति के प्रयोग से केवल जनता पर ही बुरा असर नही पड़ता, शासक लोग भी इन अस्त्रों के प्रयोग से दुराचारी, स्वार्थी तथा जालिम बन जाते हैं। इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि राज्य तथा दंड संस्थाओं की आवश्यकता के विषय में हम निष्पक्ष रूप से विचार करें।

अराजकतावादियों का दृष्टिकोण (Anarchist view)

राजनीतिक विद्वानों का एक दल जिन्हें अराजक कहा जाता है, राज्य को मनुष्य के सुख और उसकी उन्नति का घातक मानता है। इन लोगों का कहना है कि मनुष्य

समाज में रहकर आदर्श जीवन केवल उस समय व्यतीत कर सकता है जब उसे किसी भी प्रकार के भय तथा आतंक का डर न हो। राज्य की शक्ति भयावह सिद्धान्त पर निर्भर है। शक्ति के प्रयोग से मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास नहीं होता, इसलिए राज्य को सामाजिक व्यवस्था से बिलकुल अलग कर देना चाहिए। मनुष्य स्वभाव से एक शान्ति-प्रिय, सहयोगी तथा प्रेमी जीव है। उसे उसका कर्तव्य बतलाने के लिए राज्य की शक्ति की आवश्यकता नहीं। उसे यदि स्वतन्त्र रहने दिया जाय तो वह अपने व्यक्तित्व का विकास तथा अपने राष्ट्र की अधिक सेवा कर सकता है। ऐसी दशा में मनुष्य संसार में स्वर्ग की स्थापना कर सकता है; क्योंकि स्वर्ग केवल उस जगह का नाम है जहाँ जीवन में सुख, सौन्दर्य तथा शान्ति का साम्राज्य हो और किसी भी प्रकार का भय, द्वेष, प्रतिस्पर्धा तथा कलह का वातावरण न हो। स्वर्ग प्रेम का प्रतीक है और राज्य शक्ति का और ट्रीटस्के के कथनानुसार "शक्ति अच्छे जीवन की शत्रु है।"

अराजकतावादियों के दृष्टिकोण की आलोचना

अनार्किस्ट लेखकों का उपरोक्त मत मनुष्य-स्वभाव की दो धाराओं पर अवलम्बित है। प्रथम यह कि संसार का प्रत्येक मनुष्य स्वभाव से देवता है, वह न किसी से झगड़ा करता है, न द्वेष रखता है, न बेईमानी करता है और न झूठ बोलता है; दूसरे यह कि मनुष्य के जीवन में स्वाभाविक सहयोग की भावना है। अर्थात् मनुष्य की पारस्परिक इच्छाओं में किसी प्रकार का संघर्ष नहीं है। यह दोनों मत वास्तविकता के दृष्टिकोण से बिल्कुल भ्रममूलक हैं। यह सच है कि मनुष्य में देवताओं जैसे गुण होते हैं, परन्तु इसके साथ ही प्रत्येक व्यक्ति में राक्षसी वृत्तियाँ भी होती हैं। वास्तव में संसार का प्रत्येक मनुष्य दैवी और दानवी दोनों गुणों का मिश्रण है। मनुष्य की दानवी अर्थात् राक्षसी प्रवृत्तियों को दबाने के लिए यह आवश्यक है कि उसको किसी न किसी प्रकार का भय अवश्य दिखाया जाय। दूसरे, मनुष्यों की बहुत-सी इच्छाएँ परस्पर-विरोधी होती हैं। एक मनुष्य एक वस्तु को पसन्द करता है, दूसरा उससे घृणा करता है; एक मनुष्य एक चीज को लेना चाहता है, दूसरा भी उसे प्राप्त करना चाहता है। ऐसे भिन्न-भिन्न तथा परस्परविरोधी इच्छावाले मनुष्यों में प्रायः संघर्ष हो जाता है और इस प्रकार समाज की शान्ति और व्यवस्था को भारी ठेस पहुँचती है। राज्य इस संघर्ष को दूर कर समाज में शान्ति स्थापित करता है।

राज्य सभ्य जीवन की पहली दशा है (State is the first condition of civilised life)

हम कह सकते हैं कि राज्य सभ्य जीवन की प्रथम कुंजी है। वह व्यक्ति तथा समाज की भलाई के लिए निम्न कार्य करता है :—

(१) **राज्य अधिकार तथा कर्तव्यों की रक्षा करता है**—किसी समाज की शान्ति और व्यवस्था उसके सदस्यों के अधिकारों की रक्षा पर निर्भर रहती है। यह अधिकार केवल उसी समय सुरक्षित रह सकते हैं जब समाज का प्रत्येक सदस्य अपने कर्तव्यों

का पालन करे। राज्य निष्पक्ष तथा सप्रभु सस्था होने के नाते जनता के सारे सदस्यों के अधिकारों की रक्षा आसानी से कर सकता है। यदि राज्य की सस्था मनुष्य के अधिकारों की रक्षा करना छोड़ दे तो मनुष्य के जीवन का अधिकतर समय अपनी आत्म-रक्षा करने में ही व्यतीत हो जाय और उसे प्रकृति के रहस्यों पर विजय प्राप्त करने या सौन्दर्य तथा आनन्द की चीजों के उत्पन्न करने के लिए कोई भी समय न मिल सके। अधिकारों और कर्तव्यों की प्रणाली स्वावलम्बी नही है। व्यक्तिगत रूप मे बलहीन मनुष्य बलवान् मनुष्यों के विरुद्ध अपने अधिकारों की रक्षा नही कर सकते। इसलिए प्रत्येक समाज को ऐसी शक्ति की आवश्यकता पडती है जो सब मनुष्यों और मनुष्य समुदायों की शक्ति से अधिक शक्ति रखती हो और जो प्रत्येक नागरिक के अधिकारों और कर्तव्यों की निष्पक्ष भाव से रक्षा कर सकती हो। इसी शक्ति को हम राजशक्ति कह सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अधिकारों और कर्तव्यों तथा समाज की सभ्यता की रक्षा के लिए राज्य की संस्था की अत्यन्त आवश्यकता है।

(२) राज्य देश की बाहरी आक्रमणो से रक्षा करता है—समाज की व्यवस्था उसी दशा में कायम रह सकती है जब देश की विदेशी आक्रमणों से रक्षा की जा सके। स्वतन्त्रता के अपहरण से सभ्यता का विनाश हो जाता है। स्वतन्त्रता की रक्षा सेना के संगठन द्वारा की जाती है। इसलिए हम कह सकते हैं कि राज्य की सस्था राष्ट्रीय स्वतन्त्रता बनाये रखने तथा देश की विदेशी आक्रमणों से रक्षा करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

(३) राज्य देश में शान्ति और व्यवस्था कायम करता है—सभ्यता की उन्नति केवल शान्तिमय वातावरण में हो सकती है। समाज में यह अवस्था केवल राज्य ही प्रदान कर सकता है। राज्य के अभाव से देश में अराजकता फैल जाती है और किसी भी प्रकार का संयम नही रहता।

(४) राज्य कमजोरों की बलवानों के आक्रमण से रक्षा करता है—राज्य मजदूरों की पूंजीपतियों से, किसानों की जमींदारों से, नौकरों की उनके मालिकों से अर्थात् समाज के बलहीन मनुष्यों की शक्तिशाली मनुष्यों से रक्षा करता है और इस प्रकार उनके व्यक्तित्व के विकास के लिए अवसर प्रदान करता है।

(५) राज्य राष्ट्र के सांस्कृतिक विकास का पथ प्रशस्त करता है—राज्य, स्कूल, कालेज विश्वविद्यालय, अन्वेषण-संस्थाएँ इत्यादि स्थापित करके नागरिकों को शिक्षा प्रदान करता है और इस प्रकार समाज के सांस्कृतिक विकास में सहायता देता है।

(६) यह देश की आर्थिक उन्नति [illegible] करता है—राज्य सडक, रेलवे, टेलीफोन, तार, नहर, औद्योगिक अन्वेषण-सस्थाएँ इत्यादि स्थापित करके तथा दूसरे देशों से व्यापार-सम्बन्धी समझौते करके देश की कृषि, व्यवसाय और व्यापार की उन्नति में सहायता करता है। यह बैंकों तथा लेन-देन की दूसरी सस्थाओं का भी प्रबन्ध करता है जो देश की आर्थिक उन्नति के लिए बहुत ही आवश्यक है।

(७) यह मनोरंजन की सामग्री प्रस्तुत करता है—राज्य सार्वजनिक स्थान, पार्क, पुस्तकालय, वाचनालय, चित्रशाला, पशुशाला (Zoos), सिनेमाओं इत्यादि

का प्रबन्ध करके जनता के मनोविनोद तथा शिक्षण के लिए आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि राज्य मनुष्य के अच्छे जीवन के लिए अनिवार्य संस्था है।

§ ३. राज्य की आज्ञा पालन करना क्यों आवश्यक है ?
(Nature of Political Obligation)

ऊपर दिये गये राज्य की आवश्यकता और महत्त्व के वर्णन से हमें राजनीतिक कर्तव्यों के स्वभाव अर्थात् इस बात का पता चलता है कि मनुष्यों के लिए राज्य की आज्ञा पालन करना क्यों आवश्यक है। परन्तु इस विषय में सही मत व्यक्त करने से पहले यह अच्छा होगा कि पहले हम इसी सम्बन्ध के कुछ भ्रममूलक मतों पर विचार कर लें।

(१) शक्ति सिद्धान्त (Force Theory)—शक्ति सिद्धान्त में विश्वास करनेवाले विद्वानों का मत है कि प्रजा डर से राज्य की आज्ञाओं का पालन करती है। राज्य उन लोगों को दण्ड देता है जो उसकी आज्ञाओं का पालन नहीं करते। इस डर के भय से प्रजा राज्य की आज्ञाओं का पालन करती है।

आलोचना—यह मत केवल राज्य की पाशविक शक्ति को स्वीकार करता है, उसकी आध्यात्मिक शक्ति को नहीं। इस मत के अनुसार राज्य जनता की संस्था नहीं वरन् एक श्रेणी की वह व्यवस्था बन जाती है जो दूसरों पर शासन करती है। वह उन लोगों के लिए कोई उपयोगी काम नहीं करती जिन्हें उसकी आज्ञा का पालन करना पड़ता है। स्वभावतः इन लोगों का मत है कि राज्य का अस्तित्व उसकी की गई सेवाओं के आधार पर नहीं वरन् उसकी तलवार की शक्ति पर निर्भर रहता है।

मत का औचित्य—इस मत में कुछ ऐतिहासिक सत्य अवश्य है। भूतकाल में कुछ ऐसे राज्य थे जिनके अस्तित्व का आधार शक्ति के सिवा और कुछ नहीं था। उदाहरण के लिए जर्मनी में हिटलर तथा इटली में मुसोलिनी का शासन इसी प्रकार का था। दक्षिण अफ्रीका में आज भी जो सरकार है वह हबशियों के साथ केवल शक्ति का ही प्रयोग करती है।

इसके अतिरिक्त इस मत के औचित्य का इस बात से भी पता चलता है कि अन्त में प्रत्येक राज्य को अपनी आज्ञा की पूर्ति के लिए शक्ति का ही प्रयोग करना पड़ता है।

परन्तु यह सब होते हुए भी [illegible] सिद्धान्त आज्ञा पालन के असली कानून का उल्लेख नहीं करता।

यह बात सच है कि राज्य अपनी आज्ञा पालन कराने के लिए शक्ति का प्रयोग करता है। परन्तु अधिकांश मामलों में शक्ति का प्रयोग केवल असाधारण परिस्थितियों में ही किया जाता है। साधारणतया जनता राज्य की सेवाओं के आधार पर उसकी आज्ञाओं का पालन करती है। जनता का यह विश्वास होता है कि राज्य की आज्ञा पालन करने से उसकी सबसे अधिक भलाई हो सकती है। जब कोई व्यक्ति शराबबन्दी के कानून को

सही दृष्टिकोण—परन्तु हमारी राय में यह मत भ्रमोत्पादक है। इस मत के प्रवर्तक राज्य और शासन के अन्तर को नही समझते। विद्रोह हमेशा शासन के विरुद्ध होता है, राज्य के विरुद्ध नही। शासन के प्रति विद्रोह करने से हम समूचे सामाजिक जीवन को संकट में नही डालते। हम सामाजिक जीवन के केवल एक भाग को चुनौती देते हैं जो मानव-व्यक्तित्व के प्रति अत्याचार करता है। यदि हम ऐसा न करें और अत्याचार को बराबर सहते रहें तो हम उस दशा में मनुष्य ही न रहेंगे। हमारा अपने और पड़ोसियों के प्रति कुछ कर्तव्य है। यदि एक शासन-प्रणाली हमारे उच्च विकास के मार्ग में रोड़े अटकाती है तो उसे उलट देना हमारा कर्तव्य हो जाता है।

राज्य की किस प्रकार अवहेलना की जानी चाहिए (How to disobey the State)

परन्तु राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार केवल विशेष परिस्थितियों में काम में लाना चाहिए। सर्वप्रथम हमें यह देखना चाहिए कि जिस अधिकार को आज्ञा भंग करने का आधार बनाया जा रहा है वह समस्त समाज द्वारा स्वीकार किया जाता है अथवा नही। एक या दो या समाज के कुछ थोड़े से व्यक्तियों को किसी बात को अधिकार मान लेने से तथा समाज के दूसरे व्यक्तियों के उस अधिकार के प्रति उदासीन रहने से नागरिकों को सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार प्राप्त नही हो जाता।

दूसरी बात यह है कि आज्ञा उसी दशा में भंग की जानी चाहिए जब शासन को बदलने के लिए कानूनी और वैधानिक साधन उपलब्ध न हो। यदि ऐसे साधन मौजूद हैं तो नागरिकों को चाहिए कि वह जनमत को अपने साथ करके आनेवाले चुनाव में सरकार को बदलने का प्रयत्न करें। शासन के कानूनों को न मानना या अधिकारियों के विरुद्ध विद्रोह करना किसी भी प्रबल बुराई को मिटाने के लिए आखिरी उपाय समझना चाहिए, प्रथम नही।

योग्यता प्रश्न

१. समाज और राज्य की भिन्नता बतलाइए और संक्षेप में इन दोनों के सम्बन्ध का वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९३०)

२. क्या शासन के बिना सामाजिक जीवन सम्भव है ? शासन के अस्तित्व की क्या आवश्यकता है ? (यू० पी०, १९३१)

३. राष्ट्र, समाज, राज्य और शासन में क्या भिन्नता है, समझाइए। (यू० पी०, १९३३, १९३६, १९४०, १९४४)

४. मनुष्य राज्य की आज्ञा क्यों पालन करते हैं ? क्या ऐसी भी कोई परिस्थिति है जिसमें नागरिकों को राज्य की आज्ञा भंग करने का अधिकार रहता है ? (यू० पी०, १९३३, १९४३)

५. सामाजिक संस्थाओं के प्रकार क्या हैं ? राज्य उनसे किस प्रकार भिन्न है ? (यू० पी०, १९३५)

६. संप्रभु राज्य के आवश्यक तत्व क्या हैं ? क्या आप निम्नलिखित राज्यों को संप्रभु राज्य समझते हैं ? अपने उत्तर को सप्रमाण समझाइए—हिन्दुस्तान, यहूदी, काश्मीर, न्यूजीलैण्ड, म्युनिसिपल बोर्ड, अन्तर्राष्ट्रीय संघ, स्पेन। (यू० पी०, १९३८)

७. 'राज्य सभ्य जीवन की पहली दशा है।' समझाइये। (यू० पी०, १९३२, १९४७)

८. राज्य शब्द का अर्थ समझाइए। उसके आवश्यक गुण क्या हैं ? दूसरी संस्थाओं में और उसमें क्या भेद हैं ? (यू० पी०, १९५१, पंजाब, १९५३)

९. राज्य के अर्थ समझाइए और बतलाइए कि राज्य और सरकार में क्या अन्तर है ? राज्य का समाज, शासन और देश से पार्थक्य स्पष्ट करो। (यू० पी०, १९४८, १९५३)

१०. नागरिक का अपने धार्मिक समाज तथा राज्य के प्रति सम्बन्ध में जो अन्तर है वह समझाने का प्रयत्न कीजिये।

११. राज्य किसे कहते हैं ? (यू० पी०, १९५६)

१२. राज्य की परिभाषा बतलाइए कि राज्य और अन्य समुदायों में क्या अन्तर है ? (यू० पी०, १९५७)

०

अध्याय ११

राज्य की उत्पत्ति

(Origin of the State)

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक मत व्यक्त किये गये हैं। इनमें से अधिकतर मत केवल अंशतः सत्य हैं। केवल एक मत ही ऐसा है जिसमें सत्य का अंश सबसे अधिक है। इसलिए सबसे पहले हम प्रथम प्रकार के सिद्धान्तों पर विचार करेंगे, इसके पश्चात् उस सिद्धान्त का विश्लेषण करेंगे जिसमें हमारे विचार मे सबसे अधिक सत्य के तत्व पाये जाते हैं।

जिन सिद्धान्तों में केवल आंशिक सत्य है वे निम्नलिखित है —

(१) दैवी सिद्धान्त (*Divine Origin Theory*)

(२) शक्ति सिद्धान्त (Force Theory)

(३) सामाजिक समझौते का सिद्धान्त (Social Contract Theory)

(१) दैवी सिद्धान्त (Divine Origin Theory)

यह वह सिद्धान्त है जो राज्य की उत्पत्ति को दैवी इच्छा पर निर्धारित मानता है। यह सबसे प्राचीन सिद्धान्त है। प्रत्येक प्राचीन समाज इस सिद्धान्त में विश्वास करता है। भारत, प्राचीन मिस्र, चीन, यूनान तथा अन्य देशों में राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि *माना जाता था। श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है 'मनुष्यों में मैं राजा हूँ।"* ईसाई धर्म ने भी इस बात को मान्यता दी। इस मत के अनुसार राज्य की उत्पत्ति ईश्वर की इच्छानुसार हुई। ईश्वर ने कुछ लोगों को राज्य करने के लिए और कुछ को आज्ञापालन करने के लिए पैदा किया। उसने आज्ञापालन के सिद्धान्तों का भी निश्चय किया। राज्य के नियमों की अवज्ञा ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध बगावत है और इसलिए भारी पाप है। राज्य के नागरिकों को प्रत्येक देश में राज्य की आज्ञा का पालन करना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है। वह अपने अधिकार ईश्वर से प्राप्त करता है और इसलिए केवल ईश्वर के ही सम्मुख वह अपने कर्तव्यों के लिए उत्तरदायी है। प्रजा, राजा से उसके कर्तव्य के औचित्य के सम्बन्ध में प्रश्न नहीं कर सकती। इसके विपरीत राजा ईश्वर का प्रतिनिधि होने के नाते जनता से अपनी हर प्रकार की आज्ञाओं का पालन करा सकता है। राजा ही यह निश्चय कर सकता है कि उसकी प्रजा के लिए क्या अच्छा है और क्या अच्छा नहीं। राजा का अपनी प्रजा पर उसी प्रकार का अधिकार है जैसा कि एक पिता का अपनी सन्तान पर होता है। राजा ईश्वर का अंश है। इसलिए यदि प्रजा उस पर आक्रमण करती है तो वह बड़ा अपराध तथा घोर पाप करती है।

मत की आलोचना (Criticism)—हमारी राय में राज्य का दैवी सिद्धान्त अनुचित धारणाओं पर आधारित है और इसलिए वह भ्रमोत्पादक है। कुछ लोगों का तो ईश्वर के अस्तित्व पर ही विश्वास नहीं और इसलिए वह इस सिद्धान्त को नहीं मानते। इसके अतिरिक्त अन्यान्य लोग निम्नलिखित आधार पर इसकी आलोचना करते हैं :—

(१) यह सिद्धान्त मनुष्य को राजनीतिक संस्थाओं का निर्माता नहीं मानता। यह उन्हें ईश्वरकृत बताता है। वास्तव में मनुष्य जान-बूझकर नियम बनाता है और उन संस्थाओं का निर्माण करता है जिनमें उसे जीवन व्यतीत करना है। इसलिए ऐसा समझना उपयुक्त नहीं कि राज्य दैवी इच्छा से उत्पन्न हुआ है।

(२) इस सिद्धान्त से अपरिवर्तनशीलता का प्रचार होता है। यह सिद्धान्त वर्तमान अवस्था को दैवी इच्छा की स्वीकृति देकर पवित्र बना देता है। इस सिद्धान्त के अनुसार वर्तमान संस्थाओं को बदलने का तात्पर्य यह लगाया जाता है कि मनुष्य ईश्वर की बुद्धि में दोष निकाल रहा है। इस प्रकार यह सिद्धान्त मानव-व्यक्तित्व के प्रगतिशील स्वभाव के विपरीत है।

(३) यह सिद्धान्त स्वेच्छाचार तथा अत्याचार का मार्ग खोल देता है और राजाओं को मनमाने ढंग पर शासन करने का अधिकार दे देता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त मनुष्य की भलाई की दृष्टि से अत्यन्त भयानक है।

(४) यह सिद्धान्त केवल राजतंत्र शासनों की व्यवस्था का ही वर्णन करता है, प्रजातन्त्र शासन का नहीं। इस प्रकार यह राजनीतिक संस्थाओं के आंशिक अध्ययन पर अवलम्बित है।

सिद्धान्त का औचित्य—(Justification) दैवी सिद्धान्त के पक्ष में भी कुछ बातें कही जा सकती हैं। उदाहरणार्थ, इस सिद्धान्त का यह कथन बिल्कुल उचित जान पड़ता है कि प्रत्येक समाज के कुछ लोगों में शासन करने की और कुछ लोगों में आज्ञा-पालन करने की स्वाभाविक मनोवृत्ति पाई जाती है। दूसरे शब्दों में इस मनोवृत्ति को ईश्वर प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त राज्य के नैतिक स्वभाव पर जोर देता है। यह सिद्धान्त समाज के उन प्रारम्भिक काल में बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ, जब मनुष्यों में अनुशासन तथा आज्ञापालन की भावना कम थी। परन्तु वर्तमान काल में यह सिद्धान्त केवल अनुन्नत समाजों के लिए ही उपयुक्त है जिनमें राजनीतिक चैतन्यता बहुत कम पाई जाती है। सभ्य समाजों के लिए यह सिद्धान्त बिल्कुल व्यर्थ है।

(२) शक्ति-सिद्धान्त (Force Theory)

इस सिद्धान्त के प्रवर्तकों का कहना है कि राज्य की उन्नति उस समय हुई जब किसी बलवान् पुरुष या पुरुषों के समूह ने निर्बल मनुष्यों के विरुद्ध युद्ध करके उन पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। युद्ध के पश्चात् विजेता शासक बन गये और विजित शासित अथवा प्रजा। आरम्भ में पृथ्वी पर मनुष्यों के बहुत से गिरोह भिन्न-भिन्न प्रदेशों में रहते थे। यह गिरोह खाने-पीने की चीजों की तलाश में इधर-उधर घूमते रहते थे। इन गिरोहों

में जो शक्तिशाली होता था वह निर्बल गिरोहों पर अपना प्रभुत्व जमा लेता था, इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति हुई।

युद्ध का कार्य पुराने जमाने में ही नही चलता था, आज भी यह क्रम बराबर जारी है। एक राज्य दूसरे राज्य पर अपनी सैन्य-शक्ति के आधार पर कब्जा करने की सदा बाट जोहता रहता है। १९१४ तथा १९३९ के महायुद्ध शक्ति के आधार पर ही हुए। शक्ति के ह्रास से देश अपनी राजसत्ता खो बैठता है। जिस राज्य की शक्ति अधिक है वह दूसरों पर शासन कर सकता है। शक्ति के अभाव से रोम साम्राज्य खण्डित हुआ, नैपोलियन की हार हुई तथा हिटलर का अन्त हुआ। शक्ति के कारण ही आज अमेरिका और रूस ससार में सबसे अधिक सम्पन्न राष्ट्र माने जाते है। इस प्रकार राज्य शक्ति के आधार पर ही निर्भर रहता है।

मत की आलोचना—दैवी सिद्धान्त की भाँति शक्ति-सिद्धान्त मे भी आंशिक सत्य है। यह सच है कि किसी राज्य के अस्तित्व के लिए शक्ति का उपयोग आवश्यक है। जनता के अधिकारों की रक्षा के लिए कभी-कभी राज्य सेना तथा पुलिस शक्ति का प्रयोग करता है, परन्तु अधिकतर राज्य केवल अपनी नैतिक तथा सामाजिक शक्ति के आधार पर ही अपनी आज्ञाओं का पालन कराते है। राज्य के अधिकार सहयोग और सेवा से पैदा होते है, पुलिस और फौज के बल से नही। इसके अतिरिक्त केवल शक्ति के सहारे कोई भी राज्य अधिक देर तक कायम नही रह सकता। शक्ति के अनुचित प्रयोग से जनता में विद्रोह की आग भडक उठती है। ऐसे देश में सदा गृह-युद्ध की अवस्था बनी रहती है, परन्तु हम यह दशा अधिकाश राज्यों में नही पाते। वास्तविकता यह है कि राज्य की शक्ति उस भलाई पर निर्भर रहती है जिसे राज्य समूचे समाज के लिए करता है। इस प्रकार राज्य केवल शक्ति से ही उत्पन्न नही होता।

(३) सामाजिक समझौता या संविदा सिद्धान्त (Contract Theory)

इस सिद्धान्त के समर्थकों का कथन है कि मनुष्य स्वभाव से सामाजिक या राजनीतिक प्राणी नही है। आदिम अवस्था में वह जगल में अकेला रहता था। उस समय न राज्य था, न समाज। प्रत्येक मनुष्य स्वय अपना मालिक था और अपनी इच्छाओं के अनुसार कार्य करने के लिए पूर्णरूप से स्वतन्त्र था। कोई मनुष्य किसी दूसरे पर अपनी इच्छा को नही लाद सकता था। इस काल में न कोई कानून था और न सामाजिक बधन। मनुष्यों की इस आदि अवस्था को सामाजिक समझौते के प्रवर्तकों ने प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) का नाम दिया है। बहुत काल तक सब मनुष्य इसी अवस्था में रहे। यह अवस्था आरम्भ में अच्छी थी या बुरी, इसके सम्बन्ध मे, इस मत के दार्शनिकों में मतभेद है; परन्तु यह सब इस बात को मानते है कि कुछ समय पश्चात् मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था असह्य हो गई और फिर सब मनुष्यों ने मिलकर यह निश्चय किया कि प्राकृतिक अवस्था को समाप्त करके उन्हें एक सामाजिक तथा राजनीतिक सगठन बनाना चाहिए। राज्य की उत्पत्ति इस प्रकार हुई। राजनीतिक सगठन बनते समय

क्या-क्या शर्तें तय की गईं, इस विषय में भी इस मत के प्रवर्तकों में मतभेद है। कुछ लेखकों के विचार से मनुष्यों ने अपने अधिकारों को पूर्णतया त्याग दिया, परन्तु कुछ दूसरे लेखकों के विचार से परित्याग केवल आंशिक रूप में हुआ। इकरारनामे की विस्तृत शर्तें चाहे जो कुछ भी रही हों परन्तु उसका मुख्य उद्देश्य राज्य की व्यवस्था करना था। फलस्वरूप राज्य का प्रादुर्भाव इस उद्देश्य से हुआ कि वह मानव-जीवन को व्यवस्थित करे और उसमें प्राकृतिक दशा (State of Nature) के दोष अलग कर दे।

दूसरे शब्दों में यह सिद्धान्त राज्य को मानव-समझौते की उपज समझता है, मानव स्वभाव की नहीं। मनुष्य राज्य में इसलिए रहता है कि उसने ऐसा करने के लिए वचन दिया है। वह राज्य में इसलिए नहीं रहता कि स्वभाव उसे वहाँ रहने के लिए विवश करता है। यह सिद्धान्त न केवल राज्य के विकास को समझाता है वरन् उस सम्बन्ध को भी समझाता है जो शासक और शासित के बीच रहना चाहिए।

ऐतिहासिक दृष्टि से समझौते का सिद्धान्त कोई नयी चीज नहीं है, अरस्तू (Aristotle) से पहले सूफी लोग इसी सिद्धान्त में विश्वास करते थे। सुकरात (Socrates) भी इस सिद्धान्त को मानता था। मध्यकाल में भी इस सिद्धान्त का बोलबाला रहा, परन्तु १७वीं तथा १८वीं शताब्दी में हॉब्स, लॉक तथा रूसो ने इस सिद्धान्त को वैज्ञानिक महत्त्व प्रदान किया।

इस सिद्धान्त की आलोचना करने से पहले हम यह आवश्यक समझते हैं कि इसके तीन मुख्य प्रवर्तक अर्थात् हॉब्स, लॉक तथा रूसो के मतों की संक्षेप में विवेचना की जाय—

हॉब्स (Hobbes)—हाब्स ने १७वीं शताब्दी में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'लेवियाथान' (Laviathan) में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। वह चार्ल्स प्रथम के जमाने में पैदा हुआ था। उसने पार्लियामेंट तथा चार्ल्स प्रथम का युद्ध और उसके भयंकर परिणाम देखे थे। वह प्रकृति से डरपोक था और लड़ाई-झगड़ों से घृणा करता था। फलस्वरूप हॉब्स का मत इसी वातावरण से प्रभावित हुआ है।

हॉब्स का कहना है कि मनुष्य प्रकृति से जंगली, असभ्य, झगड़ालू तथा स्वार्थी है। प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) में इसलिए मनुष्यों में बराबर झगड़े होते रहते थे, उनमें निरन्तर युद्ध होता रहता था।[1] इस वातावरण में न शान्ति थी, न सभ्यता, न सम्पत्ति की रक्षा और न कला-कौशल की उन्नति ही। प्रत्येक मनुष्य को हर समय अपनी जान बचाने की ही फिक्र रहती थी। हर मनुष्य दूसरे को अपना शत्रु समझता था। उसका स्वयं का जीवन जंगली था। उसके पास न घर था, न व्यवसाय, न हथियार, न बुद्धि। सभी प्रकार से उसका जीवन दुखी तथा घृणित था। उस काल में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' नियम का प्रचलन था। किसी भी मनुष्य की जान सुरक्षित नहीं थी। इन सब विपत्तियों से तंग आकर और जीवन-रक्षा तथा शान्ति के निमित्त एक दिन सब

१ The State of Nature according to Hobbes was a condition of purpetual war "where every man was enemy to every man. Man's life was solitary, poor, nasty, brutish and short."

मनुष्यों ने निश्चय किया कि वह एक व्यक्ति (अथवा सभा) को अपना राजा बनायेंगे और उसके हाथ में अपने सभी अधिकार दे डालेंगे। बस यही हुआ। सबने मिलकर अपना एक राजा चुना और उसकी हर प्रकार की आज्ञा को मानने का वचन दिया। राजा से किसी प्रकार की प्रतिज्ञा या शर्त नहीं करवाई गई। इस प्रकार राजा सर्वशक्तिमान हो गया।

समझौते

लाक (Locke)—हॉब्स के बाद लॉक का जन्म इंगलैण्ड में उस समय हुआ जब वहाँ का शासन स्टुअर्ट वंश से निकल कर विलियम और मेरी के हाथ में चला गया था। राजा के अत्याचार से जनता ऊब चुकी थी और प्रजातन्त्र शासन की स्थापना चाहती थी। लॉक ने इसी वातावरण से प्रभावित होकर अपने सिद्धान्त का प्रचार किया। उसने कहा, प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करता था, उसे खाने-पीने की काफी सामग्री प्राप्त थी, प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य के जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकारों की इज्जत करता था। सब मनुष्य बराबर थे। वे एक दूसरे के प्रति सद्भाव रखते थे। 'दूसरों के साथ भी वैसा ही करो जैसा तुम अपने साथ चाहते हो' (Do unto others as you want others to do unto you) यह प्रकृति का नियम था। जीवन शान्तिपूर्ण तथा संघर्षरहित था।

नहीं था जिससे अपराधियों को दण्ड दिया जा सकता।

इन्हीं दो बातों से तंग आकर सब मनुष्यों ने निश्चय किया कि वह सामाजिक तथा राजनीतिक संगठन बनायेंगे। परन्तु लॉक के कथनानुसार इस संगठन को बनाते समय जनता ने केवल समाज में शान्ति रखने तथा न्याय करने का काम ही राजा (अथवा सभा) को सौंपा। जनता के बाकी अधिकार व्यक्तियों के अपने ही हाथ में रहे। राजा को आदेश दिया गया कि वह कुछ विशेष कार्यों की पूर्ति करे, उसको यह भी बतला दिया गया कि यदि वह अपने कर्तव्यों का उचित रूप से पालन नहीं करेगा तो उसे गद्दी से उतार दिया जायगा। लॉक ने इस प्रकार वैधानिक प्रजातन्त्र (Constitutional or Limited Monarchy) की प्रथा का प्रतिपादन किया।

रूसो (Rousseau)—रूसो का जन्म फ्रांस में राज्यक्रान्ति के समय से कुछ पहले हुआ था। उसके काल में फ्रांस की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। वहाँ के राजा का जीवन घृणित था। थोड़े से अमीर जनता का शोषण करते थे। प्रजा दमनकारी कानूनों से तंग आ चुकी थी। ऐसे समय में सन् १७९२ ई० में रूसो ने सामाजिक अनुबन्ध (Social Contract) नामक ग्रन्थ लिखा। इस ग्रंथ के द्वारा उसने दुनिया में प्रजातंत्रवादी शासन का प्रतिपादन किया।

रूसो का कहना था कि मनुष्य प्राकृतिक दशा (State of Nature) में स्वर्गीय जीवन व्यतीत करता था। वह पक्षी के समान स्वतन्त्र था, वह जहाँ चाहता घूम सकता था तथा जहाँ चाहता रह सकता था। उसका जीवन स्वस्थ और प्रसन्न था। वह सामाजिक बन्धनों से मुक्त था। परन्तु यह आदर्श अवस्था और अधिकार अधिक समय तक नहीं टिक सके। शीघ्र ही जनसंख्या बढ़ने के कारण जीविका के नये साधनों का विशेषकर खेती का आविष्कार हुआ। खेती के आविष्कार से लोगों ने भूमि पर अपना अधिकार जमाना आरम्भ कर दिया। कुछ लोगों ने सबसे अच्छी व अधिक भूमि ले ली। औरों को खराब भूमि मिली या दूसरों से थोड़ी। इस प्रकार अमीर और गरीब का भेदभाव उत्पन्न हुआ। अमीरों ने गरीबों पर अत्याचार करने आरम्भ कर दिये। लूट, खसोट, हत्या तथा चोरी का बाजार गर्म हो उठा। प्राकृतिक जीवन की यह अन्तिम दशा थी। इस अवस्था में मनुष्यों में घृणा, क्रोध, लोभ, मोह तथा अपने-पराये के ज्ञान का संचार हुआ। इस प्रकार यह जीवन असह्य हो उठा।

रूसो लिखता है कि मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में सरल, स्वस्थ, प्रेमपूर्ण तथा चिन्तारहित जीवन व्यतीत करता था। उसे हम और तुम का ज्ञान नहीं था। परन्तु आज मनुष्य समाज में रहकर अपनी स्वतन्त्रता खो बैठा है। वह अपने आपको जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, सामाजिक-शृंखलाओं में जकड़ा हुआ देखता है। रूसो ने प्राकृतिक जीवन की अन्तिम अवस्था की बुराइयों को दूर करने के लिए सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन का संगठन तो किया, परन्तु इस संगठन को चलाने के लिए कोई राजा नहीं बनाया, उसने अलग-अलग आदमियों की वैयक्तिक शक्ति को जनता की सामूहिक शक्ति का रूप दे दिया और फिर इसी जनमत की शक्ति को सब अधिकार सौंप दिया। रूसो ने इस प्रकार अपने सिद्धान्त के द्वारा प्रजातन्त्रवादी शासन का प्रतिपादन किया और कहा कि किसी देश में 'जनता का शासन' राजा द्वारा नहीं वरन् सर्वमत (General Will) द्वारा होना चाहिए। राज्य के कानून बनाने का अधिकार भी रूसो ने सारी जनता को ही दिया, किसी राजा या जनता के प्रतिनिधि संघ को नहीं।

आलोचना—सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की बहुत से राजनीतिज्ञों ने आलोचना की है। ये आलोचनाएँ ऐतिहासिक, दार्शनिक तथा तार्किक दृष्टिकोण से की गई हैं। नीचे हम इनका सारांश देते हैं :—

(क) यह सिद्धान्त ऐतिहासिक नहीं है—इतिहास में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है जिससे यह प्रकट होता हो कि समझौते द्वारा जनता ने राज्य की स्थापना की हो। मनुष्य स्वभाव से ही राजनीतिक प्राणी है। वह समझौते के कारण किसी राज्य का सदस्य नहीं बनता।

(२) यह तर्क के विरुद्ध है—यह सिद्धान्त इस बात का उत्तर नहीं देता कि जंगल में रहनेवाले असभ्य लोगों में समझौता करने की उच्च सामाजिक भावना किस प्रकार जागृत हो सकती थी और यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि

ऐसा समझौता किया भी गया, तो ऐसे जंगली लोगों से समझौते की शर्तों पर अमल करने की किस प्रकार आशा की जा सकती थी।

(३) यह बुद्धि के विरुद्ध है—राज्य समझौते पर स्थापित नहीं रह सकता, कारण इसका तात्पर्य यह होना है कि राज्य की सदस्यता मनुष्य की अपनी इच्छा पर निर्भर है, और यदि वह चाहे तो राज्य की सदस्यता छोड़ भी सकता है। यह असम्भव है।

(४) यह कानून के विरुद्ध है—समझौते का ऐसे समय किया जाना, जब उसे अमल में लाने के लिए कोई राजनीतिक व्यवस्था नहीं थी, कानून की दृष्टि से ठीक नहीं है। ऐसे समझौते को कोई कानूनी अदालत नहीं मान सकती।

इतना सब कुछ होने पर भी यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि समझौते का सिद्धान्त उस समय तक बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ जब इसका प्रचार किया गया। यह राजाओं के दैवी अधिकार सिद्धान्त को नष्ट करने में सफल हुआ और इसने मनुष्यों को राज्य व्यवस्थित करने की शक्ति प्रदान की। सफल प्रजातन्त्रवादी शासन के विकास में यह सिद्धान्त बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ।

ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त (Evolutionary Theory of State)

वास्तव में राज्य की उत्पत्ति का वैज्ञानिक सिद्धान्त ऐतिहासिक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के मतानुसार राज्य की उत्पत्ति किसी एक विशेष समय में नहीं हुई। यह धीरे-धीरे समय की प्रगति के साथ हुई।[१] जिस प्रकार एक वट का वृक्ष एक दिन या एक वर्ष में बढ़कर तैयार नहीं होता, ठीक उसी प्रकार राज्य की उत्पत्ति एक दिन की चीज नहीं है। सदियों में इसका विकास हुआ है। इस सिद्धान्त के अनुसार समाज किसी भी अवस्था में राज्यविहीन नहीं था, उसमें किसी न किसी प्रकार का नियन्त्रण अवश्य मौजूद था। यही नियन्त्रण समाज का संगठन चलाता था। आरम्भ में राजनीतिक व्यवस्था अत्यन्त दोषपूर्ण थी, परन्तु धीरे-धीरे उसमें सुधार होता चला गया। आज भी राजनीतिक संगठन पूर्ण नहीं है। अभी भी उसमें दोष हैं और इसी कारण राजनीतिक व्यवस्था का विकास निरन्तर जारी है।

मनुष्य स्वभाव से सामाजिक तथा राजनीतिक प्राणी है। जब से संसार में मनुष्य-रूपी जीव ने जन्म लिया है तभी से समाज तथा राजनीतिक संगठन का भी जन्म हुआ है। आरम्भ में यह सामाजिक संगठन अत्यन्त अस्त-व्यस्त था। मनुष्य जंगली अवस्था में रहते थे। जानवरों को मारकर उनके मांस से वे अपनी क्षुधा शान्त करते थे। सारा समाज कुछ गिरोहों में बँटा हुआ था। गिरोह का एक नेता होता था जिसके नियन्त्रण में सारा गिरोह काम करता था।

आखेट अवस्था को त्यागकर मनुष्य पशु-पालन की अवस्था में आया और फिर

---

१ "State is the result of gradual process running throughout all the known history of man and leading into the remote and unknown past." (Leacock)

कृषि अवस्था में। कृषि युग में सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप कुछ सुधर गया। गिरोह के लोग इधर-उधर घूमने के बजाय गाँव में बस कर खेती करने लगे। गाँव का एक मुखिया होने लगा जो सार्वजनिक कार्यों की देखभाल करने लगा। धीरे-धीरे गाँव में अनेक प्रकार के दूसरे व्यवसाय जारी हो गये और छोटे-छोटे कारखानों की नींव पड़ी। इसके पश्चात् भाप तथा बिजली के आविष्कार से वर्तमान कारखानों के युग की नींव पड़ी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज का अपूर्ण तथा अपरिपक्व संगठन धीरे-धीरे एक सुसंगठित तथा जटिल व्यवस्था में परिवर्तित हो गया।

राज्य निर्माण के अंग (Factors in State Building)

राज्य के विकास में किन्हीं एक या दो तत्वों ने भाग नहीं लिया। इसकी उत्पत्ति में अनेक कारणों ने भाग लिया है। इन तत्वों में हम निम्न तत्वों का विशेष रूप से वर्णन कर सकते हैं।

(१) **रक्त-सम्बन्ध**—रक्त-सम्बन्ध के कारण सबसे पूर्व युग में मानव प्राणियों के बीच एकता उत्पन्न हुई। इसी कारण से सबसे प्राचीन सामाजिक व्यवस्था अर्थात् परिवार की उत्पत्ति हुई। पारिवारिक जीवन के विकास से वंश, वर्ग और जातियाँ बनीं। इन सब के बनने से आपस में मेल-जोल और घनिष्ठता की भावना का जन्म हुआ।

(२) **धर्म**—रक्त के द्वारा जो मेल के बन्धन उत्पन्न हुए उन्हें धर्म ने दृढ़ बनाया। इसका प्रभाव विशेषकर प्राचीन समाजों में बहुत अधिक हुआ। आदिम धर्म का आधार-स्तम्भ पूर्वजों और प्रकृति की आराधना थी। लोग प्रकृति की उन शक्तियों की आराधना करते थे जिन्हें वे समझ नहीं सकते थे और जिनके कोप से रक्षा प्राप्त करने का उनके पास कोई दूसरा साधन नहीं था। ऐसी प्राकृतिक शक्तियों में बादल की गरज, विद्युत की चमक, वर्षा, तूफान इत्यादि थे। आदिम मनुष्यों के प्राण तथा सम्पत्ति की रक्षा तभी सम्भव हो सकती थी जब मनुष्य प्रकृति की इन विपत्तियों से अपनी रक्षा कर सकता। इसीलिए वह प्रकृति के देवताओं की आराधना करने लगा। जाति के सभी लोग इन देवताओं की आराधना तथा समान धर्म का पालन करते थे। इस प्रकार धर्म ने राज्य के विकास में और आपस में युद्ध करनेवाली जातियों में मेल की भावना बढ़ाने में, बहुत काम किया।

(३) **शान्ति और सुरक्षा की आवश्यकता**—कृषक अवस्था में, स्थायी सामाजिक जीवन की उत्पत्ति से, नियम और शासन की आवश्यकता अनुभव हुई। रक्षा और आक्रमण की आवश्यकता से सामाजिक मेल और अधिक दृढ़ हुआ और इस कारण सैनिक सरदारों के हाथ में अधिकार सौंप दिये गये। सैनिक सरदारों के बीच बहुत से युद्ध हुए। उनका परिणाम यह हुआ कि निर्बल और छोटे समुदाय अधिक शक्तिशाली और बड़े समुदायों के अधीन हो गये। इस प्रकार अधिकांश शक्तिशाली जातियों का अधिकार-क्षेत्र बहुत अधिक बढ़ गया। राज्य-क्षेत्र के अधिक विस्तार के कारण प्राचीन जातीय संस्थाएँ, नयी परिस्थिति की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अपर्याप्त सिद्ध

हुई । इस कारण से इनके स्थान में अधिक विशुद्ध राजनीतिक प्रणालियाँ स्थापित की गई ।

(४) आर्थिक आवश्यकताएँ—समाज में धन की वृद्धि के कारण ऐसे नियमों के बनाने की आवश्यकता हुई जिससे सम्पत्ति के नियन्त्रण, परिवर्तन और झगड़ों के फैसले किये जा सकें । आदिम समाजों में आर्थिक लेन-देन के झगड़े, रीति-रिवाज और प्रथाओं के अनुसार तय किये जाते थे । परन्तु आर्थिक जीवन की उन्नति के साथ-साथ अधिक निश्चित और अधिकारपूर्ण नियमों को बनाने की आवश्यकता पड़ी ।

(५) राजनीतिक जागृति—धीरे-धीरे राज्य की उन्नति की अवस्था में धर्म और राजनीति पृथक्-पृथक् हो गये । राज्य का धर्म से विच्छेद हो गया । जैसे-जैसे अधिकाधिक लोगों के मस्तिष्क में शासन की व्यवस्था में सम्मिलित होने की भावना बढ़ी, उसी प्रकार राज्य का स्वरूप राजतन्त्र (Monarchy) से कुलीनतन्त्र (Aristocracy), और कुलीनतन्त्र से प्रजातन्त्र (Democracy) में परिवर्तित हो गया ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्य के विकास तथा उत्पत्ति में अनेक तत्त्वों ने भाग लिया है । परन्तु इस विकास के युग में भिन्न-भिन्न कालों में सामाजिक व्यवस्था का क्या स्वरूप था, इसके सम्बन्ध में विकासवादी लेखकों में मतभेद है । इसलिए इन लेखकों के दो भिन्न-भिन्न मतों का वर्णन कर देना हम यहाँ आवश्यक समझते हैं ।

(१) पितृ-प्रधान मत (Patriarchal Theory)—इस सिद्धान्त की यह धारणा है कि राज्य परिवार का बड़ा स्वरूप है । बहुत से परिवार मिलकर एक वंश बनते है, बहुत से वंशों से एक जाति बनती है और बहुत-सी जातियों से मिलकर एक राज्य बनता है । समाज के सबसे पहले संगठन का स्वरूप परिवार था । परिवार का मुखिया पिता होता था जिसे अपने सदस्यों पर हर प्रकार का नियन्त्रण रखने का पूर्ण अधिकार था । वंश या जाति का मुखिया या तो किसी प्रमुख परिवार का सबसे अधिक आयुवाला मनुष्य होता था या बड़े-बूढ़ों की एक सभा होती थी । इस सिद्धान्त के प्रवर्तक सर हेनरी मेन थे ।

(२) मातृ-प्रधान मत (Matriarchal Theory)—उपरोक्त सिद्धान्त के जोड़ का एक दूसरा सिद्धान्त है जिसे मातृ-प्रधान सिद्धान्त कहते हैं । इस सिद्धान्त के प्रधान प्रवर्तक मेकलेगन, मौर्गन इत्यादि हैं । इन लोगों का विश्वास है कि प्रारम्भ में परिवार का मुखिया पिता नहीं माता थी । आदिम जंगली अवस्था में पति और पत्नी के बीच का सम्बन्ध अज्ञात था । इस अवस्था में विवाह जैसी कोई चीज नहीं थी । एक स्त्री एक पुरुष के साथ, या एक पुरुष एक स्त्री के साथ बँधकर नहीं रहता था । सन्तान और परिवार की सभी सम्पत्ति माता की समझी जाती थी और वह सामाजिक समूह की शासिका मानी जाती थी । परिवार के इस स्वरूप के चिह्न, संसार के कुछ भागों में जैसे तिब्बत या भारत की ट्रावनकोर रियासत में अभी भी पाये जाते हैं ।

आदिम काल में समाज जातियों में नहीं वरन् वंशों में विभाजित था । वंश का समूह उन मनुष्यों का समूह था जो किसी स्वाभाविक वस्तु जैसे कोई पशु, या वृक्ष के संकेत

से पहचाने जाते थे। इस समूह के अन्दर लोगों के आपस में विवाह नहीं होते थे। एक वंश के लोगों को दूसरे वंश की स्त्रियों के साथ विवाह करना पड़ता था। समाज की इस अवस्था में सम्पत्ति की अधिकारिणी स्त्री होती थी और उत्तराधिकार का निर्णय स्त्रियों के पक्ष में ही किया जाता था।

आलोचना——उपरोक्त दोनों मतों में आंशिक सत्यता है। यह सच है कि आरम्भ में समाज का संगठन माता या पिता से हुआ। परन्तु ऐसा कहना मिथ्या है कि आरम्भ में सब सामाजिक समूह मातृक या पैतृक थे। प्रोफेसर लीकॉक (Leacock) का कथन है कि कहीं-कहीं मातृक और कहीं-कहीं पैतृक संगठन समाज के प्रारम्भिक काल में पाये जाते थे।

योग्यता प्रश्न

१. राज्य के विकास के सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्त कौन-कौन से हैं ? आपके विचार से कौन-सा सिद्धान्त सही है और क्यों ? (यू० पी०, १९३५)

२. राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अधिक आवश्यक सिद्धान्तों का संक्षेप में वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९३७)

३. राज्य के विकास और महत्त्व पर प्रकाश डालिये। (यू० पी०, १९३९)

४. राज्य के विकास के सम्बन्ध में सबसे आवश्यक सिद्धान्त कौन से हैं ? (यू० पी०, १९४०)

५. राज्य के विकास के सम्बन्ध में सामाजिक समझौते का सिद्धान्त समझाइए और उसकी सूक्ष्म आलोचना भी कीजिए। (यू० पी०, १९४२, १९४७)

६. 'वर्तमान राज्य धीरे-धीरे सामाजिक विकास का फल है' इस मत को समझाइए। (यू० पी०, १९४५)

७. राज्य के निर्माण में किन कारणों ने आवश्यक भाग लिया। संक्षेप में समझाइए।

८. पैतृक और मातृक सिद्धान्तों में आप कितनी सत्यता पाते हैं ?

९. हॉब्स, लॉक और रूसो के मतानुसार सामाजिक समझौते का सिद्धान्त समझाइए। यह राज्य के विकास के सम्बन्ध में असंतोषजनक सिद्धान्त क्यों माना जाता है ?

१०. राज्य के विकास के सम्बन्ध में ऐतिहासिक विकासवादी सिद्धान्त पर अपने विचार प्रकट कीजिए और उन कारणों को समझाइए जिन्होंने राज्य के निर्माण में प्रमुख भाग लिया है। (पंजाब १९५७)

११. राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामाजिक समझौता सिद्धान्त का वर्णन कीजिए और संक्षेप में उसकी आलोचना कीजिये। (यू० पी०, १९५४, १९५५, पंजाब १९५५)

१२. राज्य की उत्पत्ति का कौन-सा सिद्धान्त आप सबसे उपयुक्त समझते हैं और क्यों ? (यू० पी०, १९५६, पंजाब, १९५६)

१३. राज्य की उत्पत्ति के संबंध में आपके विचार से कौन-सा सिद्धान्त उचित है और क्यों ? संक्षेप में लिखिए। (यू० पी०, १९५८)

अध्याय १२

संप्रभुता

(Sovereignty)

हम पिछले अध्याय में स्पष्ट कह चुके है कि सप्रभुता या राजसत्ता राज्य का सबसे आवश्यक गुण है। वास्तव मे यही गुण राज्य को अन्य सस्थाओ से पृथक् करता है। राज्य वह सगठन है जिसके आदेशो को प्रत्येक मनुष्य तथा सस्था पालन करने के लिए बाध्य हो तथा जो स्वय किसी के आदेशो को न माने। राज्य का यह गुण सप्रभुता कहलाता है। यदि किसी राज्य में यह गुण नही है तो वह राज्य एक स्वतन्त्र अथवा आजाद देश नही कहा जा सकता।

सप्रभुता के दो लक्षण होते है . (१) आन्तरिक, (२) बाह्य। आन्तरिक लक्षण का अर्थ है कि राज्य के अन्तर्गत रहनेवाले प्रत्येक मनुष्य तथा मनुष्यो के समुदाय राज्य की सप्रभुता या राजसत्ता को स्वीकार करें तथा उनके आदेशो का स्वाभाविक रूप से पालन करे। राज्य के अन्दर रहनेवाले किसी भी मनुष्य को, चाहे वह कितना ही बडा क्यो न हो, यह कहने का अधिकार नही है कि वह राज्य की आज्ञा मानने के लिए बाध्य नही। ठीक इसी प्रकार राज्य के अन्दर काम करनेवाली कोई भी सस्था राज्य की आज्ञा का पालन करने से इन्कार नहीं कर सकती। धार्मिक, राजनीतिक, सास्कृतिक, आर्थिक व प्रत्येक प्रकार की सस्थाएँ राज्य के कानूनों को मानने के लिए बाध्य है। वह यह नहीं कह सकती कि हमारा कार्य-क्षेत्र आध्यात्मिक है, या हमें कार्य करने का अधिकार ईश्वर की ओर से प्राप्त हुआ है। राज्य के अन्तर्गत काम करनेवाली प्रत्येक सस्था राज्य के अधीन रह कर ही काम कर सकती है उससे अलग रहकर नही।

सप्रभुता के बाह्य लक्षण का अर्थ यह होता है कि राज्य के बाहर भी कोई ऐसी सस्था अथवा शक्ति नही होनी चाहिए, जिसकी आज्ञा का पालन करने के लिए उसे बाध्य किया जा सके। यदि किसी देश के प्रबन्ध में कोई बाहरी सरकार हस्तक्षेप करती है तो वह देश स्वतन्त्र नही कहा जा सकता। देश की विदेशी नीति क्या हो, वह किन राष्ट्रों के साथ मिलकर काम करे, युद्ध में किसका साथ दे, व्यापारिक समझौते किस देश से करे—इत्यादि, किसी स्वतन्त्र राजसत्ता-प्राप्त देश के अपने प्रश्न है। किसी दूसरे देश को इन मामलो मे हस्तक्षेप करने का अधिकार प्राप्त नही है।

सप्रभुता, इस प्रकार, राज्य की सबसे बडी शक्ति का नाम है। यह वह शक्ति है जिसे न कोई दबा सकता है, न बाहर निकाल सकता है और न अलग ही कर सकता है। यह राज्य का प्राण है। जिस प्रकार प्राण के शरीर से अलग होते ही मनुष्य का शरीर एक

मिट्टी का ढेर हो जाता है, ठीक उसी प्रकार संप्रभुता अथवा राजसत्ता के अलग होने से राज्य की स्वतंत्रता का अन्त हो जाता है।

संप्रभुता के गुण (Attributes of Sovereignty)

डाक्टर गारनर ने संप्रभुता के निम्नलिखित साधारण गुण बतलाये हैं :—

(१) स्थिरता (Permanence)—जैसा ऊपर कहा जा चुका है, संप्रभुता और राज्य का एक दूसरे से अटूट संबंध है। यदि संप्रभुता का अन्त होता है तो राज्य का भी लोप हो जाता है। जब कभी राज्य अपनी स्वाधीनता खो देता है और दूसरे राज्य के अधीन हो जाता है तो समझा जाता है कि उसने अपनी संप्रभुता खो दी और इस प्रकार वह राज्य की दृष्टि से मिट गया।

(२) सर्वव्याप्तता (All-comprehensiveness)—राज्य की सीमा के अन्तर्गत रहनेवाली सभी संस्थाएँ, संगठन तथा मनुष्य राज्य की सत्ता को स्वीकार करते हैं। कोई भी मनुष्य या मनुष्यों का समुदाय राज्य के अधिकार-क्षेत्र के बाहर रहने का दावा नहीं कर सकता। सब लोगों को विवश होकर राज्य के कानूनों का पालन करना पड़ता है।

(३) नियंत्रणहीनता (Absolutism)—राज्य की संप्रभुता कानून या विधि द्वारा सीमित नहीं है। राज्य के अन्दर या बाहर उससे बड़ी या उस पर शासन करनेवाली कोई शक्ति नहीं होती। मेरियट का कहना है कि "संप्रभुता को कोई भी राजनीतिक शक्ति सीमित नहीं कर सकती अन्यथा सीमित करनेवाली शक्ति ही संप्रभु बन जायगी।"

(४) अदेयता (Inalienability)—राज्य अपनी संप्रभुता दूसरे को नहीं दे सकता। संप्रभुता राज्य का आवश्यक गुण है। यह उसका जीवन प्राण है। जिस प्रकार मनुष्य अपनी आत्मा को दूसरे मनुष्य को नहीं दे सकता ठीक उसी प्रकार राज्य अपनी संप्रभुता को भी नहीं बदल सकता।

(५) अविभाज्यता (Indivisibility)—एक राज्य में दो संप्रभुता-सम्पन्न शक्तियाँ नहीं रह सकतीं। नागरिक केवल एक स्वामी की आज्ञापालन कर सकते हैं दो की नहीं। जिस प्रकार एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं या एक वन में दो शेर; ठीक उसी प्रकार एक ही राज्य में दो राजा (संप्रभु शक्तियाँ) नहीं रह सकते। इस प्रकार संप्रभुता अविभाज्य गुण है।

संप्रभुता की परिभाषाएँ—संप्रभुता के उपर्युक्त गुणों के आधार पर राजनीति के भिन्न-भिन्न लेखकों ने इस धारणा की अलग-अलग प्रकार से व्याख्या की है :—

प्रो० बरगेस (Burgess) का कथन है कि "संप्रभुता नागरिकों तथा नागरिकों के संगठनों पर एक मौलिक अनियंत्रित तथा असीमित अधिकार है।"[1]

---

[1] "The original, absolute and unlimited power over individual subjects and associations of subjects." (Burgess)

जैलिनिक (Jellinek) का कथन है कि "सम्प्रभुता राज्य का वह गुण है जिसके कारण वह अपनी इच्छा के अतिरिक्त किसी दूसरे की इच्छा या किसी बाहरी शक्ति के आदेशों से बाध्य नहीं है।"[२]

बोदाँ (Bodin) लिखते हैं "सम्प्रभुता सम्पूर्ण प्रजा पर सबसे बड़ी शक्ति है जिसे बड़े से बड़ा कानून नहीं दबा सकता।"[३]

आस्टिन की परिभाषा—जान आस्टिन (John Austin) का कथन है "यदि किसी राजनीतिक संगठन के अन्दर कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसे देखा जा सके, जो किसी के मातहत न हो और सारा संगठित समाज जिसकी आज्ञाओं का स्वाभाविक रूप में पालन करता हो तो वह व्यक्ति राजा और संगठित समाज एक स्वतन्त्र राष्ट्र कहलाता है।"[४] राजसत्ता की यही परिभाषा सबसे पूर्ण तथा श्रेष्ठ मानी जाती है।

आस्टिन की परिभाषा को देखने से पता चलता है कि उसने सम्प्रभुता के तीन मुख्य अंग बतलाये हैं :

(१) सम्प्रभुता आंतरिक और बाह्य दोनों क्षेत्रों में होनी चाहिए।

(२) सम्प्रभुता कहाँ है अर्थात् सम्प्रभु अधिकार किस व्यक्ति या व्यक्तियों के हाथ में है यह आसानी से देखा जा सके। किसी पारलौकिक शक्ति अथवा किसी संदिग्ध और अप्रत्यक्ष शक्ति में राजसत्ता का विकास नहीं होना चाहिए।

(३) प्रजा का बहुमत सार्वभौमिक सत्ता की आज्ञाओं का आदतन पालन करे न कि किसी अनुचित दबाव या विवशता के कारण।

आस्टिन के संप्रभुता सिद्धान्त की आलोचना—प्रश्न उठता है कि क्या किसी देश में इस प्रकार की राजसत्ता हो सकती है जो किसी की आज्ञा का पालन न करे, जो किसी के मातहत न हो, जिसकी शक्ति असीमित हो और जो किसी प्रकार के कानूनों को मानने के लिए बाध्य न हो। यदि हाँ, तो हमें देखना है कि भिन्न-भिन्न स्वतंत्र राष्ट्रों में यह शक्ति किस मनुष्य या मनुष्यों के समुदायों में विद्यमान रहती है।

राजनीति के प्रसिद्ध लेखक लास्की (Laski), ड्यूगी (Deguit) तथा क्रैब (Krabbe) ने, जिन्हें बहुसमुदायवादी भी कहा जाता है, सार्वभौमिकता के मत की कड़ी आलोचना की है। उनके कथनानुसार राज्य के अन्दर कोई ऐसा महान् मानव, जिसको

---

२ "That characteristic of the State by virtue of which it cannot be bound except by its own will, or limited by any power other than itself." (Jellinek)

३ "Sovereignty is the supreme power over citizens and subjects unrestrained by the laws." (Bodin)

४ "If a determinate human superior not in the habit of obedience to a like superior receives habitual obedience from the bulk of a given society that determinate superior is sovereign in that society, and that society is a society political and independent." (Austin)

शक्ति असीमित हो, नहीं हो सकता। राज्य की शक्ति अनेक कारणों से सीमित होती है, जिनमें दूसरे संघों की शक्ति सबसे प्रमुख है। प्रसिद्ध राजनीतिक विद्वान् ब्राइस (Bryce) का कहना है "संसार में कभी कोई ऐसा मनुष्य या मनुष्यों का समूह नहीं जन्मा जिसकी शक्ति अनियंत्रित तथा असीमित थी।" जर्मन लेखक ब्लंश्ली (Bluntschili) भी यही कहता है कि "राज्य सर्वशक्तिमान् संस्था नहीं क्योंकि बाहर अन्य राज्यों के अधिकार द्वारा तथा अन्दर से अपने स्वभाव और व्यक्तियों के अधिकार द्वारा उसकी शक्ति सीमित रहती है।" इसके अतिरिक्त निम्नलिखित कारण भी राज्य की शक्ति को सीमित करते हैं :—

(१) **जनमत**—राज्य का कोई भी कानून अधिक समय तक जनमत की अवहेलना नहीं कर सकता। यदि कानून जनता का दमन करता है अथवा उसके मौलिक अधिकारों को छीनने का प्रयत्न करता है, तो ऐसा राज्य बहुत समय तक कायम नहीं रह सकता।

(२) **राज्य के अन्य संगठन**—राज्य की शक्ति समाज के अनेक संगठनों, जैसे गिरजाघर, व्यापार संघ, राजनीतिक दल, धार्मिक संघ द्वारा भी सीमित हो जाती है। राज्य के समान यह संगठन भी अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप से कार्य करते हैं और राज्य इच्छा रहने पर भी इनके कार्य में अधिक हस्तक्षेप करने की हिम्मत नहीं कर सकता। इस मत के प्रतिपादक बहुसमुदायवादी कहलाते हैं।

(३) **अन्तर्राष्ट्रीय मत और नैतिकता**—किसी राज्य के कानूनों पर दूसरे राज्यों के अधिकार और अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का भी बहुत प्रभाव पड़ता है। आजकल कोई भी राज्य, दमनकारी कृत्यों द्वारा शेष संसार की सहानुभूति खोना पसन्द नहीं करता। जब कभी इस प्रकार दमन-चक्र का प्रयोग किया भी जाता है तो राज्य निरन्तर प्रचार-कार्य द्वारा, अन्तर्राष्ट्रीय मत को अपने हक में करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार कोई राज्य नैतिकता के सिद्धान्तों के विरुद्ध कानून नहीं बना सकता।

(४) अन्त में राज्य, मनुष्यों के **नैतिक और स्वाभाविक अधिकार**, समाज के प्रचलित **रीति-रिवाज, जन-श्रुतियों और संगठन के नियमों** की अवहेलना नहीं कर सकता। ऐसा करने से समाज में विद्रोह का डर बना रहता है और जनता राज्य के विरुद्ध बगावत करने लग जाती है।

संप्रभुता की स्थिति (Location of Sovereignty)—उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त संप्रभुता के सिद्धान्त की इसलिए भी आलोचना की जाती है कि इसके संबंध में यह कहना अत्यन्त कठिन है कि किसी देश में संप्रभुता कहाँ निवास करती है। इंगलैण्ड को ही ले लीजिए, वहाँ एक सम्राट् का राज्य है, जिसके नाम पर प्रत्येक कानून की घोषणा होती है, जो वहाँ की फौज, समुद्री बेड़े तथा हवाई सेना का सर्वोच्च अधिकारी है, और जो सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति करता है। परन्तु वास्तव में इंगलैण्ड के सम्राट् को संप्रभु सत्ता का अधिकारी ठहराना भारी भूल है; क्योंकि वह स्वयं अपनी स्वतन्त्र इच्छा से कुछ भी नहीं कर सकता। वह तो इंगलैण्ड के प्रधान मंत्री तथा वहाँ की पार्लियामेंट के हाथों में एक कैदी के समान है। वह अपने मंत्रियों की आज्ञा के बिना न कहीं जा सकता है, न बोल सकता है, न शादी कर सकता है और न किसी से मेल-मुलाकात ही कर सकता

है। इंगलैण्ड की सरकार की वास्तविक शक्ति तो वहाँ की पार्लियामेंट के हाथों में निवास करती है। पार्लियामेंट भी जनता की इच्छा के विरुद्ध कोई काम नही कर सकती। पार्लियामेंट के सदस्य जनता के चुने हुए प्रतिनिधि होते हैं। वह उसकी मरजी के विपरीत काम नही कर सकते। जनता की जो इच्छा होती है, पार्लियामेंट के सदस्य उसी पर विचार करते हैं। तो फिर क्या यह कहना उचित होगा कि इगलैण्ड मे सप्रभु सत्ता जनता के हाथो में है? विचार करने पर मालूम पड़ता है कि यह बात भी गलत है, कारण जनता राज्य के सभी कार्यों में भाग नही लेती। राय देने का अधिकार केवल वालिगो को ही होता है और फिर मतदाता अपनी स्वतन्त्र राय से बहुत कम काम करते है, उन पर अधिकतर प्रभाव राजनीतिक पार्टियो, अखबारो तथा प्रचार की दूसरी सस्थाओं का पड़ता है। प्रजातंत्र राज्यों में देश की सरकार की वास्तविक कुंजी राजनीतिक दलों के हाथ में रहती है। तो फिर क्या हम यह कह सकते है कि राजनीतिक पार्टियाँ ही सप्रभु सत्ता की अधिकारी है? वास्तव में सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर मालूम पड़ता है कि यह बात भी एकदम गलत है। *राजनीतिक पार्टियों का सचालन कुछ थोड़े से मुट्ठी भर लोगों के हाथ में रहता है।* पार्टी के दूसरे सदस्य इन नेताओं की इच्छा के विरुद्ध जाने की हिम्मत नही कर सकते, ऐसा करने पर उन्हें पार्टी से निकाल दिये जाने का बराबर डर रहता है। इस प्रकार हम देखते है कि प्रजातत्र राज्यों में यह निश्चय करना कि राजसत्ता किस व्यक्ति या व्यक्तियो के हाथ में रहती है, अत्यन्त कठिन है।

इगलैण्ड से भी अधिक दुष्कर अमेरिका मे राजसत्ता का निर्णय करना है। वहाँ के प्रधान (President) के अधिकार सीमित है। वह विधान के विरुद्ध कार्य नही कर सकता। उसे कानून बनाने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं। अमेरिका की कांग्रेस (Congress) को भी सप्रभु-शक्ति-प्राप्त सस्था नही कहा जा सकता, क्योंकि वह भी सविधान के अन्दर रहकर ही कार्य करती है।

कुछ लेखको का मत है कि राजसत्ता सविधान बदलने की शक्ति रखनेवाली संस्था मे निवास करती है। इस मत के अनुसार इगलैण्ड में राजसत्ता पार्लियामेंट के हाथों मे और अमेरिका में सघीय 'कांग्रेस' के दोनो विभागो के दो-तिहाई बहुमत और राज्यों की विधान सभाओं के तीन-चौथाई बहुमत को प्राप्त है। इस मत के विरुद्ध कहा जाता है कि सविधान बदलनेवाली सस्था तो केवल किन्ही विशेष परिस्थितियों में ही काम करती है, उसे जनता देख नही सकती, वह दिन-प्रति-दिन काम नही करती, इसलिए ऐसी सस्था को भी राजसत्ता-प्राप्त-सस्था नही कहा जा सकता।

एक और कारण से भी राजसत्ता सिद्धान्त की आलोचना की जाती है और वह यह कि इस सिद्धान्त के प्रचार के कारण राज्य में निरकुश शासनों का प्रचार किया गया है। इन आलोचकों की राय में यह सिद्धान्त नागरिकों की स्वतत्रता और विश्व-शान्ति के लिए घातक है। इसी कारण ससार में युद्ध होते हैं। आजकल जब सारा ससार यातायात के साधनों की उन्नति के कारण एक सूत्र में बँध गया है तो राष्ट्रीय स्वतत्रता और राज्य की पृथकता का प्रश्न ही नही उठना चाहिए।

संप्रभुता के सिद्धान्त का औचित्य (*Justification of the Theory of Sovereignty*)

जो लेखक आस्टिन तथा दूसरे विद्वानों द्वारा प्रतिपादित राजसत्ता सिद्धान्त की आलोचना करते हैं, वे यह भूल जाते है कि संप्रभु सिद्धान्त का उद्देश्य यह नहीं कि वह निरंकुशता का प्रचार करे या यह बतलाये कि राजसत्ता कहां वास करती है, वह तो राज्य के एक आवश्यक गुण को बतलाती है। उसका कहना है कि कोई देश उस समय तक संप्रभु नहीं कहा जा सकता, जब तक उसे अपने नागरिकों पर पूर्ण रूप से शासन करने का अधिकार प्राप्त न हो और जब तक वह बाहरी हस्तक्षेप से स्वतंत्र न हो। रही दूसरी बात, कि कोई राज्य जनता की भलाई के विचार से अपने अधिकारों का कहां तक प्रयोग करता है। राज्य को हर प्रकार के कार्य करने की शक्ति तो है, परन्तु वह अपने अधिकारों का जनता के हित के विरुद्ध कार्य नहीं करता। अन्तर्राष्ट्रीय मत के सम्बन्ध में भी यही बात है। राज्य इस मत के विरुद्ध कार्य तो कर सकता है, परन्तु जब तक मजबूरी न हो, वह इस मत के विरुद्ध जाना उचित नहीं समझता। इसलिए सार्वभौमिकता के सिद्धान्त में विश्वास करनेवाले लोगों का मत है कि राज्य सिद्धान्त रूप से सर्वशक्तिमान् अवश्य है, व्यावहारिकता के दृष्टिकोण या औचित्य के विचार से वह अपनी शक्ति का प्रयोग करे या न करे। उनकी राय में संप्रभुता का सिद्धान्त नागरिक स्वतंत्रता या विश्व-शान्ति के लिए घातक नहीं; क्योंकि यह सिद्धान्त यह नहीं कहता कि नागरिकों के अधिकार सुरक्षित नहीं रहने चाहिए या एक देश को दूसरे के साथ मेल-जोल नहीं करना चाहिए। राष्ट्र स्वतन्त्र रहते हुए भी दूसरे देशों के साथ मिलकर काम कर सकते हैं, उनसे व्यापारिक तथा सैन्य सन्धि कर सकते हैं। राजसत्ता और नागरिकों के अधिकार में भी कोई विरोध नहीं। कोई राष्ट्र नागरिकों के अधिकार की अधिक-से-अधिक रक्षा करता हुआ भी, राज-सत्ता-प्राप्त राज्य रह सकता है। राजसत्ता का अर्थ केवल इतना है कि विपत्ति काल में यदि आवश्यकता पड़े, तो राज्य नागरिकों के अधिकारों की परवाह न करते हुए भी उन्हें विशेष प्रकार के कार्य करने पर विवश कर सके। लड़ाई तथा गृह-युद्ध के समय, प्रायः प्रत्येक देश में जनता के अधिकारों में कमी कर दी जाती है। ऐसा इसलिए किया जाता है कि राष्ट्र की स्वतंत्रता व्यक्तिगत स्वतंत्रता से अधिक महत्त्वपूर्ण है। राजसत्ता का इसलिए केवल यही अर्थ है कि राज्य संकट काल में, विपत्ति को दूर करने के लिए जो भी चाहे कर सकता है।

संप्रभुता तथा सरकार में अन्तर (Difference between Government and Sovereignty)

सरकार का अर्थ उन सब कर्मचारियों से है जो राज्य के संचालन में भाग लेते हैं। यह एक स्थूल चीज है जिसे प्रत्येक मनुष्य देख सकता है। संप्रभुता इसके विपरीत राज्य का एक गौण गुण है जिसके कारण वह स्वतंत्र राष्ट्र कहलाता है। यह गुण अनुभव किया जा सकता है, परन्तु देखा नहीं जा सकता। इसके अतिरिक्त सरकार सदा बदलती

रहती है, परन्तु राजसत्ता सदा एक-सी ही रहती है। सरकार एक संगठन है, राजसत्ता एक शक्ति। राजसत्ता के समाप्त होने पर देश की स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है, परन्तु एक सरकार की समाप्ति से दूसरी सरकार उसका स्थान ग्रहण कर लेती है।

संप्रभुता के विविध रूप

संप्रभुता का अर्थ कई मानों में किया जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम इसके विभिन्न स्वरूपों पर अच्छी प्रकार दृष्टि डालें।

नामधारी संप्रभु बनाम वास्तविक संप्रभु (Titular Vs Actual Sovereignty)

संप्रभुता नाम की भी हो सकती है और सच्ची भी। इंगलैण्ड का सम्राट् नामधारी संप्रभु है। वह कहने को तो सम्राट् है परन्तु वास्तव में उसे किसी भी प्रकार के अधिकार प्राप्त नहीं। वहाँ की असली शासक पार्लियामेंट है। राजा तो केवल नाम के लिए सम्राट् कहा जाता है। इसलिए इंगलैण्ड में हम वहाँ के सम्राट् को नाम का और वहाँ की पार्लियामेंट को वास्तविक संप्रभु कह सकते हैं।

वैध संप्रभु बनाम राजनीतिक संप्रभु (Legal Vs Political Sovereignty)

संप्रभुता का दूसरा स्वरूप राजनीतिक और वैध संप्रभुता है। वैध संप्रभुता वह है जिसे राज्य के लिए कानून बनाने का अधिकार प्राप्त है तथा जिसकी सत्ता को अदालतें स्वीकार करती है। ऐसी संस्था इंगलैण्ड की पार्लियामेंट है।

राजनीतिक संप्रभुता इसके विपरीत वह शक्ति है जो वैध संप्रभुता के पीछे निवास करती है तथा जिसकी इच्छा और आज्ञा का पालन वैध सत्ता को अवश्य करना पड़ता है। इस प्रकार की सत्ता प्रत्येक देश में मतदाताओं के हाथ में रहती है। मतदाता चाहे कानून बना सकें, चाहे न्यायालय उनकी आज्ञाओं का पालन न करें, परन्तु देश की व्यवस्थापिका सभा उनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकती। राजनीतिक सत्ता वैध राजसत्ता को उलट सकती है, इसलिए यह उससे कहीं अधिक शक्तिशाली होती है।

लोकप्रिय संप्रभुता (Popular Sovereignty)

लोकप्रिय संप्रभुता शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग रूसो ने किया था। किसी देश में यदि सारी बालिग जनता राजकाज के काम में भाग लेती है तथा अपने कानून स्वयं बनाती है तो ऐसे देश को लोकप्रिय राजसत्ता प्राप्त देश कहा जाता है। इस सत्ता के अन्तर्गत जनता को ही परम शक्ति माना जाता है।

तथ्यतः बनाम विधानतः प्रभुसत्ता (De facto Vs. De jure Sovereignty)

कई बार बहुत राष्ट्रों में कानूनी सम्राट् दूसरा होता है और गद्दी पर काबिज सम्राट् दूसरा। पिछले दिनों सन् १९३५ में इटली ने अबीसीनिया पर हमला करके वहाँ के राजा को गद्दी से निकाल दिया था। परन्तु दूसरे राष्ट्रों ने इटली की जीत को स्वीकार नहीं किया और वह अबीसीनिया के पुराने सम्राट् को ही वहाँ का राजा मानते रहे। ऐसी दशा में राजनीतिक विद्वान् पदच्युत राजा को विधानतः (De jure) और गद्दी

पर काबिज राजा को तथ्यत: (De facto) राजा मानते रहे। अफगानिस्तान में भी अमानुल्ला के समय में एक ऐसी ही घटना हुई थी। अमानुल्ला गद्दी का कानूनी मालिक था, परन्तु देश के कुछ लोगों ने विद्रोह करके उसे गद्दी से उतार दिया। फिर कुछ समय तक बच्चा सक्का गद्दी पर बैठा और फिर नादिरशाह अफगानिस्तान का असली शासक रहा और अमानुल्ला वहाँ का कानूनी सम्राट्। परन्तु बाद में सारी जनता ने नादिरशाह को अपना राजा स्वीकार कर लिया और फिर वह विधानत: तथा तथ्यत: दोनों तरह से वहाँ का राजा बन गया।

तथ्यत: और विधानत: संप्रभुता बहुत समय तक अलग-अलग आदमियों के हाथ में नहीं रह सकती। कुछ समय पश्चात् यह दोनों एक ही आदमी के हाथ में केन्द्रित हो जाती है।

योग्यता प्रश्न

१. संप्रभुता के स्वभाव को समझाइए और उसके प्रधान गुण बतलाइए। (यू० पी०, १९३५)

२. आस्टिन के संप्रभुता सिद्धान्त की आलोचना कीजिए और उसकी अन्य सीमाओं पर प्रकाश डालिये।

३. संप्रभुता की स्वतंत्र शक्ति की व्यावहारिक सीमाएँ कौन-सी हैं ?

४. संप्रभुता के सिद्धान्त का वर्णन कीजिए। इसके आवश्यक गुण क्या हैं ? (यू० पी०, १९४२)

५. निम्नलिखित शब्दों के अर्थ स्पष्ट रूप से समझाइए :--

१. नामधारी संप्रभुता
२. वास्तविक संप्रभुता
३. विधानत: संप्रभुता
४. राजनीतिक संप्रभुता

६. तथ्यत: (De facto) और विधानत: (De jure) संप्रभुता की भिन्नता को स्पष्टतया समझाइए।

७. आप संप्रभुता का क्या अर्थ समझते हैं ? इसके मुख्य अंगों का वर्णन कीजिये।

८. संप्रभुता के गुण क्या हैं ? राजनीतिक और वैध संप्रभुता में क्या अन्तर है ? (यू० पी०, १९४७)

९. संप्रभुता (Sovereignty) से आप क्या समझते हैं ? किस अर्थ में राज्य संप्रभु (Sovereign) माना जा सकता है ? (यू० पी०, १९५३)

१०. राज्यसत्ता का अर्थ समझा कर लिखिए और उसके विशेष तत्व बताइए। (यू० पी०, १९५५; पंजाब १९५५)

११. राज्यसत्ता की परिभाषा कीजिए और उसके मुख्य चिह्नों का वर्णन कीजिये· यू० पी०, १९५७)

अध्याय १३

विधि या कानून (Law)

§ १. कानूनों का अर्थ तथा स्वभाव

(Meaning and Nature of Laws)

पिछले अध्यायों में कानून या विधि शब्द का प्रयोग यत्र-तत्र किया गया है। इस अध्याय में इस शब्द का वास्तविक अर्थ, इसके विभिन्न रूप तथा इसके स्रोतों पर विचार किया जायगा, तथा यह भी बतलाया जायगा कि अच्छे और बुरे कानूनों की क्या पहचान है और बुरे कानूनों का किस प्रकार विरोध किया जा सकता है।

कानूनों का अर्थ—सर्वप्रथम हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि कानून या विधि शब्द का अर्थ क्या है ? वास्तव में इस शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। जब इस शब्द का प्रयोग प्रकृति के साथ किया जाता है तब इससे कार्य और कारण का सम्बन्ध तथा उस समानता का बोध होता है जिससे प्राकृतिक वस्तुओं के व्यवहार की विशेषताओं का पता चलता है। जब इस शब्द का प्रयोग मानवीय व्यवहार के साथ किया जाता है, तब इससे उन नियमों का बोध होता है जो सामाजिक जीवन को व्यवस्थित करते हैं। अन्तिम अवस्था में सब कानूनों का तात्पर्य व्यवहार नियमों से होता है, चाहे वह प्राकृतिक पदार्थों अथवा शक्तियों का व्यवहार होता है और चाहे मनुष्यों का।

सर्वप्रथम, मोटे तौर पर, कानूनों को दो भागों में बाँटा जा सकता है. (१) भौतिक कानून, (२) मानवीय कानून।

भौतिक कानून (Physical Laws)—प्राकृतिक पदार्थों तथा शक्तियों के व्यवहार के नियमों को भौतिक कानून कहा जाता है। यह कानून कार्य-कारण सम्बन्ध को बतलाते है। जैसे यदि कहा जाय कि कोई वस्तु ऊपर उछाली जाय तो पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के कारण वह जमीन पर गिरेगी; या किसी वस्तु को गरम किया जाय तो तापमान की प्रवृत्ति के कारण वह फैलेगी। ऐसे कानून भौतिक कानून कहलाते है। वह मनुष्यों द्वारा नही बनाये जाते, न वे व्यक्ति की इच्छा पर ही निर्भर रहते हैं। मनुष्य कितना भी चाहे पानी सदा ऊपर से नीचे की ओर ही बहेगा। भौतिक कानून इसलिए वे नियम होते है जो स्थायी, अटल तथा निश्चित होते हैं। काल और स्थान भी उनकी प्रकृति में किसी प्रकार का अन्तर नहीं ला सकता। हाँ, यह बात दूसरी है कि मानव ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ कुछ पुराने नियम जिन्हें हम ठीक मान बैठे थे, नयी खोजों के आधार पर गलत साबित हो जायें, परन्तु इसका अर्थ यह नही कि भौतिक कानून सिद्ध हो गये। इसका अर्थ केवल इतना है कि मनुष्य ने पहले कानून को समझने मे गलती की थी।

मानवीय कानून (Man-made Laws)—मानवीय कानून उन नियमों को कहा जाता है जो समाज के अन्दर रहनेवाले मानव प्राणियों के पारस्परिक सम्बन्धों को व्यवस्थित करते हैं। इस कोटि में नैतिक कानून, सामाजिक कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून आते हैं।

नैतिक कानून (Moral Laws)—नैतिक कानून हम उन नियमों को कहते हैं जो मनुष्य के आदर्श आचरण से सम्बन्ध रखते हैं। इन कानूनों का पालन मनुष्य राज्य या समाज के भय से नहीं करता, वरन् मनुष्य की अपनी आंतरिक नैतिक प्रेरणा उन्हें इन कानूनों को मानने के लिए विवश करती है। नैतिक कानूनों के उदाहरण में हम गरीबों की सेवा, दान-पुण्य की भावना, अतिथि-सत्कार, माता-पिता का आदर इत्यादि नियमों के नाम ले सकते हैं। नैतिक कानूनों का सम्बन्ध अधिकतर मनुष्यों के व्यक्तिगत जीवन तथा काम के पीछे उसके उद्देश्य से होता है। नागरिकशास्त्र में हम उन कानूनों का अध्ययन करते हैं जो समाज से सम्बन्ध रखते हैं, व्यक्तिगत जीवन से नहीं।

सामाजिक कानून (Social Laws)—सामाजिक कानून समाज में प्रचलित उन नियमों को कहा जाता है जिनका पालन मनुष्य लोकमत के डर से करते हैं। इन नियमों के उल्लंघन करने पर राज्य द्वारा दण्ड दिया जाता, परन्तु समाज ऐसे आचरण को निंदनीय ठहराता है, उदाहरणार्थ, अगर कोई व्यक्ति अपने बूढ़े माता-पिता को घर से निकाल दे, अथवा अपनी पत्नी या बच्चों के साथ दुर्व्यवहार करे, अपनी जाति को छोड़कर अन्य वर्ग में विवाहादि करे, एक स्त्री के रहते हुए दूसरी शादी करे तो इन कृत्यों की समाज द्वारा घोर निन्दा की जाती है। बहुत बार आगे चलकर सामाजिक कानून राजकीय कानूनों का रूप भी धारण कर लेते हैं जैसे केवल एक विवाह करने का अधिकार इत्यादि, परन्तु अधिकतर इन नियमों का पालन लोक-लाज के भय से ही किया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Laws)—राज्य के कानूनों का अध्ययन करने से पहले हम अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का अर्थ तथा उनका महत्त्व समझने का प्रयत्न करेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय कानून उन नियमों को कहा जाता है जो विभिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों को व्यवस्थित करते हैं। ओपनहाइम (Oppenheim) इन कानूनों की परिभाषा इस प्रकार करता है कि "रीति-रिवाजों पर आधारित जो नियम सभ्य देशों के बीच सम्बन्धों को कानूनन निर्धारित करते हैं, वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून कहे जाते हैं।" यह नियम केवल शान्तिकाल में ही नहीं, युद्धकाल में भी लागू किये जाते हैं।

बहुत से राजनीतिक विद्वान् अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को कानून नहीं मानते, कारण उनका पालन कराने के लिए कोई ऐसी शक्ति नहीं होती जो विभिन्न राष्ट्रों को उन्हें मानने के लिए विवश कर सके। इनका मानना या न मानना राष्ट्रों की सद्भावना पर निर्भर है। इसलिए आस्टिन के मतानुसार यह कानून अभी अपूर्ण है, वह कानून बनने की राह में है (Laws in the process of making), अभी तक पूर्ण कानून नहीं। इस मत के विरुद्ध ओपनहाइम का कहना है कि किसी कानून के लिए तीन चीजों की आव-

श्यकता होती है—एक व्यक्तियों का समूह, दूसरा समूह के कुछ नियम तथा तीसरा उन नियमों का साधारणतया सदस्यों द्वारा पालन। अन्तर्राष्ट्रीय कानून इसलिए कानून है कि राज्यों का एक समूह होता है, उस समूह में कुछ नैतिक नियम प्रचलित होते हैं, तथा साधारणतया सभी राज्य इन नियमों का पालन करते है। ओपनहाइम कहता है कि यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून अशक्त कानून है, परन्तु वह कानून तो है ही।

राज्य द्वारा बनाये गये कानून (State Laws)—नागरिकशास्त्र मे कानून शब्द का प्रयोग अधिकतर राजकीय कानूनों के अर्थ मे किया जाता है। राज्य के कानूनों को स्थिर या आवश्यक नियम (Positive Laws) भी कहा जाता है। ये वे नियम होते हैं जो राज्य द्वारा स्वय निर्मित किये जाते हैं अथवा उसके द्वारा स्वीकार कर लिये जाते है और जिन्हें आवश्यकता पड़ने पर शक्तिपूर्वक मनवाया जाता है।

परिभाषा—राजकीय कानूनों की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं। ऑस्टिन के मतानुसार "कानून जनता के लिए राजसत्ताधारी की आज्ञा है।"[1] हालैण्ड के मतानुसार "सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति द्वारा लागू मनुष्य के बाह्य-जीवन से सम्बन्धित सामान्य नियम कानून है।"[2] वुडरो विल्सन लिखता है, "कानून स्थिति, विचार तथा स्वभाव का वह अंश है जिसे समान नियमों के रूप में विशिष्ट और नियमानुसार स्वीकृति प्रदान की गई हो और जिसे सरकार की शक्ति लागू करती हो।"[3]

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि कानून के दो आवश्यक तत्व है, एक जनता के बाह्य जीवन के कार्यों की व्यवस्था के लिए सामान्य नियमों का समूह, दूसरे इन नियमों का सरकार द्वारा पालन।

उद्देश्य—कानूनों का मुख्य उद्देश्य अधिकारों की रक्षा करना होता है। इसलिए उन्हें उल्लंघन करनेवालों को दण्ड दिया जाता है।

आधुनिक समाज की पूर्ण व्यवस्था कानूनों के उचित पालन पर ही निर्भर है। यदि कानूनों द्वारा जनता के दुर्बल तथा अशक्त व्यक्तियों की रक्षा न की जाय, तो समाज में "जिसकी लाठी उसकी भैंस" नियम का साम्राज्य हो जाय। जनता के मौलिक अधिकारों की रक्षा कानूनों द्वारा ही की जाती है। कानूनों के निर्माण के लिए ही विधान मण्डल का जटिल संगठन बनाया जाता है। उन्ही के लिए न्यायपालिका का संगठन किया जाता

---

1 "Law is the Command of the Sovereign. (Austin)

2 "A Law is a general rule of external human action enforced by a sovereign political authority." (Holland)

3 "Law is that portion of the established thought and habit which has gained distinct and formal recognition in the shape of uniform rules backed by the authority and power of the government." (W. Wilson)

है। कार्यपालिका का भी यही मुख्य उद्देश्य होता है कि जनता द्वारा राज्य के कानूनों पर अमल कराया जाय। संक्षेप में समस्त शासन का उद्देश्य कानूनों के आधार पर जनता का कल्याण करना होता है।

हम एक ऐसे राज्य की बात सोच ही नहीं सकते जहाँ कानून न हों। कानून संहिता अथवा रीति-रिवाज, प्रचलन, रूढ़ियां इत्यादि के रूप में हो सकते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सभी कानून लिखित हों, बहुत से कानून अलिखित भी हो सकते हैं। परन्तु कानून या विधिशून्य राज्य का कोई अर्थ नहीं होता। ऐसे समाज में पूर्ण अराजकता का ही साम्राज्य हो सकता है। कानूनों के अभाव का अर्थ होता है, जनता को मनमाना करने की छूट। विदित है कि ऐसे राज्य में न किसी के अधिकार सुरक्षित रह सकते हैं, न किसी की स्वतंत्रता। कलह, विषाद, युद्ध, लड़ाई, झगड़े तथा संघर्ष का ही ऐसे राज्य में शासन हो सकता है। प्रत्येक राज्य को इसलिए कानूनों का निर्माण तथा उनकी रक्षा के लिए उचित व्यवस्था करनी पड़ती है।

कानूनों का स्वभाव (Nature of Laws)

प्रश्न उठता है कि कानूनों का आधार क्या है ? जनता कानूनों का पालन क्यों करती है ? कानूनों के पालन से मनुष्य की स्वतंत्रता में कुछ न कुछ बाधा अवश्य पड़ती है, फिर भी व्यक्ति कानूनों का पालन क्यों करते हैं ? इस प्रश्न का विस्तृत उत्तर इसी पुस्तक के नवें अध्याय के तीसरे परिच्छेद में विस्तारपूर्वक दिया जा चुका है। उस स्थान पर यह समझाने का प्रयत्न किया गया है कि नागरिक स्वेच्छा से राज्य की आज्ञा का पालन क्यों करते हैं ? राज्य की इच्छा केवल कानूनों द्वारा ही व्यक्त होती है, इसलिए जिन कारणों से मनुष्य राज्य की आज्ञा का पालन करते हैं, उन्हीं कारणों से वह उसके कानूनों का भी आदर करते हैं।

संक्षेप में हम यहाँ इतना ही दोहरा देना चाहते हैं कि राज्य के कानूनों का आधार भय या शक्ति या उदासीनता अथवा आदत नहीं। मनुष्य सजा के डर से कानूनों का पालन नहीं करता, वरन् इसलिए करता है कि वह एक नैतिक प्राणी है। वह अच्छे और बुरे को समझता है और जानता है कि जो उसके लिए प्रिय है, वह दूसरों को भी प्रिय होगा। कानून इसलिए बनाये जाते हैं कि उनसे सर्वसाधारण की भलाई हो, उनके अधिकार सुरक्षित रहें। कानूनों से नागरिकों के व्यक्तित्व का विकास होता है, उन्हें वह सुविधाएँ मिलती हैं जिनसे वह अपने जीवन में उन्नति कर ऊँचे-से-ऊँचा उठ सकते हैं।

कानून किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं, वरन् प्रजातन्त्र राज्यों में समस्त जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों की राय से बनाये जाते हैं। उनके निर्माण में जनता के रीति-रिवाज, विश्वास, जनश्रुतियां तथा विश्वास का विचार रखा जाता है। वह जनता के किसी एक वर्ग की भलाई की दृष्टि से नहीं वरन् समस्त समाज की भलाई के लक्ष्य से बनाये जाते हैं। इसलिए जनता ऐसे कानूनों का स्वेच्छा से पालन करती है।

§ २. कानूनों का वर्गीकरण

(Classification of Laws)

कानूनों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया जाता है। आगे की तालिका में एक श्रेष्ठ वर्गीकरण दिया गया है जिससे आशा है पाठकों को कानून के विभिन्न रूपों को समझने में आसानी होगी :—
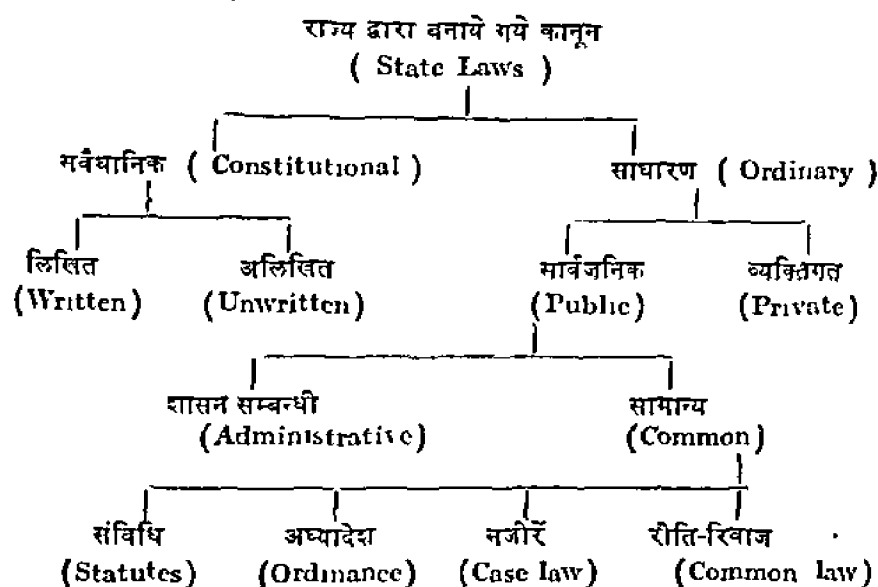
(१) संवैधानिक कानून (Constitutional Laws)—संवैधानिक कानून हम ऐसे कानूनों को कहते हैं जो किसी देश की शासन-व्यवस्था का निर्णय करते हैं। इन कानूनों में सरकार की बनावट अर्थात् विधान मण्डल, कार्यपालिका तथा न्याय-पालिका का स्वरूप, राज्य के अंगों का एक दूसरे के साथ पारस्परिक सम्बन्ध तथा नागरिकों के अधिकारों का वर्णन होता है। संवैधानिक कानून और दूसरे कानूनों (अधिनियम) में यह अन्तर होता है कि संवैधानिक कानूनों के निर्माण एवं संशोधन के लिए खास व्यवस्था की आवश्यकता पड़ती है, जैसे विधान-मण्डल के दोनों भवनों का दो-तिहाई बहुमत इत्यादि; साधारण कानून विधान-मण्डल के साधारण बहुमत द्वारा निर्मित किये जाते है। संवैधानिक कानूनों को अत्यन्त पावन कानून माना जाता है क्योंकि उनकी रक्षा पर नागरिकों के अधिकारों की रक्षा निर्भर करती है। इसीलिए इन्हें आसानी से नहीं बदला जा सकता।

संवैधानिक कानून लिखित भी हो सकते हैं और अलिखित भी। इगलैण्ड का संविधान अलिखित है, दूसरे राष्ट्रों के लिखित। रीति-रिवाज तथा रूढ़ियों के आधार

पर चालित संविधान अलिखित कहलाते हैं और ऐसे संविधान लिखित जिनमें शासन-व्यवस्था की अधिकतम बातें लिपिबद्ध कर ली जाती हैं।

(२) साधारण कानून (Ordinary Laws)—राज्य के दूसरे हर प्रकार के कानूनों को जिनके द्वारा नागरिकों के आचरण पर अंकुश लगाया जाता है साधारण कानून कहते हैं। यह कानून अधिकतर विधान-मण्डल द्वारा ही बनाये जाते हैं, यद्यपि रीति-रिवाज, धर्मशास्त्र, नजीर इत्यादि भी उनके आधार होते हैं।

साधारण कानूनों के अन्तर्गत दो प्रकार के कानून आते हैं :

(अ) व्यक्तिगत कानून (Private Laws)—व्यक्तिगत कानून वह हैं जो दो मनुष्यों के आपस के सम्बन्धों को व्यवस्थित करते हैं। इन कानूनों का मनुष्य के सामाजिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वह केवल एक नागरिक का दूसरे नागरिक से क्या सम्बन्ध होना चाहिए, इसका निर्णय करते हैं। इन कानूनों के उदाहरण में हम कर्ज के कानून (Laws of debts), जायदाद खरीदने-बेचने के कानून (Transfer of Property Acts), हकशफा का कानून (Laws of Pre-emption) इत्यादि के उदाहरण दे सकते हैं।

(ब) सार्वजनिक कानून (Public Laws)—सार्वजनिक कानून वे कानून हैं जो जनता के राज्य के साथ सम्बन्ध का निर्णय करते हैं। इन कानूनों के द्वारा मनुष्यों को बताया जाता है कि उन्हें किस प्रकार के कार्य नहीं करने चाहिए। इन कानूनों को तोड़नेवाले व्यक्ति समाज तथा राज्य के प्रति अपराधी समझे जाते हैं। इन कानूनों में चोरी या डकैती, खून या धोखादेही इत्यादि के कानून शामिल किये जाते हैं।

सार्वजनिक कानूनों के मुख्य रूप से दो भेद होते हैं :— (१) प्रशासनिक कानून (Administrative Laws) और (२) सामान्य कानून।

प्रशासनिक कानून (Administrative Laws)—डाइसी के अनुसार शासन सम्बन्धी कानून वह है जो सरकारी कर्मचारियों के पद और जिम्मेदारियों का, आम जनता के साथ उनके व्यवहार का, तथा उन विशेष अधिकारों का उल्लेख करते हैं जो सरकारी कर्मचारियों को विशेष रूप से कुछ राज्यों द्वारा प्रदान किये जाते हैं। ये कानून फ्रांस में लागू हैं और इंग्लैण्ड से बिल्कुल भिन्न हैं। फ्रांस में जब राज्य के कर्मचारी कोई जुर्म करते हैं तो उनके मुकदमे की सुनवाई देश के साधारण कानून के मातहत या साधारण न्यायालयों द्वारा नहीं होती। इसके लिए विशेष कानून तथा विशेष अदालतें होती हैं। ऐसा इसलिए किया जाता है कि सरकारी कर्मचारी अपने कर्तव्यों को पूरा करने में एक विशेष भार वहन करते हैं। यदि उन्हें साधारण कानून द्वारा शासित किया जाय तो वह अपने कर्तव्य अच्छी प्रकार पूरे न कर सकेंगे। इंग्लैण्ड तथा दूसरे राज्यों में ऐसी व्यवस्था नहीं है। वहाँ सब नागरिकों के लिए समान कानून तथा समान अदालतें हैं।

सामान्य कानून (Common Laws)—राज्य के दूसरे हर प्रकार के कानून जिनका सम्बन्ध नागरिकों से होता है, सामान्य कानून कहलाते हैं। इन कानूनों के मुख्य रूप से निम्न स्रोत एवं भेद होते हैं :—

(१) संविधि (Statutes)—देश की व्यवस्थापिका सभा द्वारा बनाये गये कानूनों को सविधि या स्टेट्यूट कहा जाता है।

(२) अध्यादेश (Ordinances)—देश की सरकार द्वारा असाधारण और आवश्यक परिस्थितियों का सामना करने के लिए कुछ थोड़े समय के लिए पास किये गये कानूनों को अध्यादेश या आर्डिनेंस कहा जाता है। हमारे देश के लोग इन कानूनों से भलीभाँति परिचित है। अँग्रेजी राज्य मे यह कानून समय-समय पर छ महीने के लिए गवर्नर जनरल द्वारा घोषित किये जाते हैं।

(३) नजीरें अथवा वादजनित विधान (Case Laws)—वे कानून जो अदालतों के फैसलों द्वारा बनाये जाते है; केस लॉ या वादजनित विधान या नजीरें कहलाते है। यह नजीरें वकील लोग अपने मुकद्दमों की पैरवी मे बहस के समय पेश करते हैं।

(४) रीति-रिवाज (Customary Laws)—ये वे कानून हैं जो किसी विधान सभा द्वारा तो नही वरन् रीति-रिवाजों के आधार पर अदालतें प्रयोग में लाती हैं। इगलैण्ड में इसी प्रकार के कानून अधिक प्रयोग में आते हैं। बहुत पुराने काल से प्रचलित होने के कारण इन कानूनों को वही स्वरूप मिल जाता है जो विधान सभा द्वारा पास कानूनों को। भारतवर्ष में इस प्रकार के गोद लेने के कानून, स्त्री-धन के कानून, शादी-विवाह इत्यादि के कानून हैं।

§ ३. कानून और कुछ दूसरे तत्वों का सम्बन्ध

कानून और आचार-शास्त्र का सम्बन्ध (Relationship between Law and Ethics)

आचार-शास्त्र मनुष्य के सामाजिक व्यवहार का विज्ञान है। यह नागरिको के लिए आदर्श सदाचार के नियमों को निर्धारित करता है। राज्यकृत कानूनों का आदर्श भी यही है कि नागरिक नैतिक सिद्धान्तों पर चलें। इस प्रकार राज्यकृत कानून भी यथा-सम्भव आचार-शास्त्रों मे वर्णित सदाचार सम्बन्धी नियमों का ही पालन करते हैं। कानून उसी दशा में प्रभावोत्पादक हो सकते हैं जब वे मनुष्यों के नैतिक विचारों के सरक्षक हों। परन्तु इस सबध का यह अर्थ कदापि नही समझना चाहिए कि कानून और आचार-शास्त्र एक ही चीज है। वास्तव में अनेक कारणों से वह एक दूसरे से बिलकुल भिन्न भी है।

कानून और आचार-शास्त्र में भिन्नता—(१) सर्वप्रथम राज्यकृत कानून और आचार-शास्त्र में यह भिन्नता है कि राज्यकृत कानूनों का पालन राज्य की शक्ति पर निर्भर होता है। परन्तु आचार-शास्त्र के नियमों का पालन मनुष्य के अन्तःकरण तथा उसकी नैतिक भावना पर निर्भर रहता है।

(२) दूसरे राज्यकृत्य कानूनों का सम्बन्ध केवल मनुष्यों के बाहरी कर्तव्यों से रहता है। आचार-शास्त्र के नियमों का सम्बन्ध मनुष्य के आतरिक और बाह्य दोनों

प्रकार के आचरणों से रहता है। राज्यकृत कानूनों के सम्बन्ध में राज्य केवल उन्हीं लोगों को सजा देता है जो चोरी, खून, डकैती इत्यादि जुर्म करके देश के साधारण कानूनों की अवहेलना करते हैं। यह उन लोगों को सजा नहीं देता जो अविश्वासी, झूठे या अकृतज्ञ होते हैं। इसके विपरीत आचार-शास्त्र के नियम न केवल यह कहते हैं कि चोरी, खून या डकैती करना पाप है वरन् वह यह भी कहते हैं कि मनुष्य को अकृतज्ञ, अविश्वासी या झूठा नहीं होना चाहिए।

(३) राज्यकृत कानून बहुत-सी बातों को जो नैतिक दृष्टि से अनुचित हैं—जैसे अकृतज्ञता, विश्वासघात और झूठ बोलना इत्यादि बुरा नहीं समझते। बहुत-सी अवस्थाओं में तो, जैसे विदेश-नीति निर्धारित करने में, इन चीजों को अपनाया भी जाता है। दूसरी तरफ राज्य बहुत-सी बातों को जो नैतिक दृष्टि से पूर्णरूपेण उचित हैं, जैसे सड़क के दाईं ओर चलना, तेजी से गाड़ी चलाना इत्यादि—अनुचित समझता है और ऐसा करने के लिए लोगों को सजा देता है। वास्तव में आचार-शास्त्र के नियम नैतिक कर्तव्यों से सम्बन्ध रखते हैं और राज्यदत्त कानून शासन संबंधी कर्तव्यों से।

प्राकृतिक और मनुष्यकृत नागरिक कानूनों का सम्बन्ध (Relationship between Natural Laws and Positive Laws)

प्राकृतिक कानून का अर्थ राजनीतिक दार्शनिकों ने कई प्रकार से किया है। यूनानी और स्टोइक लेखक प्राकृतिक कानून को तर्क (Logic) या अंतःकरण का कानून समझते थे। रोमन भी इसी प्रकार प्राकृतिक नियमों को मानव-कर्तव्य का सच्चा कानून समझते थे। उनके विचारानुसार प्राकृतिक कानून मनुष्य के सर्वोत्कृष्ट तर्क का नमूना था। उनका राज्यदत्त कानून (Jus-Gentium), प्राकृतिक कानून (Jus-Natural) पर अवलम्बित था। मध्यकाल में भी प्राकृतिक कानूनों को ईश्वर के कानूनों के समान समझा गया। परन्तु आजकल प्राकृतिक कानूनों का असली अर्थ यह लिया जाता है कि यह वे आदर्श नियम हैं जो प्रत्येक समाज में उसके नागरिकों की अधिकाधिक उन्नति के लिए आवश्यक हैं। इस अर्थ में राज्य के सभी कानून प्राकृतिक नियमों के अनुसार ही होने चाहिएँ। परन्तु कभी-कभी प्राकृतिक कानून शब्द का प्रयोग भौतिक कानूनों (Physical Laws) के अर्थ में भी किया जाता है; जैसे अग्नि का कानून, पानी का कानून इत्यादि। ऐसी दशा में प्राकृतिक और राज्यकृत कानूनों में निम्नलिखित भेद होते हैं :—

प्राकृतिक और मनुष्यकृत कानूनों में भेद (Difference between Physical Laws and Positive Laws)

(१) प्राकृतिक या भौतिक कानून प्रकृति की घटनाओं की समानता का वर्णन करते हैं, जैसे गुरुत्वाकर्षण शक्ति कानून, या वायु का कानून इत्यादि। परन्तु राज्यकृत कानून नागरिकों के आचरण का नियंत्रण करने के लिए बनाये जाते हैं।

(२) प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध कोई घटना हो, तो हम समझते हैं कि वह कानून

गलत था। परन्तु यदि कोई मनुष्य राज्य के नियम के विरुद्ध काम करे तो हम उस कानून को गलत नहीं समझते, बल्कि ऐसे मनुष्य को अपराधी ठहराते हैं और उसे सजा देते है।

(३) भौतिक कानूनों को मनुष्य केवल खोज निकालता है, वह उसे बनाता नहीं; परन्तु राज्य के कानूनों को मनुष्य स्वय बनाता है।

(४) भौतिक कानून स्थायी और सदा एक-से रहते है परन्तु राज्य के नियम अदलते-बदलते रहते है, वह तोड़े जा सकते हैं तथा वह हर एक देश में अलग-अलग होते है।

§ ४. *कानूनो के स्रोत* (Sources of Laws)

आधुनिक ससार मे अधिकतर कानून व्यवस्थापिका सभा द्वारा बनाये जाते हैं, परन्तु इसके अतिरिक्त कानूनों के दूसरे स्रोत भी है —

(१) रीति-रिवाज (Customs)—बहुत से रीति-रिवाज पुराने पड जाने पर कानून का रूप धारण कर लेते है और बहुत से राज्य द्वारा स्वीकृत हो जाते है। बात यह है कि रीति-रिवाज हमारी आवश्यकताओं के अनुसार ही बनते है। उनका धीरे-धीरे *विकास होता है, अत उनका हमारे पूर्व इतिहास मे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।* सभ्यता के प्रसव-काल में रीति-रिवाज ही जनता के कानून थे। आजकल भी बहुत से पुराने रीति-रिवाज हमारे कानूनो में शामिल है। इगलैण्ड का कॉमन लॉ (Common Law) प्राचीन रीति-रिवाजों पर ही अवलम्बित है।

(२) धार्मिक सिद्धान्त (Religious Practices)—पुराने समय में रीति-रिवाजों तथा धर्म में कोई अन्तर नही था। रीति धर्म के आधार पर ही बनती थी। आजकल भी बहुत से देशों में जातियों के कानून उनके धर्म पर अवलम्बित है। भारत में हिन्दू और मुसलमानों के कानून (Hindu and Mohammedan Laws) स्मृतियाँ, कुरान व हदीस ही में पाये जाते है जो इन जातियो के धर्म-ग्रन्थ हैं। इस प्रकार हम देखते है कि धर्म जातीय-कानूनों के विकास में मुख्य भाग लेता है।

(३) प्राचीन नीति शास्त्र (Ancient Codes)—पुराने समय में *लोग समाज के धार्मिक नेताओं द्वारा बनाये गये नीति शास्त्रों का पालन करते थे जैसे मोजेज* के कानून, मनु के कानून, कुरान हदीस के कानून इत्यादि। इन नीतिशास्त्रो में धर्म के *आधार पर सदाचार के नियम वर्णित हैं। लोग इनका व्यावहारिक रूप मे पालन करते थे।* इन नीति शास्त्रो के आधार पर भी बहुत से वर्तमान कानून बनाये गये है।

(४) कानूनी फैसले और नजीरें (Interpretation and Adjudication of Legal Decisions and Precedents)—न्यायाधीश, राज्य के कानूनों को, विशेष मुकदमों की आवश्यकता के अनुसार व्यवहार में लाते है। इस प्रकार वह कानून की व्याख्या करते है और समाज की बदलती हुई परिस्थिति के अनुसार उसमें सशोधन करते है। न्यायाधीशों द्वारा बनाये गये कानून अगले मुकदमों के फैसले के लिए नजीरें माने जाते हैं। इस प्रकार से भी नये कानूनों का जन्म होता है।

(५) वैज्ञानिक चर्चा (Scientific Discussion)—बड़े-बड़े वकील और

कानूनी पंडित, कानूनों का अपनी समझ के अनुसार अर्थ लगाते हैं, और नये कानूनों को बनाने की आवश्यकता का सुझाव पेश करते हैं। इस प्रकार वह कानून की सीमा की वृद्धि करते हैं।

(६) नैतिक न्याय (Equity)—जब किसी मुकदमे का फैसला करने के लिए कोई विशेष कानून नहीं मिलता तब न्यायाधीश नैतिक न्याय (Equity) या शुद्ध अन्तःकरण के सिद्धान्त के आधार पर मुकदमों का फैसला करते हैं और इस प्रकार एक नये कानून का निर्माण करते हैं। नैतिक न्याय (Equity) इस प्रकार एक तरह का न्यायाधीश द्वारा बनाया गया कानून है।

(७) विधान सभा (Legislature)—वर्तमान समाज में सबसे अधिक कानून देश की विधान सभा द्वारा बनाये जाते हैं। इन कानूनों को प्रत्येक अदालत को मानना पड़ता है।

अच्छे और खराब कानूनों की पहचान (Distinction between good and bad Laws)

राज्य की व्यवस्था नागरिकों के सुखद जीवन तथा उन्नति के उद्देश्य से की जाती है। राज्य अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कानून बनाता है। दूसरे शब्दों में, कानूनों का अस्तित्व स्वयं अपने लिए नहीं वरन् जनता के सुखद जीवन के लिए होता है। कानून कोई स्वयं आदर्श नहीं वरन् आदर्श तक पहुँचने के लिए एक साधन है। सब कानूनों का एक ही आदर्श होता है और वह यह कि वह जनता की अधिक से अधिक सेवा कर सके तथा उनके व्यक्तित्व के विकास में सहायक सिद्ध हो सके। यदि राज्य का कोई कानून इस परीक्षा में पूरा उतरता है, अर्थात् वह जनता के सुख की वृद्धि करता है तो वह कानून अच्छा कहलाता है; इसके विपरीत, यदि कोई कानून जनता के अधिकारों का विनाश तथा उनके सुख की हानि करता है तो वह कानून बुरा होता है।

कुछ लेखकों का कहना है कि कानूनों के विषय में अच्छाई और बुराई का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए। कानून राज्य का आदेश है। वह प्रत्येक दशा में माना जाना चाहिए। कोई कानून इसलिए कानून नहीं होता कि वह जनता की भलाई के लिए बनाया गया है, वरन् इसलिए कि वह संप्रभुसत्ता का आदेश है; परन्तु हमारी राय में यह मत एकदम निकृष्ट है। कानून को उसके उद्देश्य से अलग नहीं किया जा सकता। प्रत्येक कानून को बनाते समय राज्य का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होता है। यदि यह उद्देश्य जनता का सांस्कृतिक अथवा आर्थिक अथवा सामाजिक विकास है तो वह कानून अच्छा समझना चाहिए, यदि उस कानून से जनता के अधिकारों का हनन होता है तथा उसकी प्राकृतिक उन्नति में बाधा पड़ती है तो उस कानून को निकृष्ट समझना चाहिए।

संक्षेप में हम कानूनों की अच्छाई के निम्न रूप दे सकते हैं:—

(१) सर्वप्रथम कानूनों की अच्छाई की परख उनकी मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में सहायता देने की शक्ति है। यदि कानून नागरिकों को उनकी नैतिक, सामाजिक

अथवा आध्यात्मिक उन्नति करने में मदद करता है तो वह अच्छा कानून है। इसके विपरीत यदि कोई कानून जनता का दमन करता है अथवा समाज के केवल कुछ मुट्ठी भर मनुष्यों को उनके व्यक्तित्व के विकास की सुविधा देता है, तो वह कानून निकृष्ट है।

(२) दूसरे, अच्छे कानून की परख यह है कि जनता उस कानून की आज्ञा का पालन स्वेच्छा से करे; और उस पर अमल करने समय इस बात का अनुभव करे कि वह कानून उसकी भलाई और उन्नति के लिए है। दूसरे शब्दो मे, जनता राज्य के किसी कानून का इसलिए पालन न करे कि उसकी अवहेलना मे उसे दण्ड मिलेगा, वरन् इसलिए, कि उस कानून का पालन उसकी अपनी नैतिक उन्नति के लिए आवश्यक है।

(३) तीसरे, अच्छे कानून की पहचान यह है कि वह जनता को उसके नैतिक और प्राकृतिक अधिकारो से वंचित न करे।

(४) चौथे, अच्छे कानूनों का निर्माण जनता की इच्छा के अनुसार होना चाहिए। दूसरे शब्दों में उनकी व्यवस्था केवल ऐसे व्यक्तियों के द्वारा होनी चाहिए जो वास्तव में जनता का सच्चा प्रतिनिधित्व कर सकें।

जब कोई कानून ऊपर लिखी हुई चार परीक्षाओ में उत्तीर्ण होता है, तभी वह एक आदर्श कानून कहा जा सकता है। परन्तु आजकल हम देखते है कि संसार के सभी राष्ट्रो मे कुछ न कुछ कानून ऐसे अवश्य होते है जो जनता के अधिकारों की रक्षा नही वरन् उनकी अवहेलना करते हैं। प्रश्न उठता है कि क्या जनता इस प्रकार के कानूनों को भी मानने के लिए वाध्य है? यदि नही तो राज्य के ऐसे कानूनो की किस प्रकार और किस दशा में अवहेलना की जा सकती है।

वह अवस्थाएँ जिनमें नागरिक राज्य के कानूनों की अवहेलना कर सकते हैं (Conditions under which citizens can disobey State Laws)

जब राज्य का कोई विशेष कानून इस दृष्टि से खराब है कि वह मनुष्य के सदाचार के विकास में बाधक सिद्ध होता है, और ऐसा किसी व्यक्ति विशेष के साथ नही वरन् सारी जनता के साथ होता है, तो उस कानून की अवहेलना करना जनता का नैतिक अधिकार हो जाता है। हम इसी अध्याय के पिछले पृष्ठो में वतला चुके है कि किसी कानून का पालन इसलिए नही करना चाहिए कि वह राज्य की आज्ञा का प्रतिबिंब है, वरन् इसलिए कि हम यह अनुभव करें कि इस कानून के पालन करने से हम अपनी स्वयं की उन्नति करते है। अत यदि कोई कानून जनता के हित की रक्षा नहीं करता वरन् उसके मौलिक अधिकारो पर कुठाराघात करता है, तो जनता का धर्म है कि वह ऐसे कानून का अपनी पूर्ण शक्ति के साथ मुकाबला करे।

परन्तु यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि सरकारी कानून की अवहेलना करने से पहले, हमें इस बात का निश्चय कर लेना चाहिए कि जनता, आन्दोलन के कार्य में हमारे साथ है अथवा नहीं। यदि जनता की नैतिक भावना हमारे साथ नही तो अवज्ञा आन्दोलन

करने से कोई लाभ न होगा। दूसरे, अवज्ञा करने से पहले यह भी देख लेना चाहिए कि उस कानून को रद्द कराने के लिए हमने हर प्रकार के वैधानिक तरीकों का प्रयोग किया है अथवा नहीं। अवज्ञा आन्दोलन तो एक खतरनाक बीमारी की आखिरी औषधि होनी चाहिए, प्रथम नहीं। सर्वप्रथम, जनता के सहयोग से सरकार पर यह बात दर्शाने का प्रयत्न करना चाहिए कि अमुक कानून जनता का अहित करता है। इसके पश्चात् यदि सरकार उस कानून को रद्द न करे तो व्यवस्थापिका सभा के अगले चुनाव के समय, इस प्रश्न पर जनमत लेना चाहिए, अर्थात् उस विषय को चुनाव का एक मुख्य प्रश्न (Election Issue) बनाना चाहिए। यदि इस आन्दोलन के पश्चात् सरकार सार्वजनिक इच्छा के अनुसार काम करे तो ठीक है अन्यथा, सरकार को नोटिस देकर उस कानून के विरुद्ध सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ कर देना चाहिए। सविनय अवज्ञा आन्दोलन का अर्थ यह होता है कि जनता कानून तोड़ने में हिंसा का व्यवहार न करे वरन् अहिंसात्मक तरीकों से काम ले। आज हमारे देश वासी, महात्मा गांधी के नेतृत्व के कारण इस सविनय अवज्ञा आन्दोलन के अर्थ को भली-भांति जान गये हैं। गांधीजी के सारे आन्दोलन अहिंसात्मक थे और उन्होंने कभी भी हिंसा का प्रचार नहीं किया। सविनय अवज्ञा आन्दोलन, इस प्रकार, संसार को भारत के राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की अनुपम देन है।

क्या मनुष्य किसी दशा में फौज में काम करने से इन्कार कर सकता है? (Can a Citizen refuse to serve in the army when called upon to do so under any circumstances ?)

पिछले प्रश्न से ही मिलता-जुलता एक और प्रश्न है जो कभी-कभी राजनीतिक विद्वानों से पूछा जाता है, और वह यह कि क्या किसी दशा में कोई नागरिक, सरकार की आज्ञा के विरुद्ध फौज में काम करने से इन्कार कर सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर भी बिल्कुल स्पष्ट है। यदि किसी देश की सरकार अपनी जनता से फौज में भरती होने के लिए इसलिए कहती है कि उस देश को किसी विदेशी आक्रमण से अपनी रक्षा करनी है, अथवा अपनी स्वतंत्रता की लड़ाई लड़नी है, तो नागरिकों का धर्म है कि वे अपने राष्ट्र की इज्जत कायम रखने के लिए हर प्रकार की कुरबानी दें तथा अपने प्राणों की आहुति देने से भी मुँह न मोड़ें। परन्तु यदि एक देश की सरकार किसी दूसरे मुल्क पर चढ़ाई करने या उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण करने के लिए जनता से फौज में भरती होने के लिए कहती है, तो ऐसी दशा में जनता का धर्म हो जाता है कि वह ऐसे घृणित कार्य में सरकार का हाथ बँटाने से इनकार कर दे। युद्ध में लाखों नागरिकों के अमूल्य जीवन, करोड़ों रुपयों की धन-सामग्री तथा जनता के सुख और ऐश्वर्य की बलि देनी पड़ती है। इसलिए युद्ध केवल ऐसी ही दशा में करना चाहिए जब इसके बिना राष्ट्र की स्वतन्त्रता अथवा मान की रक्षा न हो सके। साम्राज्य-वादी उद्देश्यों के लिए किये गये युद्ध में जनता का धर्म है कि वह किसी भी प्रकार का सहयोग न दे।

योग्यता-प्रश्न

१. कानून की व्याख्या कीजिए। उसके विभिन्न प्रकार क्या हैं ? नागरिकशास्त्र में कौन से कानून का अध्ययन किया जाता है ?

२. कानून के विभिन्न स्रोत कौन-कौन से हैं ?

३. कानून और नीतिशास्त्र के सम्बन्ध पर प्रकाश डालिये।

४. "कानून राज्य की इच्छा का स्वरूप है।" "कानून सार्वजनिक मत का स्वरूप है।" क्या इन दोनों कथनों में कोई पारस्परिक भिन्नता है ?

५. प्राकृतिक कानून क्या हैं ? उनका नागरिक कानूनों से कैसा सम्बन्ध है ? (यू० पी०, १९३३)

६. क्या आप अच्छे कानून और खराब कानून को पहचान सकते हैं ? यदि हाँ, तो इस पहचान का आधार क्या है ? आप खराब कानून को कैसे रद्द करेंगे ? (यू० पी०, १९३२, १९३६)

७. कानून की व्याख्या कीजिये। कानून के स्रोत और उनके प्रकार कौन-कौन से हैं ? (यू० पी०, १९३२, १९३६, १९४२)

८. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :—

१. वैधानिक कानून
२. स्टैचूट्स (Statutes)
३ साधारण कानून
४. नैतिक न्याय (Equity)

९. क्या नागरिक को राज्य के द्वारा आदेश दिये जाने पर युद्ध से इन्कार करने का अधिकार है ? किन परिस्थितियों में वह राज्य के आदेश का विरोध कर सकता है ? (यू० पी०, १९३४)

१०. कानून का उद्देश्य क्या है ? क्या आप एक ऐसे राज्य की प्रतिमा खींच सकते हैं, जहाँ कोई कानून न हो ? (यू० पी०, १९४५)

११. कानून किसे कहते हैं ? और ये कैसे बनते हैं ? (यू० पी०, १९५२)

१२. कानून से आप क्या समझते हैं ? कानून और स्वतन्त्रता में क्या सम्बन्ध है ? (यू० पी०, १९५४; पंजाब १९५४)

१३. कानून की व्याख्या कीजिये। कानून और नैतिकता में क्या सम्बन्ध है ? (यू० पी०, १९५६)

अध्याय १४

संविधान

(Constitution)

१. संविधान का अर्थ और आवश्यकता

(Meaning and Necessity of Constitution)

पिछले अध्याय में कानूनों की व्याख्या करते समय हमने देखा था कि संविधान भी कानून का विशिष्ट स्वरूप है। सरकार के संगठन के स्वरूप को राजनीतिक भाषा में संविधान कहा जाता है।

संविधान की परिभाषाएँ (Definitions of Constitution)

संविधान शब्द की परिभाषा भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। प्रसिद्ध संविधानशास्त्री डाइसी (Dicey) लिखता है, "शासन संविधान उन राजकीय नियमों को कहते हैं जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से राज्य पर अपना प्रभाव डालते हैं।"[1] गिलक्राइस्ट (Gilchrist) इसकी व्याख्या इस प्रकार करता है, "ये वे कानून और कायदे हैं जो लिखित या अलिखित रूप में शासन की व्यवस्था का निश्चय, उसके विरोधी अंगों के अधिकारों का वितरण तथा उन आम सिद्धान्तों का निर्णय करते हैं जिनके अनुसार किसी देश की सरकार चलाई जाती है।"[2] ब्राइस (Bryce) के अनुसार "शासन संविधान उन नियमों को कहते हैं जो सरकार के आकार का निर्णय और उसके प्रति नागरिकों के अधिकार और कर्त्तव्यों का निश्चय करते हैं।"[3] लीकाक (Leacock) ने इसकी परिभाषा कुछ शब्दों में इस प्रकार की है। "किसी राज्य के ढाँचे को उसका शासन विधान कहते हैं।"[4] इस प्रकार हम देखते हैं कि संविधान उन कायदों और कानूनों का समूह है जो चाहे लिखित हों अथवा अलिखित, जिनके अनुसार किसी देश का शासन चलाया जाता है।

---

1. All rules which directly or indirectly affect the distribution or the exercise of sovereign power in the State. (Dicey)

2. "That body of rules or laws, written or unwritten, which determine the organisation of Government, the distribution of powers to the various organs of the Government and the general principles on which these powers are to be exercised." (Gilchrist)

3. "Constitution is a set of established rules embodying and directing the practice of Government." (Bryce)

4. The constitution is the form of any particular state. (Leacock)

संविधान की आवश्यकता

शासन को जनमत के अनुसार चलाने के लिए तथा शासकों को जनता के हित के विरुद्ध मनमाने तरीकों पर काम करने से रोकने के लिए उसे कुछ खास कानूनों और कायदों में आबद्ध करना पड़ता है। सरकार का संगठन सारे देश में नीचे से ऊपर तक फैला रहता है। गाँव के चौकीदार से लेकर सरकार के बड़े से बड़े कर्मचारी सरकार के संगठन के अन्तर्गत काम करते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि सरकार के इन विभिन्न कर्मचारियों के अधिकार तथा कर्तव्य भलीभाँति स्पष्ट रूप से वर्णित हों जिससे वह अपने अधिकारों का दुरुपयोग न कर सकें। इन नियमों के न होने से शासक जालिम बन जाते हैं और जनता के अधिकार सुरक्षित नहीं रहते। इसलिए प्रत्येक राज्य में कुछ ऐसे नियमों की आवश्यकता पड़ती है जो चाहे लिखित हों या अलिखित परन्तु जो शासन की शक्तियों को सीमित रख सके तथा उसके विभिन्न अंगों का कार्य भलीभाँति बतला सके। इन्हीं नियमों को संविधान कहा जाता है।

अच्छे संविधान के आवश्यक गुण (Requisites of good Constitution)

गैटल (Gettle) अच्छे संविधान के लिए निम्नलिखित गुण अनिवार्य बतलाता है

(१) स्पष्टता (Clarity or Definiteness)—प्रत्येक शासन-संविधान स्पष्ट और सुलझा हुआ होना चाहिए। इसमें किसी प्रकार की संदेहयुक्त बातें नहीं होनी चाहिएँ। कोई भी उसे पढ़कर समझ ले और उसके मन में दोअमली बात पैदा न हो। शासन-संविधान जितना ही स्पष्ट होगा, सरकार को उतनी ही कम कठिनाइयाँ उठानी पड़ेंगी। इसी कारण से आजकल लिखित संविधान, जिनकी शब्द-रचना बहुत सावधानी के साथ की गई हो अत्यन्त सन्तोषजनक समझे जाते हैं।

(२) व्यापकता (Comprehensiveness)—संविधान को शासन के सभी अंगों अर्थात् विधान-मण्डल, कार्यपालिका और न्याय संस्थाओं का वर्णन करना चाहिए। उसके अध्ययन से सरकार की पूरी जानकारी हो जानी चाहिए। ऐसा न हो कि उसके पढ़ने के पश्चात् भी किसी व्यक्ति को सरकार का पूरा संगठन समझ में न आये। संविधान के विविध अंगों के अधिकारों का विस्तृत वर्णन होना चाहिए, जिससे सरकारी कर्मचारी अपनी मनमानी न कर सकें।

(३) सूक्ष्मता (Brevity)—संविधान यथासम्भव सूक्ष्म होना चाहिए, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उसकी व्यापकता और स्पष्टता ही नष्ट हो जाय। इसका आशय केवल इतना है कि संविधान में फिजूल की बातों का वर्णन नहीं होना चाहिए। उसमें केवल शासन के साधारण सिद्धान्तों का वर्णन किया जाना चाहिए। विस्तृत संविधान में बदलती हुई परिस्थितियों के साथ चलने की क्षमता नहीं होती, उसमें आगे चलकर बहुत से संशोधन और परिवर्तनों की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए जहाँ तक बने, संविधान सूक्ष्म होना चाहिए।

(४) परिवर्तनशीलता (Flexibility)—किसी भी देश का संविधान मनुष्यों की आवश्यकताओं और समय की परिस्थिति के अनुसार बनना चाहिए। कोई भी संविधान सदा-सर्वदा के लिए पूर्ण नहीं माना जा सकता। जो आज उचित होता है वही कल अनुचित हो सकता है। उसे उन्नतिशील युग के साथ चलना चाहिए, अर्थात् समय की आवश्यकता के अनुसार उसमें तबदीली की गुंजाइश होनी चाहिए। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि उसे अपना स्थायित्व त्याग देना चाहिए और प्रतिदिन बदलते रहना चाहिए। संविधान में स्थायित्व और परिवर्तनशीलता का समन्वय होना चाहिए।

गैटल द्वारा अच्छे संविधान की उपरोक्त वर्णित आवश्यकताओं के अतिरिक्त कुछ लेखक इसके दो अन्य गुण भी बतलाते हैं: (१) अधिकारों की घोषणा और (२) न्यायपालिका की स्वाधीनता।

(५) अधिकारों की घोषणा (Declaration of Rights)—अच्छे संविधान में व्यक्तिगत स्वाधीनता की रक्षा के उद्देश्य से नागरिकों के मूल अधिकारों की घोषणा अवश्य होनी चाहिए।

(६) न्यायपालिका की स्वाधीनता (Independence of Judiciary) इसी प्रकार निष्पक्ष न्याय की प्राप्ति के लिए स्वतन्त्र न्यायपालिका की व्यवस्था होनी चाहिए।

भारत के नये संविधान में यह गुण पूर्णरूप से विद्यमान हैं। हमारा संविधान लिखित एवं स्पष्ट है। वह बदला जा सकता है। उसमें अधिकारों की घोषणा है। वह न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को स्वीकार करता है।

§ २. संविधानों का वर्गीकरण (Classification of Constitutions)

शासन संविधान का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जाता है। कुछ लेखक ऐतिहासिक आधार पर, कुछ स्पष्टीकरण की नीति से, और कुछ भौगोलिक दृष्टि से इसका विभाजन करते हैं। एक ही शासन संविधान कई विभाजनों में लाया जा सकता है। ये विभाजन चार प्रकार से किये जाते हैं :—

(१) विकसित और निर्मित संविधान (Evolved and Enacted Constitution)

विकसित संविधान (Evolved Constitution)—विकसित संविधान हम एक ऐसे संविधान को कहते हैं जो किसी विशेष समय में किसी संविधान परिषद् द्वारा नहीं बनाया जाता, वरन् जो इतिहास की उपज है और धीरे-धीरे रीति-रिवाजों तथा जनश्रुतियों के आधार पर बन जाता है। पुराने युग में जब जनता को शान्ति और सुव्यवस्था की आवश्यकता प्रतीत हुई तो उसने कुछ रीति-रिवाज और जनश्रुतियां अपना कार्य चलाने के लिए अपना लीं। ये रीति-रिवाज और जनश्रुतियाँ समय की बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुसार बदलती गई और अन्त में वही राज्य का संविधान बन गई। इंगलैण्ड का संविधान इसी प्रकार बना और अभी भी वह उसी प्रकार उन्नति करता चला जा रहा है। इस प्रकार के संविधान की सबसे बड़ी खूबी यह होती है कि उसको बदलने के लिए किसी

धारा सभा या संविधान परिषद् का अधिवेशन नहीं बुलाना पड़ता, वह स्वयं जनता की राजनैतिक जागृति के कारण बदलता रहता है।

निर्मित संविधान (Enacted Constitution) निर्मित संविधान वह संविधान है जो किसी संविधान परिषद् द्वारा किसी खास समय में बनाया जाता है। इस संस्था के सदस्य किसी केन्द्रवर्ती स्थान में एकत्रित होकर पारस्परिक विचार-विनिमय के बाद एक लिखित संविधान बनाते हैं। अमेरिका का संविधान इस प्रकार से सन् १७७८ में बनाया गया था। निर्मित संविधान निश्चित रूप से लिखित संविधान होता है। वह अलिखित नहीं हो सकता।

(२) लिखित और अलिखित संविधान (Written and Unwritten Constitution)

लिखित संविधान (Written Constitution)—लिखित संविधान वह संविधान कहे जाते हैं जो रीति-रिवाजों या जनश्रुतियों के आधार पर नहीं वरन् लिखित कानूनों के आधार पर अवलम्बित होते हैं। वह संविधान परिषद् के अथक परिश्रम के परिणाम होते हैं। लिखित संविधान में, मनुष्यों के मौलिक अधिकार, शासन यंत्र की बनावट, उसके काम करने के तरीके, विधान-मण्डल, कार्यकारिणी तथा न्यायालय के अधिकार तथा कर्तव्य इत्यादि बातों का स्पष्ट रूप से वर्णन होता है।

अलिखित संविधान (Unwritten Constitution)—गार्नर (Garner) के कथनानुसार अलिखित संविधान वह संविधान है "जिसमें राज्य के संगठन की अधिकांश बातें किसी कागज या पुस्तक में संकलित नहीं की जातीं।" इस प्रकार का संविधान देश के रीति-रिवाज और रस्मों के आधार पर अवलम्बित रहता है। वह राष्ट्रीय जीवन के विकास के साथ ही बढ़ता है। इंगलैण्ड में इसी प्रकार का अलिखित संविधान है।

आलोचना—लिखित और अलिखित संविधान की भिन्नता वास्तव में केवल मात्रा की भिन्नता है, तत्व की भिन्नता नहीं। संसार में ऐसा कोई भी संविधान नहीं जो पूर्ण रूप से लिखित या पूर्ण रूप से अलिखित हो। इंगलैण्ड का संविधान अलिखित संविधान कहलाता है परन्तु उसके भी बहुत लिखित अंग हैं, जैसे अधिकारों का पत्र (Bill of Rights), मैगना कार्टा (Magna Charta) इत्यादि।

इसी प्रकार अमेरिका के संविधान में, जो लिखित संविधान कहलाता है, रीति-रिवाज और जन-श्रुतियों के रूप में बहुत से अलिखित अंश हैं। राजनीतिक दलों के अधिकार और राष्ट्रपति का चुनाव, इसके कुछ उदाहरण हैं। प्रत्येक देश के लिखित संविधान में इसी प्रकार के अलिखित अंश होते हैं।

(३) सुपरिवर्तनशील और दुष्परिवर्तनशील या नमनीय और अनमनीय संविधान (Flexible and Rigid Constitution)

सुपरिवर्तनशील संविधान (Flexible Constitution) सुपरिवर्तनशील संविधान वह है जो कानून बनाने के साधारण तरीकों के द्वारा बदला जा सकता है।

ऐसे संविधान में संवैधानिक कानून और साधारण कानूनों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं रहता और इसलिए संवैधानिक नियमों को बदलने के लिए किसी खास व्यवस्था की जरूरत नहीं पड़ती। वे उसी संसद द्वारा बनाये तथा बदले जा सकते हैं जो साधारण कानूनों को पास करती है। इंगलैण्ड में इसी प्रकार का संविधान है। वहाँ संवैधानिक कानून उसी प्रकार बदले जा सकते हैं, जिस प्रकार कोई साधारण कानून।

दुष्परिवर्तनशील संविधान के गुण (Rigid Constitution)—यह वह संविधान है जो आसानी से न बदला जा सके अर्थात् जिसको बदलने के लिए असाधारण तरीकों का व्यवहार करना पड़े। इस प्रकार के संविधान में साधारण तथा संवैधानिक कानूनों में अन्तर होता है। साधारण कानून देश की विधान सभा द्वारा बदले जा सकते हैं परन्तु वैधानिक कानून नहीं। वे देश के साधारण कानूनों की अपेक्षा बहुत पवित्र समझे जाते हैं। उन्हें बदलने के लिए विशेष व्यवस्था की आवश्यकता पड़ती है। अमेरिका, फ्रांस और हिन्दुस्तान के संविधान दुष्परिवर्तनशील और अलिखित हैं।

दोनों प्रकार के संविधानों के गुण और दोष (Merits and Demerits)

सुपरिवर्तनशील संविधान के गुण (Merits of Flexible Constitution)—सुपरिवर्तनशील संविधान में गुण और अवगुण दोनों होते हैं। पहले हम इसके गुणों पर विचार करेंगे। (१) सर्वप्रथम सुपरिवर्तनशील संविधान के बदलने में किसी प्रकार की दिक्कत नहीं होती। वह समाज की नयी और परिवर्तित दशा के अनुसार बदला जा सकता है। उसको बदलने के लिए किसी विशेष आडम्बर की आवश्यकता नहीं पड़ती। (२) दूसरे, ऐसे संविधान के अन्तर्गत क्रान्ति का बीजारोपण देश में नहीं होने पाता। जनता जब चाहे संविधान को बदल सकती है। (३) तीसरे, वह समय के अनुसार चलता है और सभ्यता की उन्नति के साथ-साथ आगे बढ़ता है। सुपरिवर्तनशील संविधान विशेष-परिस्थितियों में जैसे युद्ध या राष्ट्रीय संकट के समय सुगमता से तोड़ा और मरोड़ा जा सकता है। दुष्परिवर्तनशील संविधान के साथ ऐसा नहीं हो सकता।

सुपरिवर्तनशील संविधान के दोष (Demerits of Flexible Constitution)—जहाँ सुपरिवर्तनशील संविधान में इतने गुण हैं वहाँ इसमें कुछ दोष भी पाये जाते हैं:—

(१) सर्वप्रथम यह विधान सभा के सदस्यों के हाथ में बहुत अधिक अधिकार दे देता है, जो स्वेच्छाचारी बनकर मनुष्यों के अधिकारों का अपहरण कर सकते हैं।

(२) दूसरे, संविधान में हर समय परिवर्तन किया जाना उचित नहीं; क्योंकि इससे दलबन्दियाँ और द्वेष की भावनाएँ बढ़ जाती हैं और सार्वजनिक कार्य में बहुत अस्त-व्यस्तता उत्पन्न हो जाती है। जनता आवेश में आकर बिना सोचे-समझे संविधान को बदल सकती है। संवैधानिक कानूनों में आये दिन परिवर्तन होने से देश का शासन ठीक प्रकार से नहीं चल सकता।

(३) तीसरे, सुपरिवर्तनशील संविधान केवल वही समाज स्वीकार कर सकता

है जिसकी राजनीतिक शिक्षा उच्चतम शिखर तक पहुँच चुकी हो। पिछड़े हुए देश इस प्रकार के संविधान पर अमल नहीं कर सकते।

दुष्परिवर्तनशील संविधान के गुण (Advantages of Rigid Constitution)—सुपरिवर्तनशील संविधान के समान दुष्परिवर्तनशील संविधान में भी गुण और अवगुण दोनों होते हैं।

(१) सर्वप्रथम, दुष्परिवर्तनशील संविधान निश्चित, स्थायी और दृढ़ होता है। उसे एक साधारण आदमी भी आसानी से समझ सकता है और उसे पढ़कर अपने अधिकारों को जान सकता है। वह अलिखित संविधान की भाँति अस्पष्ट नहीं होता।

(२) दुष्परिवर्तनशील संविधान मनुष्य की व्यक्तिगत स्वाधीनता की अधिक रक्षा करता है, क्योंकि इसके अन्तर्गत कार्यकारिणी सभा के अधिकार सीमित रहते है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के संविधान में बहुधा नागरिकों के मौलिक अधिकार का भी वर्णन होता है।

(३) तीसरे, यह अल्पसंख्यक जातियों के अधिकारों की रक्षा करता है और इस प्रकार उनकी बहुमूल्य सेवा करता है।

दोष (Disadvantages)—परन्तु इस प्रकार के संविधान में कुछ कमजोरियाँ भी होती है, जैसे (१) यह आसानी से नहीं बदला जा सकता और कभी-कभी इसमें बहुत आवश्यक परिवर्तन भी नहीं किये जा सकते।

(२) यह समय की बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुसार अपने आपको नहीं बदल सकता और इस प्रकार, ऐसा संविधान राष्ट्र की स्वास्थ्यपूर्ण उन्नति और विकास में बाधक सिद्ध होता है। लार्ड मैकाले ने बहुत ही ठीक कहा था कि "क्रान्ति का मूल कारण शासन संविधान की दुष्परिवर्तनशीलता है।"

(३) यह कानूनी बारीकियों से भरा हुआ और कानूनी भाषा में लिखा हुआ होने के कारण, साधारण जनता द्वारा नहीं समझा जा सकता। इसका अर्थ केवल बड़े-बड़े संवैधानिक पंडित ही समझ सकते है और उनकी राय में भी किसी एक धारा के आशय के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है।

परिणाम—इस प्रकार हम देखते है कि सुपरिवर्तनशील तथा दुष्परिवर्तनशील दोनों ही प्रकार के संविधानों में गुण और दोष दोनों होते है। वास्तव में एक संविधान के गुण दूसरे के दोष और दूसरे के दोष उसके गुण कहलाते है। उदाहरणार्थ सुपरिवर्तनशील संविधान का समय के अनुसार बदलना, दुष्परिवर्तनशील संविधान का दोष है और अनिश्चितता जो सुपरिवर्तनशील संविधान का दोष है, वही दुष्परिवर्तनशील संविधान का गुण है।

हमारी राय में जिन समाजों की राजनीतिक शिक्षा उच्च दर्जे की पूर्णता प्राप्त कर चुकी हो अर्थात् जहाँ के लोग शिक्षित और उन्नतिशील हो, अपने अधिकारों और कर्तव्यों

को बहुत अच्छी प्रकार से समझते हों, वहीं अलिखित तथा सुपरिवर्तनशील संविधान सफल हो सकता है।

परन्तु, जिस समाज की शिक्षा अपूर्ण है और जहाँ की जनसंख्या समान धर्मानुयायी नहीं है, अर्थात् जहाँ अल्पसंख्यक जातियाँ भी रहती हैं, उन स्थानों के लिए लिखित अथवा दुष्परिवर्तनशील संविधान अधिक उचित और न्यायसंगत जान पड़ता है।

वर्तमान समय में राज्यों की मनोवृत्ति निम्नलिखित कारणों से लिखित और दुष्परिवर्तनशील संविधान बनाने की ओर ही दिखलाई पड़ती है :—

(१) कार्यपालिका के अधिकारों को सीमित रखने के लिए,

(२) मनुष्यों के मौलिक अधिकारों की घोषणा करने के लिए,

(३) परस्पर विरोधी रीति-रिवाज और जन-श्रुतियों में मतभेद को मिटाने के लिए,

(४) संघीय संविधान का निर्माण करने के लिए और अन्त में,

(५) पुराने-संविधान का पुनः निर्माण करने के लिए।

एकात्मक और संघात्मक संविधान (Unitary and Federal Constitutions)

एकात्मक शासन संविधान (Unitary Constitution)—यह वह संविधान है जिसमें सरकार अपना सब काम एक केन्द्रीय स्थान से करती है। केन्द्रीय सरकार सुविधा की दृष्टि से प्रान्तों अथवा लोकल बोर्डों का निर्माण कर सकती है तथा उन्हें थोड़े-बहुत अधिकार दे सकती है, परन्तु वास्तव में सम्पूर्ण अधिकार केन्द्रीय सरकार में ही निहित रहते हैं और इन अधिकारों को वह अपनी इच्छानुसार छीन अथवा बढ़ा सकती है। इंगलैण्ड, फ्रांस और इटली में इसी प्रकार के एकात्मक शासन संविधान हैं। एकात्मक संविधान में केन्द्रीय धारा सभा केन्द्रीय न्यायालय तथा केन्द्रीय कार्यकारिणी को प्रमुख शक्ति प्राप्त होती है। इन्हीं की अध्यक्षता में बाकी शक्तियाँ अपना काम करती हैं। ऐसा संविधान उन राज्यों में अधिक सफल हो सकता है जिनका क्षेत्रफल छोटा हो तथा जिनकी जनता की भाषा एक हो तथा रस्म-रिवाज में विषमता न हो।

संघात्मक संविधान (Federal Constitution)—यह वह संविधान है जिसमें बहुत से स्वतन्त्र राज्य मिलकर, समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक संघ शासन कायम करते हैं। इस संघ में प्रत्येक संघीय राज्य विशेष क्षेत्रों के अन्तर्गत अपनी स्वाधीनता कायम रखता है, परन्तु कुछ ऐसे विषयों को जिसमें संघ के दूसरे राज्यों के समान ही उसका हित होता है, वह एक केन्द्रीय सत्ता के सुपुर्द कर देता है। ऐसे विषयों में हम देश की बाह्य आक्रमणों से रक्षा, विदेश-नीति, रेल, तार, डाक इत्यादि का प्रबन्ध शामिल कर सकते हैं। बाकी मामलों में प्रान्त स्वतन्त्र रहते हैं। वह इच्छानुसार उनका प्रबन्ध कर सकते हैं। इस प्रकार का शासन संविधान अमरीका, रूस, आस्ट्रेलिया, कैनाडा, अफ्रीका आदि देशों में है।

संघात्मक शासन संविधान के अन्दर शासन की सभी मशीनें दोहरी होती हैं–

एक केन्द्रीय शासन की और दूसरी राज्यों या प्रान्तों की। दोनों को ही अपनी अलग-अलग शासन-व्यवस्था रखनी पड़ती है। दो धारा सभाएँ, दो कार्यकारिणी, दो न्यायालय, दोहरी राजसत्ता, दो प्रकार के कानून इत्यादि दोहरी चीजें संघात्मक शासन-संविधान में पाई जाती हैं। नागरिकों को दो जगह से नागरिक अधिकार प्राप्त होते हैं—एक संघीय शासन के, दूसरे प्रान्त या राज्य की सरकार के। इसलिए उन्हें दोनों ही सरकारों के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करना पड़ता है।

एकात्मक और संघीय शासन में भेद (Distinction between Unitary and Federal Governments)

(१) संघीय शासन में अधिकार बँटे हुए रहते है, एकात्मक संविधान में वह केन्द्रीभूत होते हैं।

(२) संघीय शासन में शासन के अंग संविधान से अधिकार प्राप्त करते है। एकात्मक राज्य में प्रान्त, केन्द्रीय शासन से अधिकार प्राप्त करते हैं।

(३) संघीय संविधान लिखित और दुष्परिवर्तनशील रहता है। एकात्मक राज्य के लिए ऐसा संविधान जरूरी नहीं है।

(४) संघीय शासन में, एक स्वतन्त्र न्यायालय (Supreme Court) का होना अनिवार्य है, एकात्मक संविधान में नहीं।

संघ शासन के उद्देश्य (Purposes of Federation)

संघ शासन की स्थापना मुख्यतया निम्नलिखित उद्देश्यों से की जाती है —

(१) छोटे-छोटे राज्यों के साथ मिलकर संघ बनाने से उनकी शक्ति बढ़ जाती है और वे बाहरी आक्रमण का आसानी से मुकाबला कर सकते हैं।

(२) छोटे राज्य, आमदनी के साधनों की कमी के कारण, अपनी आर्थिक उन्नति ठीक प्रकार से नहीं कर सकते। बहुत से राज्यों के एक साथ मिलकर काम करने से यह असुविधा जाती रहती है।

(३) बहुत से राज्य जिनकी सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय परम्परा समान होती है, परन्तु जो अलग-अलग राज्यों में बँटे हुए हैं, राष्ट्रीय एकता प्राप्त करने के लिए एक संघ बना लेते हैं।

(४) संघ शासन विधान से देश की अन्तर्राष्ट्रीय मर्यादा बढ़ जाती है। उसकी राजनीतिक शक्ति बढ़ने से विदेशी शक्तियाँ उसका आदर-सत्कार करने लगती हैं।

(५) संघात्मक शासन विधान में बहुत से राज्यों के एक साथ मिलकर काम करने से, उनका खर्चा कम हो जाता है। बची हुई रकम से देश की औद्योगिक तथा आर्थिक उन्नति आसानी से की जा सकती है।

(६) इस प्रकार के शासन में एकात्मक शासन तथा स्वतन्त्र शासन दोनों के गुणों का सम्मिश्रण हो जाता है और उनकी बुराइयाँ दूर हो जाती है।

संघ शासन की स्थापना के लिए आवश्यक शर्तें (Requisite Conditions for the formation of a Federation)

संघ शासन संविधान के लिए कुछ शर्तों की पूर्ति आवश्यक है। इनके बिना संघ की स्थापना नहीं हो सकती। डाइसी (Dicey) के कथनानुसार ये शर्तें निम्नलिखित हैं :—

(१) संघ की स्थापना के लिए बहुत से छोटे-छोटे राज्य—कम से कम दो—होने चाहिएँ।

(२) संघ में शामिल होने की इच्छा रखनेवाले राज्य भौगोलिक दृष्टि से एक दूसरे से मिले-जुले होने चाहिएं—दूर-दूर नहीं। उनका क्षेत्रफल भी जहां तक हो, समान ही होना चाहिए जिससे कोई बड़ा अंग छोटे अंग को दबाकर न रख सके।

(३) संघ में मिलनेवाले राज्यों की संस्कृति, इतिहास, भाषा, रीति-रिवाज, धर्म, जाति इत्यादि एक-से ही होने चाहिए जिससे उनमें राष्ट्रीय भावना की जागृति उत्पन्न होने में दिक्कत न हो।

(४) संघ में शामिल होनेवाले राज्यों में मिलकर काम करने की उत्कण्ठा होनी चाहिए, परन्तु एकरूप होकर नहीं। एकरूप होकर काम करने की भावना से संघ का नहीं एकात्मक (Unitary) राज्य का जन्म होता है। उपरोक्त शर्तों के पूरा होने पर ही एक अच्छे और स्थायी संघ की स्थापना हो सकती है।

संघीय संविधान की विशेषताएँ (Salient Features of a Federal Constitution)

संघीय शासन का संविधान बनाते समय तीन बातों का ध्यान अवश्य रखना चाहिए—

(१) **दुष्परिवर्तनशील और लिखित संविधान (Written and Rigid Constitution)**—बहुत से राज्यों के बीच, कुछ समान उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए एक समझौते या मुआहदे का नाम ही संघ है। इसीलिए यह आवश्यक है कि इस समझौते या मुआहदे की शर्तें संविधान के रूप में लिख ली जायँ और बाद में उनको आसानी से न बदला जा सके। संविधान के अलिखित होने से केन्द्रीय और प्रान्तीय राज्य की सरकारों में मतभेद हो सकता है।

(२) **अधिकारों का बँटवारा (Division of Powers)**—केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के अधिकार भली-भाँति स्पष्ट होने चाहिएँ। उनका विभाजन स्पष्ट होना चाहिए। जिस उद्देश्य से संघीय राज्य की स्थापना की जाती है उसमें राष्ट्रीय शासन और पृथक् राज्यों के अधिकारों का बँटवारा सन्निहित होता है। और इसलिए, उनके पृथक् कार्य-क्षेत्रों को विशेष रूप से निश्चित कर देना चाहिए। बँटवारे का सिद्धान्त यह होता है कि जो अधिकार सब अंगों के समान हित के लिए होते हैं अर्थात् जिन विषयों में समान नियम तथा नियंत्रण की आवश्यकता पड़ती है वे केन्द्रीय शासन के अधिकार में रखे जाते हैं, बाकी विषय स्थानीय अंगों के अधिकार में। उदाहरणार्थ इस प्रकार

के अधिकार जैसे विदेश नीति (Foreign policy), प्रतिरक्षा (Defence), करन्सी (Currency), सिक्का (Coinage) डाक और तार (Post and Telegraph), आयात और निर्यात (Customs), मुद्रण और प्रकाशन अधिकार (Patents and Copyrights) इत्यादि सभी जगह केन्द्रीय शासन के सुपुर्द किये जाते हैं। दूसरे अधिकार जैसे विधि और व्यवस्था (Law and Order), जेल, न्याय, शिक्षा, स्वास्थ्य, उद्योग इत्यादि प्रान्तों के अधिकार में रखे जाते हैं। संविधान के बचे हुए अवशिष्ट अधिकार (Residuary powers) कुछ देशों जैसे अमेरिका और स्विटजरलैण्ड में केन्द्रीय शासन को दिये जाते हैं। परन्तु कुछ दूसरे संविधानों जैसे, कैनाडा में राष्ट्रीय शासन को दिये जाते हैं, प्रान्तों को नहीं।

(३) संविधान के संरक्षण के लिए एक स्वतन्त्र न्यायालय की स्थापना (The establishment of a Court to Act as interpreter or guardian of the Constitution)—संघ शासन में विषयों का विभाजन कितना ही पूर्ण क्यों न हो, प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकारों में संघर्ष हो रहता है। लिखित शब्दों की व्याख्या कई प्रकार से की जा सकती है। इसलिए संघ तथा राज्यों की सरकारों का फैसला करने के लिए प्रत्येक संघीय राज्य में एक स्वतन्त्र न्यायालय का होना अनिवार्य है। यह न्यायालय संघ शासन का रक्षक कहा जाता है।

किस प्रकार का संविधान सबसे अच्छा माना जाता है?

उपसंहार—शासन संविधानों के उपरोक्त वर्णन के पश्चात् यह जानने की अभिलाषा होती है कि किस प्रकार का संविधान सबसे अच्छा माना जाता है। इस सम्बन्ध में हम यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि कोई एक प्रकार का संविधान प्रत्येक देश के लिए उपयुक्त सिद्ध नहीं हो सकता। संविधान की उपयोगिता देश की भौगोलिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक अवस्था पर निर्भर होती है। एक देश के लिए एकात्मक और दूसरे के लिए संघीय शासन उपयुक्त हो सकता है। इसी प्रकार की बात लिखित और अलिखित संविधान के बारे में भी है। अच्छे संविधान की पहचान यही है कि वह कहाँ तक जनता की सच्ची इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है।

शासन संविधान के विकास के साधन (Methods of the Growth of Constitution)

प्रत्येक देश के शासन संविधान में समय की प्रगति के साथ-साथ कुछ न कुछ विकास की आवश्यकता पड़ती है। इस तरह के विकास के तीन मुख्य साधन हैं

(१) संशोधन द्वारा (By Amendment)—शासन संविधान में लिखित परिवर्तन करने के तरीके भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न हैं। अमेरिका में यह परिवर्तन वहाँ की कांग्रेस के तीन-चौथाई तथा राज्यों की धारा सभाओं के दो-तिहाई बहुमत से किया जाता है। इंगलैण्ड में यह परिवर्तन पार्लियामेंट द्वारा किसी दूसरे साधारण कानून की भाँति किया जा सकता है। फ्रांस में यह परिवर्तन वहाँ की नेशनल एसेम्बली ही कर

सकती है। वर्तमान समय में अधिकतर संवैधानिक परिवर्तन लिखित रूप में ही किये जाते हैं।

(२) न्यायालयों के फैसले द्वारा (Interpretation by Courts)—बहुत से संविधानों में न्यायालय के फैसलों के द्वारा परिवर्तन किये जाते हैं। जब किसी विषय पर संविधान में कोई निश्चित बात नहीं होती या उसकी किसी धारा के आशय के सम्बन्ध में राजनीतिक पंडितों में मतभेद होता है तो अदालतें ही ठीक बात का निश्चय करती हैं। यही अदालतों के फैसले आगे चलकर शासन संविधान के नियम बन जाते हैं।

(३) रीति-रिवाज (Customs and Conventions)—प्रत्येक शासन संविधान में कुछ रीति-रिवाज भी जन्म ले लेते हैं। जनता की अनुमति के कारण यह शासन संविधान के आवश्यक अंग बन जाते हैं। इनके तोड़े जाने पर कोई संवैधानिक आपत्ति तो नहीं होती परन्तु जनमत इनके तोड़नेवालों के विरुद्ध हो जाता है। इंगलैण्ड में इन्हीं रीति-रिवाजों के आधार पर वहाँ का संविधान आश्रित है।

योग्यता प्रश्न

१. आप राज्य संविधान से क्या अर्थ समझते हैं? परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील संविधानों के अन्तर को स्पष्ट रूप से समझाइये। (यू० पी०, १९३७)

२. ऐसा कहा जाता है कि लिखित और अलिखित, परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील संविधान का अन्तर केवल मात्रा (Kind) का है, प्रकार (Degree) का नहीं। इस पर प्रकाश डालिये।

३. आप संविधान शब्द से क्या समझते हैं? किस सिद्धान्त पर वर्तमान संविधानों का वर्गीकरण अवलम्बित है?

४. अच्छे संविधान की क्या-क्या आवश्यकताएँ हैं?

५. विभिन्न प्रकार के संविधान के तरीकों का संक्षिप्त वर्णन कीजिये और उनका वर्गीकरण किस आधार पर किया गया है, उसे समझाइए। (यू० पी०, १९३२)

६. एकात्मक और संघीय विधान के भेद को स्पष्ट रूप में समझाइए। (यू० पी० १९३६)

७. नमनीय और अनमनीय संविधान पर संक्षिप्त नोट लिखो। (यू० पी०, १९५३)

८. संविधान शब्द की व्याख्या कीजिए और यह बताइये कि एक अच्छे संविधान में किन-किन बातों की आवश्यकता है? (यू० पी०, १९५४-५५, पंजाब, १९५५)

९. परिवर्तनशील (Flexible) और अपरिवर्तनशील (Rigid) संविधानों में अन्तर बतलाइए तथा दोनों के गुण-दोषों पर प्रकाश डालिए। (यू० पी०, १९५६)

१०. अच्छे संविधान के आवश्यक गुणों पर एक छोटा सा निबन्ध लिखिए। यह भी बतलाइये कि भारतीय संविधान में वे गुण कहाँ तक मौजूद हैं। (यू० पी०, १९५८)

अध्याय १५

राज्यों और शासन का वर्गीकरण

(Classification of States)

§ १. राज्यों का वर्गीकरण

विविध राजदार्शनिकों में राज्य के वर्गीकरण के आधारों के सम्बन्ध में गंभीर मतभेद है। कुछ लेखकों का कहना है कि राज्यों का वर्गीकरण शासन के आधार पर ही होना चाहिए, क्योंकि शासन ही राज्य का बाहरी स्वरूप है। राज्य के दूसरे गुण गौण है। उन गुणों के आधार पर राज्य का वर्गीकरण करना न उपयोगी ही है और न वैज्ञानिक ही। उदाहरणार्थ, राज्य के चार तत्वों में भूमि, जनसंख्या, शासन और सम्प्रभुता है। यह चार गुण सभी राज्यों में समान रूप से पाये जाते है। यह बात ठीक है कि कुछ राज्यों में भूमि कम होती है, कुछ में अधिक, कुछ राज्यों की जनसंख्या अधिक होती है और कुछ की कम। परन्तु इतना कहने से राज्यों का वर्गीकरण नही हो जाता। वास्तव में राज्य का बाह्य स्वरूप जिसे जनता देखती है तथा जिसे आसानी से जाना जा सकता है, शासन ही है। इसी के आधार पर राज्यों का वर्गीकरण होना चाहिए। लीकॉक (Leacock), गिलक्राइस्ट (Gilchrist) और कुछ अन्य लेखक भी इसी मत के अनुयायी हैं।

§ २. शासन या सरकार का वर्गीकरण

अरस्तू का वर्गीकरण

शासन के आधार पर भिन्न-भिन्न लेखकों ने राज्यों का अलग-अलग प्रकार से वर्गीकरण किया है। इन वर्गीकरणों में प्राचीन राजनीतिज्ञ अरस्तू (Aristotle) का वर्गीकरण सबसे प्रसिद्ध है। इस वर्गीकरण का आधार सरकार के सर्वोच्च अधिकारियों की संख्या तथा उनका शासन-सिद्धान्त है। अरस्तू के कथनानुसार, शासकों का शासन या तो जनता के हित के लिए होता है या अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए। जिन राज्यों का लक्ष्य जनता की सेवा है उन्हें उचित (Normal Form) तथा जिनका लक्ष्य स्वार्थसिद्धि है उन्हें विकृत राज्य (Perverted Form) कहा जाता है। इस सिद्धान्त को शासकों की संख्यावाले सिद्धान्त से मिलाकर अरस्तू ने राज्यों की निम्नलिखित किस्में बतलाई हैं :

शासन-विधान का स्वरूप	उचित दशा जिसमें शासक प्रजा के हित का ध्यान रखता है (Normal Form)	विकृत दशा जिसमें शासक अपनी स्वार्थ-सिद्धि का ध्यान रखता है (Perverted Form)
एक व्यक्ति का शासन	राजतन्त्र या एकतन्त्र (Monarchy)	अत्याचार तन्त्र (Tyranny)
कुछ व्यक्तियों का शासन	कुलीन तन्त्र (Aristocracy)	वर्ग तन्त्र (Oligarchy)
बहुसंख्यक व्यक्तियों का शासन	लोकतन्त्र या बहुतन्त्र (Polity)	कुलीन तन्त्र या जनतंत्र (Democracy)

अरस्तू ने बहुसंख्यक उचित शासन के लिए बहुतंत्र (Polity) शब्द का प्रयोग किया था और उसके विकृत स्वरूप के लिए जनतन्त्र (Democracy) शब्द का प्रयोग किया था। परन्तु आजकल जनतन्त्र (Democracy) शब्द का प्रयोग बहुधा शुद्ध और साधारण तरीके के शासन के लिए किया जाता है। इसलिए बहुत से लेखक प्रजातन्त्र या जनतन्त्र के कलुषित रूप के लिए भीड़तन्त्र (Mobocracy) शब्द का प्रयोग करते हैं।

सरकारों का परिवर्तन चक्र—अरस्तू ने बताया कि किस प्रकार सरकारों के स्वरूप में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। उसने कहा कि सर्वप्रथम सब राज्यों में एकतंत्रीय सरकार होती है। इस सरकार के अन्तर्गत राजा जनता के हित में देश का शासन करता है, परन्तु कालान्तर में ऐसे राजा जन्म लेते हैं जो जनता का हित-साधन नहीं, वरन् अपनी स्वार्थसिद्धि करने लगते हैं। ऐसे समय में जनता के विवेकशील तथा सदाचारी व्यक्ति अत्याचारी शासन के विरुद्ध हो जाते हैं और उसे पदच्युत कर स्वयं अपने हाथ शासन की बागडोर सँभाल लेते हैं। इस प्रकार कुलीनतन्त्र शासन की स्थापना हो जाती है। परन्तु कुछ समय पश्चात ये थोड़े से व्यक्ति जनता के हित के बजाय स्वयं अपनी हित-साधना में लग जाते हैं और कुलीनतंत्र सरकार वर्गतन्त्र में बदल जाती है। वर्गतंत्र में धनी व्यक्तियों का राज्य होता है, गुणी पुरुषों का नहीं। यह लोग जनता का शोषण कर केवल धन के एकत्रीकरण को ही अपना ध्येय बना लेते हैं, इसलिए जनता इनके विरुद्ध भी विद्रोह कर बैठती है और स्वयं अपने हाथ में राज की शक्ति सँभाल लेती है। इस प्रकार प्रजा-तंत्र राज्य की स्थापना हो जाती है। कुछ काल पश्चात् प्रजा में फूट पड़ जाती है और सब व्यक्ति अपने-अपने हाथों में ही शासन-शक्ति को केन्द्रित करने के लिए उतावले हो जाते हैं। इस प्रकार प्रजातंत्र शासन जनता का शासन न रहकर, एक भीड़ का शासन बन जाता है। इस अवस्था को दूर करने के लिए कोई एक नेता अपने हाथ में सारी शक्ति

ले लेता है और इस प्रकार फिर एकतन्त्र का जन्म हो जाता है। अरस्तू का कहना था कि सरकारों का यह परिवर्तन-चक्र अबाध रूप से चलता रहता है।

अरस्तू के वर्गीकरण की आलोचना—अरस्तू का शासकों का वर्गीकरण बहुत काल तक ठीक माना जाता रहा। अनेक लेखकों ने घुमा-फिराकर इसी वर्गीकरण को अपनाया, परन्तु आधुनिक काल में यह वर्गीकरण दोषपूर्ण सिद्ध हुआ। इसका मुख्य कारण यह है कि अरस्तू ने सम्मिलित सरकारों के लिए कोई रूप निश्चित नहीं किया। आजकल बहुत-सी सरकारें ऐसी पाई जाती हैं जिनमें प्रजातन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा एकतन्त्र सभी सरकारों के गुण विद्यमान रहते हैं। इसके अतिरिक्त अध्यक्षात्मक, संसदीय, संघात्मक, धर्मतन्त्र तथा धर्म-निरपेक्ष राज्यों का अरस्तू ने कोई जिक्र नहीं किया।

सरकारों का आधुनिक वर्गीकरण

आधुनिक काल में अनेक लेखकों ने जिनमें मॉन्टेस्क्यू, बर्गस, मैरियट, लीकॉक, गार्नर इत्यादि प्रमुख हैं, सरकारों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया है। इनमें से किसी एक मत को सर्वश्रेष्ठ ठहराना ठीक नहीं, कारण सभी वर्गीकरणों में कुछ गुण तथा दोष विद्यमान हैं। आजकल के राज्यों को देखते हुए जिस आधार पर अधिकतर सरकारों का वर्गीकरण किया जाता है वह निम्नलिखित है —

(१) धर्म और राजनीति का सम्बन्ध—इस आधार पर सरकारों को धर्मतन्त्र या धर्मनिरपेक्ष कहा जाता है।

(२) शासकों की संख्या—इस आधार पर सरकारों को राजतन्त्र (निरकुंश या सीमित) तानाशाही, नौकरशाही या प्रजातान्त्रिक (प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष) कहा जाता है। कुलीनतन्त्रों की प्रथा आजकल समाप्त हो गई है, केवल राज्यों की उच्च विधान सभा में उसके कुछ तत्व पाये जाते हैं।

(३) कार्यपालिका और विधान सभा का सम्बन्ध—इस आधार पर सरकारों को मन्त्रिमण्डलात्मक (संसदीय) या अध्यक्षात्मक (राष्ट्रपतिक) कहा जाता है।

(४) शासन के अधिकारों का विभाजन—इस आधार पर शासकों को एकात्मक या संघात्मक कहा जाता है।

सरकारों के आधुनिक वर्गीकरण का विस्तृत विवेचन करने से पहले हम उसके प्राचीन वर्गीकरण के आधार पर सरकारों का विश्लेषण करेंगे और प्रत्येक प्रकार की सरकार के गुण व दोषों पर प्रकाश डालेंगे। इसके पश्चात् आधुनिक वर्गीकरण के अन्तर्गत सरकारों का वर्णन किया जायगा।

§ ३. सरकारों का प्राचीन वर्गीकरण

जैसा पहले बताया जा चुका है, अरस्तू ने सरकारों के तीन साधारण रूप बतलाये थे—राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा प्रजातन्त्र। अब हम इन तीनों प्रकार की सरकारों का विस्तृत वर्णन करेंगे।

राजतन्त्र (Monarchy)

यह शासन की वह व्यवस्था है जिसमें राज्य का अन्तिम अधिकार एक ही मनुष्य के हाथ में रहता है। संसार के प्रायः प्रत्येक देश में, प्राचीन काल में, राज्य की यही प्रणाली थी। राजा दो प्रकार के हुआ करते थे—(१) निर्वाचित अर्थात् जनता द्वारा चुने हुए और (२) वंशपरम्परागत (Hereditary)। अधिकतर राजा वंशपरम्परागत ही होते थे। वर्तमान काल में निर्वाचित (Elected) राजाओं की प्रणाली नहीं है। वे या तो निरंकुश राजा (Absolute Monarch) होते हैं या वैधानिक राजा (Constitutional Monarch)

(अ) निरंकुश राजतंत्र (Absolute Monarchy)—यह शासन की वह व्यवस्था है जहाँ अकेला मनुष्य राज्य के शासन-यन्त्र का संचालन करता है। वह राज्यकार्य चलाने में अपनी प्रजा की राय नहीं लेता। उसकी शक्ति असीमित होती है, वह अपनी इच्छानुसार शासन करता है। कोई भी कानून या संवैधानिक अवरोध उसके कार्य में बाधा नहीं डाल सकते।

निरंकुश राजतंत्र की प्रथा से लाभ—निरंकुश राजतंत्र की प्रथा संसार में सबसे पुरानी, सबसे अधिक विस्तृत तथा सबसे अधिक स्वाभाविक प्रथा है। सारा संसार इसी शासन के तरीके से आरम्भ हुआ और आज भी यह प्रथा कितने ही देशों में पाई जाती है। इस प्रथा के अनेक लाभ हैं :—

(१) सर्वप्रथम, यह शासन की ऐसी व्यवस्था है जिसमें अन्यान्य शासनों की अपेक्षा अधिक शक्ति, संगठन की सादगी, शीघ्र काम करने की क्षमता, उद्देश्य तथा नीति की समानता और दीर्घकालीनता के गुण वर्तमान रहते हैं।

(२) इस प्रकार के शासन में कानून पर आसानी से अमल किया जा सकता है क्योंकि राजा को शिक्षित उच्च पदाधिकारियों को चुनने का पूर्णाधिकार रहता है और यह कर्मचारी एक ही मनुष्य के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

(३) सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था में यही शासन-प्रणाली समाज में नियंत्रण तथा व्यवस्था कायम रखने के लिए उपयुक्त सिद्ध हो सकती थी। यह शासन-प्रणाली देश के विभिन्न अंगों को एक मजबूत संगठन में आबद्ध करके संवैधानिक शासन का मार्ग तैयार करती है।

(४) इस प्रकार का शासन कम खर्चीला होता है—विधान सभाओं को कायम करने और चुनाव संचालन के लिए जो अत्यधिक धन व्यय होता है उसकी इस शासन में बचत हो जाती है।

(५) राजा राज्य का बुद्धिमान मुखिया होता है और इसलिए युद्ध या राष्ट्रीय संकट के समय सब लोग उसकी छत्रछाया में इकट्ठे होकर राज तथा देशभक्ति का प्रदर्शन कर सकते हैं।

निरंकुश राजतन्त्र से हानि—निरंकुश राजतन्त्र की प्रथा वर्तमान परिस्थिति के

लिए उपयुक्त नहीं है। कोई भी सभ्य समाज इस प्रकार के शासन को पसन्द नहीं करता। इसके अनेक कारण है :—(१) प्राय निरकुश राजा अपने अधिकारों का दुरुपयोग कर अपनी स्वार्थ-सिद्धि ही करते है। इसीलिए ऐसे राज्यो मे प्रजा अधिकतर दुखी रहती है। यदि राजा अच्छा हो तो निरकुश राज भी अच्छा हो सकता है, परन्तु ऐसा होना सदा सम्भव नहीं होता।

(२) अच्छे शासन की परख केवल उसकी कुशलता से ही नहीं की जाती वरन् उसके जनता में आत्म-सम्मान, विश्वास तथा शिक्षा-प्रदान करने की शक्ति से की जाती है। निरकुश राजतन्त्र मे ये सब बाते नहीं होती।

(३) इस प्रकार के शासन मे जनता मे राजनीतिक जागृति पैदा नहीं होती और वह सुप्त, अकर्मण्य और आलसी बनी रहती है।

(४) राजाओं की नियुक्ति की वश-परम्परागत प्रथा किसी भी प्रकार न्याय-सगत नहीं कही जा सकती। कोई राजा अच्छा हो सकता है परन्तु यह कैसे कहा जा सकता है कि उसकी सन्तान भी योग्य ही होगी।

यह प्रथा वर्तमान काल मे यूरोप के प्राय सभी देशो मे से उठ गई है और पूर्वीय देशों से धीरे-धीरे उठती चली जा रही है।

संवैधानिक या सीमित राजतन्त्र (Constitutional or Limited Monarchy)—यह शासन की वह व्यवस्था है जिसमें राजा के अधिकार राज्य के सविधान अथवा कानून द्वारा सीमित कर दिये जाते हैं। राजा सविधान को रद्द नहीं कर सकता। वह इस प्रकार के सविधान में सिंहासनारूढ अवश्य रहता है परन्तु प्रजा पर शासन नहीं करता। वह केवल राज्य का एक आदरणीय मुखिया समझा जाता है। देश का असली शासन जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियो द्वारा किया जाता है। इगलैण्ड, बेलजियम, हालैण्ड इत्यादि देशो में इसी प्रकार का शासन-विधान है।

संवैधानिक राजतन्त्र से लाभ—सवैधानिक राजतन्त्र के अनेक गुण होते हैं :

(१) इस प्रकार के शासन में स्वेच्छाचारी राजा के दोष निकलकर सुयोग्य राजा के न्यायपूर्ण शासन के गुण आ जाते है।

(२) राजा राज्य का प्रत्यक्ष मुखिया होता है और इसलिए उसके प्रति लोगो की राजभक्ति अधिक जागृत होती है।

(३) निर्वाचन के फलस्वरूप, राज्य की कार्यकारिणी के नेता के चुने जाने के समय जो राजनीतिक अशान्ति और उथल-पुथल कभी-कभी हो जाती है, उसे इस प्रकार का शासन मिटा देता है।

(४) यह राज्य-सचालन में कार्यकारिणी की नीति को स्थायित्व और दीर्घ-कालीनता प्रदान करता है।

(५) शासन की कार्यकारिणी सभा को एक ऐसे सुयोग्य व्यक्ति के उचित परामर्श का लाभ प्राप्त हो जाता है जिसे शासन-कार्य का काफी अनुभव प्राप्त रहता है।

हानि (Defects)—इस प्रथा में कुछ दोष भी हैं।

(१) सर्वप्रथम यह कि वंश-परम्परागत राज्यारोहण से इस बात का कभी भी विश्वास नहीं होता कि राज्य में एक विशेष राजा का उत्तराधिकारी भी हमेशा योग्य शासक ही सिद्ध होगा।

(२) दूसरे, इस प्रकार के शासन में इस बात का सन्देह भी बना रहता है कि कहीं राजा अपने अधिकारों का दुरुपयोग न करने लगे। (३) आजकल के प्रजातन्त्र-वादी युग में, जहाँ सर्वत्र समानता और भाईचारे का प्रचार है, यह प्रथा समयानुकूल नहीं जान पड़ती।

कुलीनतन्त्र (Aristocracy)

कुलीनतन्त्र शासन हम उस प्रकार की शासन व्यवस्था को कहते हैं जिनमें कुछ थोड़े से बड़े व्यक्ति शासन का संचालन करते हैं। यह बड़े व्यक्ति कई प्रकार के हो सकते हैं—सबसे धनवान्, सबसे कुलीन, सबसे बुद्धिमान्, आचारवान्, सबसे बलवान् इत्यादि। कुलीनतन्त्र शासन के भी इसी कारण यह सब भेद हो सकते हैं।

कुलीनतन्त्र कोई बुरी सरकार नहीं है। यदि थोड़े से योग्य और बुद्धिमान् व्यक्ति सम्पूर्ण प्रजा के हित का ध्यान रखते हुए शासन करें तो वह बुरी सरकार न होगी। परन्तु ऐसा प्रायः नहीं होता। कुलीनतन्त्र शासन में सरकार की बागडोर बुद्धिमानों के हाथ से निकलकर पूँजीपतियों के हाथ चली जाती है; क्योंकि वही अपने धन की शक्ति से दूसरों पर छा जाते हैं। धनियों का शासन सदा अच्छा नहीं होता—एक तो इस कारण से कि धनी लोग अक्सर चरित्रहीन होते हैं, उनका रुपया अधिकतर बेईमानी और छल-कपट से कमाया होता है। और दूसरे इसलिए कि धनी अपने स्वार्थ का अधिक ध्यान रखते हैं जनता की भलाई का बहुत कम।

कुलीनतन्त्र शासन वर्तमान काल में अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता क्योंकि यह प्रजातन्त्रवाद का युग है; परन्तु फिर भी प्रायः सभी देशों में किसी न किसी रूप में कुलीन-तन्त्र शासन की प्रथा कायम रखी गई है। विधान-मण्डलों के उच्च भवन (Upper Houses) में प्रायः प्रत्येक देश में धनी, शिक्षक, जमींदारों, पूँजीपतियों तथा बड़े कुल-वालों को प्रतिनिधित्व दिया जाता है।

कुलीनतन्त्र शासन के गुण—कुलीनतन्त्र शासन के गुण इस प्रकार हैं :—

(१) इस प्रकार के शासन में भीड़ का शासन नहीं होता। यह कुछ थोड़े से बुद्धिमान् तथा चुने हुए व्यक्तियों का शासन होता है। (२) इस प्रकार के शासन में अनुभव और शिक्षा पर अधिक जोर दिया जाता है। केवल उन्हीं लोगों के हाथ में राज-सत्ता सौंपी जाती है जिन्हें शासन-कला की विशेष शिक्षा मिली हो। (३) इस प्रकार के शासन में प्राचीन रीति-रिवाजों, जन-श्रुतियों तथा संस्कृति और साहित्य की अधिक इज्जत की जाती है। (४) ऐसे शासन में सामाजिक क्रान्तियाँ कम होती हैं, शासन अधिक स्थायी होता है और सरकार की नीति में आये दिन परिवर्तन नहीं होते। (५)

इस प्रकार की शासन-प्रणाली में राजतन्त्र और प्रजातन्त्र दोनों प्रकार के शासन के दोषों का अभाव रहता है। (६) अन्त मे यह शासन उन लोगो द्वारा संचालित होता है जिनका समाज में अपने धन, चरित्र या कुल की महत्ता के कारण अधिक मान होता है।

दोष—परन्तु इस प्रकार के शासन में कुछ दोष भी होते है और उनमें सबसे बडा यह है कि (१) जब किसी विशेष वर्ग के हाथ मे शासन की बागडोर आ जाती है तो वह सरकार की मशीन का उपयोग जनता की भलाई के लिए नही वरन् अपने स्वार्थ के लिए करता है। ऐसे कुलीन लोग किसी समाज में बहुत कम मिलते है जो जनता की ही भलाई का ध्यान रखें, अपनी भलाई का नहीं। (२) कुलीनतन्त्र शासन मे अक्सर धनी लोगों का ही राज्य होता है और धन सदा बुद्धि का परिचायक नही। (३) इस प्रकार का शासन वंश-परम्परागत की प्रथा अख्तियार कर लेता है, और शासक वर्ग के कुल में ही राजसत्ता परिवर्तित होती रहती है। (४) अन्त में यह शासन-व्यवस्था उन्नतिशील नही होती, इसमे अपरिवर्तनशीलता का अंश रहता है।

प्रजातन्त्र सरकार (Democracy)

प्रजातन्त्र सरकार का अर्थ प्रजा का शासन है। जिस देश में जनता अपनी स्वेच्छा से राजकीय कामो में भाग लेती है तथा राज्य के कार्य का स्वयं संचालन करती है, उस देश में प्रजातन्त्र राज्य की व्यवस्था मानी जाती है। प्रजातन्त्र राज्य की व्याख्या भिन्न-भिन्न लेखकों ने अपने ढंग से अलग-अलग प्रकार से की है। प्रसिद्ध राजनीतिक ब्राइस (Bryce) का कथन है कि "प्रजातन्त्र राज्य शासन का वह प्रबन्ध है जिसमें राज्याधिकार किसी विशेष श्रेणी के लोगों को नही वरन् समूचे समाज के लोगों को प्रदान किये जाते है।"[1] अब्राहम लिंकन (Abraham Lincoln) का कहना है "प्रजातन्त्र वह सरकार है जिसमें सम्पूर्ण जनता अपनी भलाई के लिए अपने तरीके से शासन करती है।"[2] अरस्तू के मतानुसार प्रजातन्त्र सरकार वह है जिसमें राज्य के बहुसंख्यक वर्ग का शासन हो। सीले के मतानुसार प्रजातन्त्र वह व्यवस्था है जिसमें सभी का भाग रहता है।[3] डायसी की सम्मति में "प्रजातन्त्र वह राज्य है जिसमें जनता का अपेक्षाकृत बड़ा भाग शासन करता है।"

संक्षेप में प्रजातन्त्र सरकार वह है जहाँ चुनाव के अधिकार के द्वारा जनता के प्रत्येक बालिग पुरुष या स्त्री को, अपने शासक चुनने का अधिकार होता है तथा जहाँ जनता अपनी राय के द्वारा शासन की नीति का निर्णय कर सकती है।

---

1. That form of Government in which the ruling power of a State is legally vested, not in any particular class, but in the members of the community as a whole. (Bryce)

2. *Democracy is a Government of the people, for the people, and by the people.* (Abraham Lincoln)

3. A Government in which everybody has a share. (Seeley)

प्रजातन्त्र का व्यापक अर्थ (Wider meaning of Democracy)

परन्तु यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि प्रजातन्त्र केवल सरकार की व्यवस्था का ही रूप नहीं है, वह समाज और उसकी आर्थिक व्यवस्था का भी एक विशेष रूप है। वास्तव में, किसी देश में वहाँ की जनता को मताधिकार देने से ही प्रजातंत्र राज्य की स्थापना नहीं हो जाती, असली प्रजातंत्र राज्य स्थापित करने के लिए अन्य कई बातों की आवश्यकता पड़ती है। प्रजातंत्र एक विशेष प्रकार के राजनीतिक संगठन, सामाजिक संगठन तथा आर्थिक व्यवस्था का नाम है। (Democracy is not only a form of Government, it is a form of Society, a form of State and a form of economic and moral order)

राजनीतिक क्षेत्र में प्रजातन्त्र शासन का केवल यह ही अर्थ नहीं कि राजशक्ति जनता के हाथ में हो, वरन् यह भी आवश्यक है कि जनता ही राज-काज का काम चलाती हो, अपने लिए स्वयं कानून बनाती हो, अपने शासकों का स्वयं चुनाव करती हो तथा उन्हें जब चाहे बदल सकती हो। इसके अतिरिक्त सामाजिक क्षेत्र में प्रजातंत्र का अर्थ है—'समाज में जाति-पाँति, ऊँच-नीच, छूत-अछूत और छोटे-बड़े का भेदभाव न होना।' सब मनुष्य बराबर समझे जाने चाहिए। जन्म, धन, खून अथवा जाति की महत्ता के कारण कोई मनुष्य दूसरों से बड़ा नहीं माना जाना चाहिए। मानवता के आधार पर सब मनुष्य बराबर हैं। उनमें अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए समान शक्तियाँ विद्यमान हैं। उन्हें समाज में उन्नति करने के एक-से ही अवसर प्रदान होने चाहिएँ। आर्थिक क्षेत्र में प्रजातंत्र का अर्थ है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी जीविका के सम्बन्ध में स्वावलम्बी तथा स्वतन्त्र हो और देश के सभी मनुष्यों की आर्थिक स्थिति लगभग समान हो। एक ओर घोर गरीबी और दूसरी ओर अत्यन्त धन-सम्पन्नता के वातावरण में प्रजातंत्रात्मक राष्ट्र का निर्माण नहीं हो सकता। जिस देश में गरीब किसान और मजदूरों का शोषण होता हो तथा जहाँ कुछ थोड़े से पूँजीपतियों के हाथ में राष्ट्र की सम्पत्ति और उत्पादन-शक्ति केन्द्रित हो वहाँ प्रजातंत्र राज्य कायम नहीं रह सकता। ऐसे देश में राजनीतिक शक्ति भी धन-सम्पन्न लोगों के हाथ में ही रहती है, ऐसे लोग धन के बल पर राय खरीद सकते हैं और इस प्रकार शासन की मशीन को अपने कब्जे में कर सकते हैं।

वास्तव में प्रजातंत्र एक ऐसा नैतिक सिद्धान्त है जिसके अन्तर्गत किसी देश की समाज और सरकार का संगठन मानवता के आधार पर होता है। इस प्रकार के संगठन में जनता में राजनीतिक जागृति तथा अपने व्यक्तित्व के विकास के प्रति उत्कंठा का भाव होना अत्यन्त आवश्यक है। जिस देश की जनता पिछड़ी हुई है, जहाँ उसमें किसी प्रकार की राजनीतिक जागृति (Political consciousness) नहीं है, तथा जहाँ कुछ थोड़े से मुट्ठी भर लोगों के पास ही धन-सामग्री जुटी हुई है, वहाँ किसी भी प्रकार का प्रजातंत्र राज्य कायम नहीं हो सकता।

प्रजातन्त्र शासन और स्वतन्त्रता एवं समानता का सिद्धान्त (Democracy as based on the principle of Liberty and Equality)

प्रजातन्त्र का सिद्धान्त राजनीति के दो मूल सिद्धान्तों पर अवलम्बित है—(१) स्वतन्त्रता (Liberty) और (२) समानता (Equality)। इन सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन हम पिछले अध्यायों में कर आये हैं। यहाँ केवल यह बतला देना पर्याप्त होगा कि इनका प्रजातन्त्र से क्या सम्बन्ध है ? स्वतन्त्रता का अर्थ है कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी शक्तियों के विकास के लिए पूर्ण अवसर मिले। यह तभी हो सकता है जब देश के शासन में सभी का हाथ हो। इसी प्रकार समानता का अर्थ है कि अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए प्रत्येक मनुष्य को समान अवसर प्राप्त हो। यह बात भी एक पूर्ण प्रजातन्त्र शासन में ही पूरी हो सकती है। प्रजातन्त्र राज्य में प्रत्येक मनुष्य को राजकीय कार्यों में भाग लेने का समान अवसर प्रदान किया जाता है तथा उसे शिक्षा, सरकारी नौकरी तथा धनोपार्जन के समान अवसर प्रदान किये जाते हैं।

§ ४. प्रजातन्त्र शासन के गुण
(Merits of Democracy)

प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली के सम्बन्ध में एक विपुल राजनीतिक साहित्य तैयार हो गया है। सम्भवत शासन के किसी भी दूसरे तरीके का इसके समान वर्णन नहीं किया गया। कुछ लोगों ने इस राजनीतिक सिद्धान्त का समर्थन किया है और कुछ ने इसका विरोध। परन्तु अधिकाश लेखक इसके समर्थक ही दिखलाई पडते हैं। जार्ज बानक्राफ्ट (George Bancraft) के समान कुछ प्रजातन्त्रवादी लेखक तो इस सिद्धान्त को एक ईश्वरीय तथा दैवी सिद्धान्त मानते हैं और उसे शासन का एक अत्यन्त पावन आदर्श तथा सर्वोत्कृष्ट साधन कहते हैं। परन्तु कुछ दूसरे प्रजातन्त्रवादी, इस शासन के समर्थक होने के साथ-साथ इसके दोषों को भी भलीभाँति समझते हैं। उनका कहना है कि इन दोषों के रहते हुए भी प्रजातन्त्रवादी शासन राज्य का सर्वोत्तम विधान है। दोष और गुण सभी प्रकार के शासनों में पाये जाते हैं। प्रजातन्त्रवादी सिद्धान्तों में गुण अधिक हैं और दोष कम। वह दोष भी प्रजातन्त्र के सिद्धान्त में इतने नही जितने उसके व्यवहार में हैं और जनता को उचित प्रकार की शिक्षा देकर इन दोषों को दूर किया जा सकता है।

प्रजातन्त्र के दो लाभ हैं। पहला यह कि इससे शासन का कार्य बहुत अच्छे ढग से किया जा सकता है और दूसरा यह कि यह मनुष्यों के नैतिक और बौद्धिक आचरण पर अच्छा प्रभाव डालता है। हम प्रजातन्त्र के लाभों का सक्षेप में इस प्रकार वर्णन कर सकते है :—

(१) **जनमत का सच्चा प्रतिनिधि**—प्रजातन्त्र शासन जनमत पर आधारित होता है। वह जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा सचालित किया जाता है।

(२) **समान व्यवहार का पोषक**—प्रजातन्त्र शासन में समस्त जनता के हितों की

रक्षा की जाती है। अल्पसंख्यक जातियों को अपना मत प्रकट करने तथा अधिकारों की रक्षा करने के लिए उतने ही अवसर प्राप्त होते हैं जितने बहुसंख्यक जाति को। शासन में इस बात का भय नहीं रहता कि शासक किसी जाति या समुदाय-विशेष के हित के लिए ही कानून बनायेंगे और दूसरे लोगों के हित का ध्यान न रखेंगे।

(३) **सर्वगुण संपन्न**—इसमें निरंकुश तन्त्र तथा कुलीन तन्त्र के दोष दूर हो जाते हैं और उनके अच्छे गुणों का समावेश हो जाता है।

(४) **स्थायी शासन का निर्माता**—इसमें शासन के विरुद्ध सामाजिक विद्रोह का भय कम हो जाता है, क्योंकि जनता इस शासन को अपना ही शासन मानती है। इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से यह शासन का सबसे स्थायी तरीका है।

(५) **समान अधिकारों का रक्षक**—यह व्यवस्था समानता के मौलिक सिद्धान्त पर अवलम्बित है। यह सभी मनुष्यों के समाज के विस्तृत जीवन में भाग लेने तथा अपनी आध्यात्मिक एवं नैतिक उन्नति का अवसर प्रदान करती है। इस शासन-प्रबन्ध में गरीब व्यक्ति को अपनी योग्यता के आधार पर राज्य में अधिक से अधिक गौरव तथा मान प्राप्त कर अपनी उन्नति कर सकता है।

(६) **नागरिक गुणों का जन्मदाता**—प्रजातन्त्र शासन के अन्तर्गत मनुष्य में नैतिक गुणों का विकास अधिक होता है। उनमें सहनशीलता, मेल-जोल, मित्रता, सहानुभूति, प्रेम, सहयोग, सेवा और स्वार्थ-त्याग की भावनाएँ विकसित होती हैं। इस प्रकार यह शासन क्रियाशील स्वस्थ और विचारशील नागरिकों को जन्म देता है।

(७) **संकुचित स्वार्थ का शत्रु**—यह नागरिकों को उच्च ध्येय की प्राप्ति के लिए छोटे स्वार्थों को बलिदान करने की शिक्षा देता है। उदाहरण के लिए, यह छोटे समुदाय जैसे परिवार। जाति या धार्मिक समाज के हितों का राष्ट्रीय भलाई के लिए बलिदान करने का पाठ पढ़ाता है।

(८) **राजनीतिक चेतना का जनक**—यह सर्वसाधारण में राजनीतिक जाग्रति उत्पन्न करता है तथा उन्हें स्वाभिमानी और स्वावलम्बी बनना सिखाता है।

(९) **भावी प्रशासकों का निर्माता**—यह मनुष्य में राजनीतिक ज्ञान उत्पन्न करता है तथा उसे अपने देश के शासन में भाग लेने के योग्य बनाता है।

प्रजातन्त्र के दोष (Defects of Democracy)

परन्तु इन सब गुणों के साथ-साथ प्रजातन्त्र राज्य में सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दृष्टिकोण से कुछ दोष भी होते हैं। लेकी (Lecky), मेन (Maine), बारकर (Barker) इत्यादि अनेक लेखकों ने इन्हीं कारणों से प्रजातन्त्र के सिद्धान्त की कड़ी आलोचना भी की है। यह सब लेखक प्रजातन्त्र में निम्नलिखित दोष बतलाते हैं:—

(१) **भीड़तंत्र**—प्रजातन्त्रात्मक शासन में गुण (Quality) की अपेक्षा संख्या (Quantity) पर अधिक जोर दिया जाता है। इसी कारण यह योग्य तथा आचारवान् पुरुषों का शासन न रहकर मूर्खों, अशिक्षितों तथा अज्ञानियों का शासन बन जाता है।

(२) **मूर्खों का शासन**—यह सब मनुष्यों के मत को एक-सा ही मूल्य प्रदान करता है। राज्य के बड़े से बड़े व्यक्ति के मत की इस शासन-व्यवस्था में वही कीमत होती है जो बड़े से बड़े मूर्ख की। प्रत्येक समाज में अधिकतर मूर्खों की ही संख्या होती है, इसलिए प्रजातन्त्र शासन योग्य पुरुषों का शासन न रहकर 'मूर्खों का शासन' बन जाता है।

(३) **बहुमत का शासन**—इस प्रकार के शासन में राज्य के कानून बहुमत के आधार पर बनते हैं, चाहे वह बहुमत कितना ही कम क्यों न हो और कितनी ही अव्यावहारिक तथा बुद्धिहीन बात क्यों न कहता हो।

(४) **मूठ की प्रधानता**—प्रजातन्त्र शासन में काम का महत्त्व कम तथा बातों का अधिक होता है। ऐसे व्यक्ति शासन पर छा जाते हैं जो अच्छे भाषण देकर जनता पर प्रभाव डाल सकें तथा उनकी भावनाओं को उत्तेजित कर सकें।

(५) **समानता ढकोसला है**—प्रसिद्ध अंग्रेजी विद्वान् एडमंड बर्क प्रजातन्त्रात्मक समानता को *भयानक प्रपंच मानता था।*[1] *उसका मत था कि प्रजातन्त्र अविश्वसनीय* और व्यर्थ विचार है। शासन एक कला है जिसके लिए विशेष बुद्धि और ज्ञान की आवश्यकता होती है। इसलिए इसकी नीति के निर्माण में केवल उन्हीं लोगों को भाग लेना चाहिए जिन्हें इस कार्य के करने के लिए विशेष प्रकार की शिक्षा दी गई हो।

(६) **अज्ञानियों का शासन**—लेकी का कथन है "प्रजातन्त्र का अर्थ अज्ञानियों का राज्य और स्वाधीनता का नाश है। यह व्यक्तिगत स्वाधीनता को कम करता है क्योंकि इसकी मनोवृत्ति बहुत अधिक कायदे-कानून बनाने की ओर रहती है।[2]

सर हेनरी मेन की धारणा है कि "प्रजातन्त्र बौद्धिक उन्नति के लिए और साहित्य, विज्ञान और कला के विकास के लिए अनुपयुक्त है।"

(७) **बौद्धिक विकास का शत्रु**—यह गरीबों के फायदे के लिए अमीरों का शोषण करता है। यह बौद्धिक विकास का शत्रु है। यह जन-समूह का शासन है। इसमें *निरकुश भावुकता और राष्ट्रीय सदाचार के ह्रास के चिह्न पाये जाते हैं।*

(८) **धनियों का शासन**—प्रजातन्त्र के विरुद्ध सबसे बड़ा अभियोग यह है कि इसमें धन का *बहुत अधिक खेल खेला* जाता है। महत्त्वाकांक्षी उम्मीदवार, जो अधिक धनवान् होते हैं, चुनाव में गरीब लोगों के मत खरीद कर विधान सभा के सदस्य बन जाते हैं। इस प्रकार का शासन किसी प्रकार भी सर्वोत्तम शासन नहीं कहा जा सकता।

(९) **अस्थायी शासन**—प्रजातन्त्र शासन के अधीन ऐसे देश की सरकार सदा बदलती रहती है, जहाँ दो से अधिक राजनीतिक दल हों। सरकार के हर समय बदलते रहने में सार्वजनिक कार्यों की देख-भाल नहीं हो पाती।

(१०) **दलीय शासन**—शासन के इस तरीके में दलबन्दी प्रथा की सभी बुरा-

---

1. Democratic Equality is a monstrous fiction. (Burke)
2. Democracy means rule of the ignorant and suppression of liberty. (Lecky)

इयाँ विद्यमान रहती हैं। इस शासन में केवल वही लोग राजसत्ता प्राप्त कर सकते हैं जो किसी दल के नेता हों तथा जो चुनाव के समय जनता से झूठी-मूठी प्रतिज्ञाएँ करके उनकी राय प्राप्त कर सकें। चुनाव के समाप्त होते ही ऐसे लोग अपनी प्रतिज्ञाओं को भूलकर अपनी स्वार्थसिद्धि में लग जाते हैं। वर्तमान प्रजातन्त्र सरकारों में दलबन्दी का इतना अधिक जोर रहता है कि निष्पक्ष और स्वाभिमानी व्यक्ति कभी भी चुनाव में भाग नहीं ले सकते और इस प्रकार देश की सरकार झूठे, पदलोलुप तथा आचारहीन व्यक्तियों के हाथ में चली जाती है। राजनीतिक दलों के अन्दर भी एक ऐसा गुट रहता है जो अपनी इच्छानुसार मनमाने प्रतिनिधि चुनाव में खड़ा करता है तथा जीत होने पर अपने ही लोगों की सरकार बनाकर अपनी स्वार्थसिद्धि करता है।

प्रजातन्त्र सिद्धान्त के विरुद्ध व्यावहारिक आलोचनाएँ—लार्ड ब्राइस (Lord Bryce) ने उपरोक्त दोषों के अतिरिक्त प्रजातन्त्रवादी राष्ट्रों में निम्नलिखित दोष बतलाये हैं;[1]

(१) धन और धनी लोगों का प्रजातन्त्रात्मक राज्य में बहुत अधिक प्रभाव रहता है। रिश्वत या चन्दा देकर धनी लोग राजनीतिक नेताओं और दलों को अपने हक में कर लेते हैं और फिर चुनाव में खड़े होकर स्वयं ही राजसत्ता का भोग करते हैं।

(२) प्रजातन्त्र में लोग राजनीति या सार्वजनिक जीवन को अपना पेशा या व्यवसाय बना लेते हैं। वह राजनीति में देश-सेवा के विचार से भाग नहीं लेते वरन् अपनी रोटी कमाने के लिए लेते हैं।

(३) प्रजातन्त्र शासन में फिजूलखर्ची बहुत होती है। बहुत-सा धन विधान-मण्डल के सदस्यों की तनख्वाह, भत्ते, सफर खर्च इत्यादि में खर्च हो जाता है।

(४) समानता के सिद्धान्त का यह परिणाम हुआ है कि लोग बिना किसी विशेष शिक्षा के ही, अपने आपको प्रत्येक राजनीतिक पद के लिए उपयुक्त समझने लगे हैं। वे यह नहीं समझते कि शासन करना विशेषज्ञों का काम है।

(५) प्रजातन्त्र शासन में राजनीतिक दलों के हाथ में बहुत शक्ति आ जाती है और उसका अक्सर दुरुपयोग होता है।

(६) विधान सभा के सदस्य देश के वास्तविक हित की दृष्टि से काम नहीं करते वरन् ऐसे काम करते हैं जिनके कारण अगले चुनाव में उन्हें अधिक वोट मिल सकें।

(७) कुछ देशों में जहाँ राजनीतिक दलों की अधिकता होती है, टिकाऊ और दीर्घजीवी सरकारें नहीं बन पातीं; जिससे देश का शासन अस्त-व्यस्त हो जाता है।

(८) अधिकांश देशों में मतदाता अपना मत लापरवाही से देते हैं। वह अच्छे-बुरे का विचार नहीं करते, इससे अयोग्य पुरुष धारा सभाओं में पहुँच जाते हैं। कहीं-कहीं मतदाताओं की बहुत थोड़ी संख्या ही चुनावों में भाग लेती है।

(९) इनके अतिरिक्त ब्राइस के मतानुसार आजकल राज्य का काम इतना

---

1. Modern Democracies, Vol. II, p. 504, By Bryce.

अधिक जटिल हो गया है कि धारा सभा के अधिकतर सदस्य उसे समझने की क्षमता नहीं रखते, इस कारण शासन का स्तर गिर जाता है। ब्राइस के अतिरिक्त कुछ अन्य राजनीतिक लेखकों ने भी प्रजातन्त्रवाद की असफलता के कारण बतलाये हैं।

उदाहरणार्थ एडवर्ड मेकैसनी (Edward Mechesny) का मत है कि प्रजातन्त्र की असफलता का प्रधान कारण लोगों की बौद्धिक क्षमता का घटा देना है। जो शासन अशिक्षित जन-समुदाय के द्वारा शासकों के चुने जाने के सिद्धान्त पर अवलम्बित है वह कभी सफल नहीं हो सकता। जब तक प्रजातन्त्र उचित शिक्षा द्वारा सर्वसाधारण को शिक्षित बनाने में सफल नहीं होता, तब तक उसकी असफलता बिल्कुल निश्चित है।

प्रजातन्त्र उस दशा में सफल हो सकता है जब वह सर्वसाधारण का, सर्वसाधारण के लिए और सर्वसाधारण द्वारा शासन हो। आधुनिक प्रजातन्त्रवादियों ने मनुष्यों को मताधिकार तो प्रदान कर दिया है परन्तु शेष दो आदर्शों की ओर कोई भी ध्यान नहीं दिया।

प्रजातन्त्र का सिद्धान्त, दमन और अत्याचार, पराधीनता और गुलामी के वातावरण में कभी भी सफल नहीं हो सकता। आज अधिक समुन्नत और सभ्य कहलानेवाले देश प्रजातन्त्रात्मक उसूलों की दुहाई देते हुए भी साम्राज्यवाद (Imperialism) के हामी हैं। यह दोनों सिद्धान्त किसी भी दशा में साथ-साथ नहीं चल सकते।

आधुनिक प्रजातन्त्रवादी इस बात को भूल जाते हैं कि जब तक आर्थिक न्यूनतम के अधिकार और धन के समान वितरण के सिद्धान्तों का समाज में प्रयोग नहीं किया जाता तब तक प्रजातन्त्रवाद कभी भी सफल नहीं हो सकता। एक ओर दुर्दमनीय गरीबी और दूसरी ओर अपार धन प्रजातन्त्र में साथ-साथ नहीं चल सकते।

प्रजातन्त्र शासन में प्रचलित प्रतिनिधि प्रथा अत्यन्त दूषित है। इस प्रथा के अन्तर्गत शासक वर्ग निर्वाचन-क्षेत्रों को अपनी सुविधा के अनुसार, इस तरह बनाते हैं जिससे चुनाव में सदा उनके ही उम्मीदवार कामयाब होते रहें। अंग्रेजी में इस तरीके को Gerrymendering कहते हैं। इस प्रथा के अन्तर्गत प्रजातन्त्रात्मक शासन सर्वसाधारण का शासन नहीं रहता। वह एक सूक्ष्म अल्पतम और कभी-कभी एक दल-विशेष का शासन बन जाता है। ऐसा सामान्यतः अमेरिका में बहुत होता है।

प्रजातन्त्र का भविष्य—उपर्युक्त कारणों से प्रजातन्त्र शासन असफल हुआ है। प्रजातन्त्रात्मक सरकारों का भविष्य उस वक्त तक खतरे में है, जब तक लोग इन दोषों को दूर नहीं करते। पिछले दिनों इन्हीं कारणों से प्रजातन्त्रवाद के स्थान पर तानाशाही शासन की लहर संसार के एक विस्तृत क्षेत्र में व्यापक हो गई थी। यदि हमें प्रजातन्त्र के आदर्श को कायम रखना है तो यह जरूरी है कि हम इन दोषों को समाज के वर्तमान संगठन से दूर कर दें। संसार में प्रजातन्त्रवाद का सिद्धान्त असफल नहीं हुआ है। उसकी व्यावहारिकता असफल हुई है। यदि हम प्रजातन्त्र राज्य की अन्य प्रकार के राज्यों के साथ तुलना करें तो हमें ज्ञात होगा कि शान्ति, रक्षा, न्याय, शासन, शत्रुओं से रक्षा इत्यादि के कार्य में प्रजातन्त्र राज्य ही अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक सफल हुआ है। दोष सभी शासनों में होते हैं, प्रजातन्त्र में भी हैं परन्तु इतने नहीं जितने दूसरे प्रकार के शासनों में,

और यह दोष भी सिद्धान्त में नहीं, शासन की व्यावहारिकता में है। इन दोषों को जनता में ठीक प्रकार की शिक्षा का प्रचार करके तथा कुछ अन्य अवस्थाओं को पूरा करके, जिनका वर्णन हम अगले पृष्ठों में करेंगे, दूर किया जा सकता है। प्रजातन्त्र शासन सर्वसाधारण और विशेषकर गरीबों की दशा सुधारने में, उनकी शिक्षा और दीक्षा की व्यवस्था करने में, अत्यन्त सफल हुआ है। इसका भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है। केवल आवश्यकता इस बात की है कि जनता प्रजातन्त्र की सफलताओं को न भूले।

प्रजातन्त्रात्मक शासन को सफलतापूर्वक चलाने के लिए कुछ आवश्यक शर्तें (Conditions for the success of Democracy)

प्रजातन्त्रात्मक शासन का तरीका संसार के सब देशों में सफल नहीं हो सकता। इसकी सफलता के लिए कुछ विशेष वातावरण और मनुष्यों के आचरण में कुछ विशेष गुणों की आवश्यकता रहती है। इन सब अवस्थाओं का वर्णन हम नीचे करते हैं :—

(१) **सजग, सुशिक्षित और चैतन्य जनमत**—प्रजातन्त्र शासन की सफलता के लिए सबसे प्रथम और आवश्यक शर्त है कि जनमत शिक्षित, समुन्नत और समझदार हो। जनता में पूर्ण राजनीतिक जागृति हो तथा वह सरकार की नीति को समझने की क्षमता रखती हो।

(२) **समाचार पत्र एवं भाषण की स्वतन्त्रता**—जनमत को बनाने और व्यक्त करने में समाचार-पत्र (Press) और मंच (Platform) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग लेते हैं। जिस देश में समाचारपत्रों पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है और मत के स्वतन्त्रतापूर्वक व्यक्त करने के अधिकार पर रोक होती है वहाँ प्रजातन्त्र नहीं पनप सकता। परन्तु समाचारपत्रों का भी राज्य के प्रति एक कर्तव्य है कि वह सच्ची, निष्पक्ष और ईमानदारी की खबरें दें। यदि अखबारों का नियन्त्रण उन हाथों में चला जाता है जो पूँजीपति हैं या जिनका शासन से कुछ सम्बन्ध है तो अखबारों में छपे हुए समाचार निष्पक्ष अथवा सच्चे नहीं हो सकते। ऐसे समाचारपत्र प्रजातन्त्र के रस में जहर का काम करते हैं।

(३) **शिक्षित जनता**—शिक्षा प्रजातन्त्र शासन की आधार-शिला है। शिक्षा से प्रजातन्त्र का जन्म होता है, कारण, अशिक्षित जनता न अपने अधिकार व कर्तव्यों को ही समझती है और न अपने मत का उचित उपयोग कर सकती है। स्वतन्त्र रूप से राजनीतिक विषयों पर विचार करने की भावना उत्पन्न करने के लिए भी सर्वशिक्षा अनिवार्य है।

(४) **उच्च चरित्रवान नागरिक**—ब्राइस के मतानुसार प्रजातन्त्र शासन का गुण जनता के चरित्र पर निर्भर करता है। यदि जनता योग्य और चरित्रवान् है, उसमें उच्च कोटि की सामाजिक भावना, सार्वजनिक कार्यों के प्रति सच्ची लगन, तथा बहुमत के निर्णय को स्वीकार करने और उसके अनुसार काम करने की तत्परता है, तो सरकार अच्छी होगी; यदि जनता में यह गुण विद्यमान नहीं है तो सरकार भी बुरी होगी। इसलिए प्रजातन्त्र शासन की सफलता के लिए जनता में सहयोग, सहनशीलता, कर्तव्य परायणता, ईमानदारी, सेवा और त्याग के भावों का होना आवश्यक है।

(५) **विशाल हृदयता**—प्रजातन्त्र शासन में नागरिकों का हृदय अत्यन्त विशाल होना चाहिए। उनमें क्षुद्र भावनाएँ, संकुचित विचार, साम्प्रदायिक दृष्टिकोण एवं धार्मिक असहिष्णुता के भाव नहीं होने चाहिए। उनमें छोटे-छोटे भेदों को भुला कर बड़े-बड़े प्रश्नों पर निष्पक्ष भाव से विचार करने की क्षमता होनी चाहिए।

(६) **अल्पसंख्यक वर्गों के प्रति न्याय**—प्रजातन्त्र शासन में बहुमत का राज्य होता है, परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि अल्पसंख्यक वर्गों के साथ अन्याय किया जाता है अथवा उनके अधिकार की रक्षा नहीं की जाती। प्रजातन्त्र शासन की सफलता इसी बात पर निर्भर करती है कि ऐसे राज्य को समाज के प्रत्येक वर्ग का सहयोग एवं सद्भावना प्राप्त हो। ऐसा तभी सम्भव है जब बहुसंख्यक दल अल्पसंख्यकों के साथ उदारता का बर्ताव करे।

(७) **आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक समानता**—प्रजातन्त्र शासन समानता के स्वर्ण सिद्धान्त पर आधारित है। समानता का केवल यह अर्थ ही नहीं कि सब नागरिकों को मत देने का अधिकार हो; इसका यह भी आशय है कि आर्थिक क्षेत्र में विषमता का अंत तथा सामाजिक क्षेत्र में विशेषाधिकारों का नाश हो जाना चाहिए। प्रजातन्त्र में एक ओर बहुत अमीरी और दूसरी ओर बहुत अधिक गरीबी एक साथ नहीं चल सकती। इसी प्रकार जाति व्यवस्था पर आधारित विशेषाधिकारों की प्रथा अथवा दलित जातियों के साथ अन्याय का साम्राज्य कायम नहीं रह सकता।

(८) **राज्य में शांति और सुरक्षा**—प्रजातन्त्र शासन ऐसे देश में कायम नहीं रह सकता जहाँ युद्ध का भय सदा बना रहता है। युद्ध और अशान्ति की अवस्था तानाशाही या फासिस्टवाद को जन्म देती है। शान्ति और सुव्यवस्था की दशा में ही प्रजातन्त्र शासन की प्रथाएँ कायम हो सकती हैं।

(९) **राजनीतिक दलों का विशुद्ध आर्थिक व राजनीतिक कार्यक्रमों पर संगठन**—प्रजातन्त्र शासन की सफलता के लिए राजनीतिक दलों का होना भी अनिवार्य है। राजनीतिक दलों के द्वारा ही संसदीय सरकार का निर्माण तथा जनता में राजनीतिक शिक्षा का प्रचार होता है। परन्तु राजनीतिक दलों का निर्माण उचित राजनीतिक व आर्थिक सिद्धान्तों के आधार पर होना चाहिए, स्वार्थपूर्ण विचारों तथा धार्मिक एवं साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के आधार पर नहीं।

(१०) **स्वायत्त शासन का संगठन**—अन्त में प्रजातन्त्र की सफलता के लिए शक्तिशाली स्थानीय स्वशासन प्रणाली आवश्यक है। प्रजातन्त्र शासन में शक्ति का केन्द्रीकरण नहीं, वरन् विकेन्द्रीकरण होना चाहिए जिससे राज्य के प्रत्येक नागरिक शासन के किसी न किसी अंग में भाग ले सकें। गाँवों में पंचायत, नगरपालिकाएँ, जिलों में जिला बोर्ड, प्रान्तों में प्रान्तीय स्वशासन तथा केन्द्र में एक शक्तिशाली संसद के निर्माण द्वारा जनता के अधिकाधिक सदस्य राज-काज में भाग ले सकते हैं और इस प्रकार राज्य के प्रति अपनी जिम्मेदारियों को समझ सकते हैं। इसीलिए डी० टोकविले ने कहा है, "स्थानीय स्वशासन संस्थाएँ प्रजातन्त्र राज्य की आत्मा है।"

निष्कर्ष—परन्तु इन सब बातों का आशय यह नहीं समझना चाहिए कि किसी भी देश में प्रजातन्त्रात्मक शासन की व्यवस्था उस समय तक स्थगित कर दी जानी चाहिए, जब तक कि ये शर्तें पूरी नहीं हो जातीं। प्रजातन्त्रात्मक क्रिया से स्वयं ये सब अवस्थाएँ पैदा हो जाती हैं। प्रजातन्त्र शासन के आरम्भ होते ही जनता में राजनीतिक जागृति, सार्वजनिक उमंग, उत्तरदायित्व की प्रबल भावना और सार्वजनिक सहयोग की इच्छा का जन्म हो जाता है। आरम्भ में कुछ दिनों तक मनुष्य शासन चलाने में त्रुटि कर सकते हैं; परन्तु बाद में वह शासन की बारीकियों से भली प्रकार परिचित हो जाते हैं। दूसरे, एक अच्छे शासन की पहचान केवल उसकी कार्य-कुशलता ही नहीं वरन् उसकी जनता में राजनीतिक जागृति तथा नैतिक भावना उत्पन्न करने की क्षमता है। प्रजातन्त्र राज्य, इन भावनाओं के निर्माण करने में सबसे महत्त्वपूर्ण भाग लेता है।

इन अवस्थाओं को प्राप्त करने का सबसे अच्छा प्रबन्ध यह है कि शासन प्रजातन्त्रात्मक बना दिया जाय और इसके पश्चात् सर्वसाधारण की आर्थिक और शिक्षा सम्बन्धी उन्नति करने का प्रयत्न किया जाय। प्रजातन्त्र की औषधि उसे घटाना नहीं वरन् उसको अधिकाधिक बढ़ाना है।

भारतवर्ष में प्रजातन्त्र शासन की सफलता की दशाएँ कहाँ तक विद्यमान हैं? (How far conditions for the success of Democracy are present in India?)

बहुधा प्रश्न पूछा जाता है कि क्या भारत प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली के लिए उपयुक्त है। जिन लोगों को इसमें सन्देह है कि भारत में प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली सफल हो सकती है, वह यहाँ की जनता की अशिक्षा, प्रचलित भेद-भाव, जाति-पाँति का विचार, धार्मिक विभिन्नताएँ, आर्थिक विषमताएँ, स्त्रियों की अवनत दशा, हरिजनों की समस्या, हिन्दू-मुसलिम प्रश्न इत्यादि को देखकर यही अनुमान लगाते हैं कि अभी हमारे देश में प्रजातन्त्र शासन प्रणाली सफल नहीं हो सकती। प्रजातन्त्र की सफलता के लिए शिक्षा तथा चैतन्य लोकमत की बड़ी आवश्यकता है। हमारे देश की ८० प्रतिशत जनता अशिक्षित है, वह अपने अधिकारों के प्रति जागरूक नहीं, इसीलिए कुछ लोग कहते हैं कि भारतवर्ष में तानाशाही का राज्य होना चाहिए। परन्तु जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, प्रजातन्त्र की औषधि उसे घटाना नहीं वरन् अधिकाधिक बढ़ाना है। प्रजातान्त्रिक संस्थाओं की स्थापना जनता की सबसे बड़ी शिक्षा है। प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली के प्रादुर्भाव से ही जनता में राजनीतिक चेतना जागृत होती है। हमारे देश में हुए पिछले दो आम चुनावों ने यह सिद्ध कर दिया है कि भारतीय जनता अपने अधिकारों का अर्थ तथा अपने मत का मूल्य समझती है; उसमें इतना सामान्य ज्ञान अवश्य है कि वह अपना भला-बुरा सोच सके। पिछले दस वर्षों में देश ने जो उन्नति की है वह इस बात की साक्षी है कि हमारे देश में प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली का प्रयोग सफल सिद्ध हुआ है। इसलिए हम कह सकते हैं कि यद्यपि भारत में अभी तक वह सारी अवस्थाएँ विद्यमान नहीं हैं जिनमें किसी देश में एक आदर्श प्रजा-

राज स्थापित हो सकता है, परन्तु फिर भी धीरे-धीरे शिक्षा एवं राजनीतिक चेतना बढ़ रही है और शीघ्र ही हमारा देश संसार का एक आदर्श प्रजातन्त्र राज्य बन सकेगा।

§५. शासन का आधुनिक वर्गीकरण
(Modern Classification of Governments)

ऊपर दिया गया शासन का प्राचीन वर्गीकरण आधुनिक युग की आवश्यकताओं के लिए उपयुक्त नहीं है। इस वर्गीकरण में ऐसी बहुत-सी सरकारों का उल्लेख नहीं है जो आजकल पाई जाती हैं। इसलिए जैसा पहले कहा जा चुका है धर्म और राजनीति का सम्बन्ध, कार्यकारिणी और विधान मण्डल का सम्बन्ध तथा शासन के अधिकारों के विभाजन पर आजकल सरकारों का वर्गीकरण किया जाता है।

अगले पृष्ठ पर दी गई तालिका में सरकारों के विभिन्न रूप खोलकर समझाये गये हैं।

धर्मतन्त्र शासन (Theocratic Government)

यह शासन का वह तरीका है जिस पर पुरोहित का आधिपत्य रहता है। दूसरे शब्दों में जिस देश का शासन लोगों के किसी धार्मिक मुखिया के द्वारा किया जाता है, वह धर्मतन्त्र शासन कहलाता है। शासन के इस तरीके में धर्म और राजनीति का सम्मिश्रण रहता है। यह शासन आजकल तिब्बत में वर्तमान है। तिब्बत के अतिरिक्त पाकिस्तान में भी मुल्लाओं को बढ़ावा देकर कुछ इसी प्रकार का शासन अपनाया जा रहा है। सरकार का यह तरीका लोकप्रिय नहीं है।

धर्म-निरपेक्ष शासन (*Secular Government*)

यह वह शासन है जिसमें राज्य में धर्माचार्यों का किसी प्रकार का प्रभाव नहीं रहता। इस शासन के तरीके में धर्म और राजनीति बिल्कुल पृथक् रक्खी जाती है। इस प्रकार का शासन-प्रबन्ध आजकल अत्यन्त लोकप्रिय है। लौकिक शासन का यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि ऐसे देश में धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार नहीं दिया जाता या शासक अधर्मी होते हैं, इसका आशय केवल इतना है कि राजनीति से धर्म को अलग रखा जाता है।

राजतन्त्र (Monarchy)

यह शासन का वह तरीका है जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है। इसमें एकवंश-परम्परागत राजा का शासन होता है।

निरंकुश राजतंत्र (*Absolute Monarchy*)—आजकल शासन की यह व्यवस्था लोकप्रिय नहीं है। यह केवल कुछ पूर्वीय देशों और अफगानिस्तान, अरेबिया, स्याम, नेपाल इत्यादि में पाई जाती है। इन देशों में भी जनता अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए सरकार के विरुद्ध बराबर आन्दोलन कर रही है। वर्तमान युग में निरंकुश राजतन्त्र की प्रथा अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकती।

शासन का आधुनिक वर्गीकरण
राज्य
धर्म निरपेक्ष या लौकिक शासन (Secular State)
धर्म तन्त्र शासन (Theocratic State)
राजतन्त्र = (Monarchy)
तानाशाही (Dictatorship)
=
नौकरशाही (Bureaucracy)
प्रजातन्त्र (Democracy)
सीमित राजतन्त्र (Limited Monarchy)
या
वैधानिक राजतन्त्र (Constitutional Monarchy)
असीमित राजतन्त्र (Absolute Monarchy)
या
निरंकुश राजतन्त्र (Despotic Monarchy)
अप्रत्यक्ष (Indirect)
प्रत्यक्ष (Direct)
(१) प्रस्ताधिकार (Initiative)
(२) परिपृच्छा (Referendum)
(३) प्रत्यावर्तन (Recall)
(४) लोकमत संग्रह (Plebiscite)
मन्त्रिमण्डलात्मक शासन (Parliamentary form of Govt.)
अध्यक्षात्मक शासन (Presidential form of Govt.)
मन्त्रिमण्डलात्मक शासन
अध्यक्षात्मक शासन
एकात्मक (Unitary)
संघीय (Federal)
एकात्मक (Unitary)
संघीय (Federal)
एकात्मक (Unitary)
संघीय (Federal)
एकात्मक (Unitary)
संघीय (Federal)

सीमित राजतंत्र (Limited Monarchy)—इस प्रथा और प्रजातन्त्र में अधिक भेद नहीं, कारण दोनों में ही वास्तविक शक्ति जनता के ही हाथों में रहती है, राजा के नहीं। राजा राज्य का केवल नाम-मात्र का मुखिया रहता है। वास्तविक शक्ति जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथ में रहती है। शासन का यह तरीका इंगलैण्ड, बेल्जियम, हालैण्ड इत्यादि देशों में प्रचलित है।

तानाशाही (Dictatorship)

यह ऐसे मनुष्य का शासन होता है जो वंश-परम्परागत अधिकार से तो राज्य सिंहासन पर नहीं बैठता, परन्तु जिसे अपनी सैनिक शक्ति अथवा पार्टी की ताकत के बल पर राज्य के सभी अधिकार प्राप्त होते हैं। राज्य के अन्तर्गत रहने वाले सभी मनुष्य और संघ उसकी शक्ति का लोहा मानते हैं तथा उसके आदेशों के विरुद्ध कार्य करने की हिम्मत नहीं कर सकते। ऐसा मनुष्य एक अत्याचारी भी हो सकता है, जिसने अपनी पाशविक शक्ति के आधार पर अपने अधिकारों को प्राप्त किया हो अथवा एक सर्वमान्य नेता भी हो सकता है, जिसे लोगों ने किसी राष्ट्रीय संकट के समय में हर प्रकार के अधिकार प्रदान कर दिये हों। तानाशाही और राजतन्त्र में यह भेद है कि तानाशाह किसी सार्वजनिक शक्ति के समय अपने अधिकारों को प्राप्त करते है और अपने पद को बिना किसी राजचिह्न [illegible] को शासन-प्रणाली, पिछले महा-

[illegible] प्रणाली स्पेन में पाई जाती है।

[illegible] । इस शासन के तरीके में भाषण

[illegible] की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती।

[illegible] है और एक ही मनुष्य अपनी

[illegible] तानाशाही शासन में

[illegible] इच्छा ही लोगों के लिए

[illegible] भी प्रकार के नैतिक

[illegible] तानाशाओं ने ही पिछले

[illegible]।

इस शासन-प्रणाली का श्रीगणेश १९१४ की बड़ी लड़ाई के बाद हुआ था, और १९३९ की बड़ी लड़ाई के बाद इसका प्राय अन्त-सा हो गया।

इस शासन व्यवस्था का कोई वैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं है। यह प्रणाली मनुष्य स्वभाव की कमजोरियों पर अवलम्बित है। यह जनता को एक भावुक, बुद्धिहीन तथा विवेकहीन मनुष्यों का समूह मानती है। मुसोलिनी का कहना था—(Masses are a lot of inspired idiots) अर्थात् 'जनता एक भावुक मूर्खों के दल का नाम है।' ऐसे लोगों को, फासिस्टों के कथनानुसार किसी भी प्रकार के राजनीतिक अधिकार प्रदान नहीं किये जा सकते। उनको अपना जीवन राष्ट्र की भलाई के निमित्त-मात्र समझना चाहिए और राष्ट्र की भलाई किस काम में है, इसका निर्णय करना जनता का काम नहीं,

वरन् उन थोड़े से लोगों का काम है जिनके हाथ में बुद्धि की प्रखरता तथा नेतृत्व के गुणों (Faculty for leadership) के कारण राज्य की बागडोर सौंपी जाती है।

फासिस्ट समझते हैं कि राष्ट्रीय महानता तथा राष्ट्रीय उत्थान के लिए काम करना ही मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म है। मनुष्य राष्ट्र के उत्थान के साथ उठता और उसके पतन के साथ गिरता है। राष्ट्रीय गौरव के लिए अपने प्राणों की आहुति देना मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म है। फासिस्ट सिद्धान्त में राष्ट्र को एक दैवी रूप देकर उसकी पूजा करना सिखाया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार एक देश का दूसरे देश पर आधिपत्य करना तथा अपने अधीन रखना एक गौरव की बात समझी जाती है। इसी कारण फासिस्टवाद साम्राज्यवाद का समर्थक है।

गुण व दोष—फासिस्ट सिद्धान्त के अन्तर्गत तानाशाही शासन के अपने गुण और दोष होते हैं। इस प्रणाली के गुण तो यह हैं कि इसमें शासन की कुशलता अधिक होती है, जनता में भेदभाव नहीं रहते, सभी व्यक्ति एक नेता की आज्ञा पालन करते हैं तथा उसे अपना संरक्षक समझते हैं। देश की शक्ति बढ़ जाती है तथा उसकी ताकत का लोहा दूसरे मुल्क मानने लगते हैं परन्तु इसके दोष यह हैं कि इसमें जनता को किसी प्रकार की नैतिक उन्नति या अपने व्यक्तित्व का विकास करने के अवसर प्राप्त नहीं होते। उसे किसी प्रकार के राजनीतिक या नागरिक अधिकार भी प्राप्त नहीं होते। उसके भाग्य का निर्णय एक मनुष्य के हाथ में हो जाता है। सैनिक शक्ति के जुटाने में राष्ट्र की अधिकतर आय व्यय हो जाती है तथा दूसरे देशों पर हमला करने की नीति से संसार की शान्ति और व्यवस्था खतरे में पड़ जाती है।

इस प्रकार की सरकार अधिक समय तक सफल नहीं हो सकती। वह केवल तभी तक कायम रह सकती है जब तक जनता में राजनीतिक जागृति न हो या देश पर कोई महान् संकट का समय न हो। पिछड़े हुए देशों में ही इस प्रकार की सरकार पसन्द की जाती है। आधुनिक प्रजातंत्र के युग में इस प्रकार की शासन-व्यवस्था के लिए किसी भी प्रकार का स्थान नहीं मिल सकता।

नौकरशाही शासन (Bureaucracy)

नौकरशाही शासन का अर्थ उस प्रकार की सरकार से है जहाँ जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के द्वारा देश का शासन नहीं किया जाता वरन् जहाँ कुछ एक विशेष प्रकार के वातावरण में पले हुए तथा शिक्षा पाए हुए सरकारी कर्मचारी ही देश का प्रबन्ध करते हैं। अँग्रेजी में ब्यूरोक्रेसी शब्द ब्यूरो से बना है जिसका अर्थ डेस्क है। इसलिए नौकरशाही का अर्थ दफ्तरी या विभागीय सरकार से समझना चाहिए। इस सरकार में नौकरों की हुकूमत होती है, अर्थात् जनता के प्रतिनिधि सरकार को नहीं चलाते वरन् दफ्तर के क्लर्क और सरकार के बड़े अफसर जनता पर शासन करते हैं। इस प्रकार के शासन में सरकारी कर्मचारी उन लोगों के प्रति जिम्मेदार नहीं रहते जिन पर वे शासन करते हैं वरन् अपने ऊपर के कर्मचारियों के प्रति जिम्मेदार रहते हैं। इस शासन में नीचे से ऊपर

तक क्रमागत जिम्मेदारी चलती है। उदाहरणार्थ गाँव का पटवारी कानूनगो के प्रति, कानूनगो तहसीलदार के प्रति, तहसीलदार डिप्टी कलेक्टर के प्रति, डिप्टी कलेक्टर कलेक्टर के प्रति, कलेक्टर कमिश्नर के प्रति, कमिश्नर गवर्नर के प्रति, गवर्नर गवर्नर-जनरल के प्रति और गवर्नर-जनरल किसी और के प्रति जिम्मेदार रहते है। वैसे तो प्रत्येक देश में ही सरकारी इन्तजाम इसी प्रकार किया जाता है, परन्तु उनमें भेद केवल इतना होता है कि प्रजातंत्र शासन में सरकारी नौकर आखीर में जनता के प्रति जिम्मेदार होते है, परन्तु नौकरशाही शासन में वह जनता के प्रति उत्तरदायी नही होते। अगस्त सन् १९४७ से पहले भारत में इसी प्रकार का शासन-विधान था। इस शासन-व्यवस्था के अपने दोष और गुण दोनों होते है। इसमें गुण तो यह हैं कि यह अधिक कार्यकुशल होती है, आसानी से हर प्रकार की मुसीबतों का सामना कर सकती है, एक उद्देश्य से काम करती है तथा तेजी से काम कर सकती है। परन्तु इन गुणो की अपेक्षा इसमें दोष अधिक होते हैं।

(१) सर्वप्रथम, यह अनुदारशील और अपरिवर्तनशील सरकार है। यह लकीर की फकीर बनी रहती है और अपने पुराने काम करने के तरीकों को नही बदलती। हिन्दुस्तान में आजादी के बाद भी, आज हमारी सरकार इसी बीमारी से पीडित है।

(२) इस प्रकार की सरकार एक प्राण और भावशून्य संस्था की तरह काम करती है। इसमे मानवता के लक्षण नही होते और इसलिए यह यन्त्रवत् काम करती है।

(३) यह बहुत सुस्ती से काम करती है, इसमें दफ्तरी कार्यवाही (Redtape) अधिक होती है और काम की वास्तविक प्रगति कम।

(४) इस प्रकार के शासन में अक्सर शासक घमडी और लालची हो जाते हैं। यह जनता से सीधे मुंह बात करना भी पसन्द नही करते। यह अपने आपको जनता का सेवक नही वरन् उसका मालिक समझने लगते हैं।

(५) यह एक फौलादी ढाँचे की तरह सख्त होती है। इसमें वास्तविक लोक-सेवा की भावना नही होती जिस पर शासन की सफलता और सार्वजनिक हित अवलम्बित रहता है।

प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र शासन (Direct and Indirect Democracy)

प्रजातंत्र शासन का विस्तृत वर्णन हम' इसी अध्याय में पिछले पृष्ठो में कर चुके है। यहाँ यह बतलाना पर्याप्त होगा कि प्रजातन्त्र की दो किस्में हैं—(१) प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (Direct Democracy) और (२) अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (Indirect Democracy)।

प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र—प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र में सारी जनता मिलकर स्वय राज्य का संचालन करती है, वह स्वय कानून बनाती है, स्वय टैक्स लगाती है तथा स्वय राज-कर्मचारियों की नियुक्ति करती है। ऐसा शासन-विधान आजकल के विस्तृत राज्यो में, जिनकी जनसंख्या तथा क्षेत्रफल बहुत अधिक होता है, सम्भव नही। प्राचीन काल के रोम और यूनान के नगरों में रहनेवाले गुलामों को शासन-कार्य में भाग लेने का अधिकार

न था। आजकल केवल स्विट्जरलैण्ड के कुछ कैन्टन्स (देश के छोटे-छोटे प्रान्त) में इस नियम के अनुसार शासन होता है। प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की कुछ आधुनिक किस्में प्रस्वाधिकार (Initiative), परिपृच्छा (Referendum), प्रत्यावर्तन (Recall) तथा जनमत संग्रह (Plebiscite) के रूप में, हमें दुनिया के कुछ प्रगतिशील प्रजातंत्रवादी देशों में देखने को मिलती हैं।

प्रस्वाधिकार (Initiative)—प्रस्वाधिकार उस अधिकार को कहते हैं जिसके द्वारा किसी देश में वोटरों की एक निश्चित संख्या को (स्विट्जरलैण्ड; में ५०,००० वोटरों को) आवेदन-पत्र द्वारा, किसी भी कानून को विधान सभा के सामने पेश करने का अधिकार होता है। यदि विधान सभा उसे पास कर दे तो ठीक है, अन्यथा उस पर जन-समुदाय के वोट लिये जाते हैं, और यदि बहुमत उसके हक में हो तो उसे कानून बना दिया जाता है।

इस प्रकार के अधिकार का लाभ यह है कि यदि जनता के चुने हुए प्रतिनिधि विधान सभा में किसी कानून को पेश करें तो जनता ऐसा कर सकती है। परन्तु इसमें दोष यह है कि कानून बनाने का कार्य अत्यन्त कठिन कार्य है। उसके लिखने और तैयार करने में गंभीर कानूनी ज्ञान की आवश्यकता है, इसलिए यह काम विशेषज्ञ ही ठीक प्रकार से कर सकते हैं, साधारण आदमी नहीं।

परिपृच्छा (Referendum)—इस अधिकार का अर्थ यह है कि यदि वोटरों की एक निश्चित संख्या विधान सभा द्वारा पास किसी कानून को पसन्द नहीं करती, तो वह आवेदन-पत्र द्वारा यह माँग कर सकती है कि जब तक उस कानून पर लोकमत न ले लिया जाय, उस पर अमल न किया जाय। इस आवेदन-पत्र के पहुँचने के पश्चात् एक निश्चित दिन पर उस कानून के विषय में सारी जनता की राय ले ली जाती है और यदि वोटरों का बहुमत उसे पसन्द न करे तो उसे रद्द कर दिया जाता है।

इस प्रकार के अधिकार से जनता की अपने प्रतिनिधियों के धोखे से तो रक्षा हो जाती है, परन्तु इससे विधान सभा के सदस्यों की जिम्मेदारी कम हो जाती है। कानून बनाने के कार्य विशेषज्ञों का है, अपढ़ जनता का नहीं। जनता कानून की बारीकियों को नहीं समझ सकती। इस प्रकार के अधिकार से राजनीतिक आन्दोलनों को प्रोत्साहन मिलता है और सरकार के काम-काज में अस्तव्यस्तता फैलती है। यह अधिकार केवल ऐसे ही देशों में दिया जाना चाहिए जहाँ जनता की राजनीतिक शिक्षा उच्च श्रेणी की हो तथा जहाँ की आबादी कम हो।

प्रत्यावर्तन (Recall)—इस अधिकार का अर्थ यह होता है कि यदि जनता चाहे तो वह अपने चुने हुए प्रतिनिधियों को, धारा सभा से, उनकी अवधि समाप्त होने के पहले ही, वापस बुला सकती है। इस अधिकार को भी अमल में लाने के लिए वोटरों की एक निश्चित संख्या को आवेदन-पत्र द्वारा, यह प्रार्थना करनी पड़ती है कि अमुक प्रतिनिधि पर उसका विश्वास नहीं है। इसके पश्चात् यह प्रश्न जनमत के लिए भेज दिया जाता है

और यदि निर्वाचकों की अधिक संख्या प्रतिनिधि को हटाने के पक्ष में हो तो उसे उसके पद से अलग कर दिया जाता है।

इस प्रथा का बहुधा दुरुपयोग किया जाता है। प्रतिनिधि चुनाव के आन्दोलकों के हाथ में, कठपुतली बनकर रह जाता है और वह अपनी स्वतन्त्र इच्छानुसार कार्य नहीं कर सकता।

जनमत संग्रह (Plebiscite)—इस अधिकार के द्वारा कुछ महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्नों पर जनता की राय ली जाती है। जनता का निर्णय शासकों पर बाध्य नहीं होता परन्तु फिर भी उसकी कद्र की जाती है और उससे राजनीतिक प्रश्नों के विचार में, सरकार को भारी सहायता मिलती है। पिछले दिनों भारत में, जूनागढ़ रियासत के हिन्दुस्तान या पाकिस्तान से मिलने के प्रश्न पर, इसी प्रकार की राय ली गई थी। यूरोप में भी यह प्रथा बहुत लोकप्रिय है।

ऊपर दिये गये चारों उपाय प्रजातन्त्र शासन को जनता की अपनी चीज बनाने में बहुत सहायता देते है। परन्तु इन साधनों का उपयोग केवल उन्हीं देशों में किया जाना चाहिए जहां जनता में राजनीतिक जागृति उच्च कोटि की हो तथा जहां वह अपना भला-बुरा आसानी से समझ सकती हो।

अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (Indirect Democracy)—वर्तमान राज्यों में उनकी सीमा तथा जनता के विस्तार के कारण प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का होना सम्भव नहीं। इसलिए निर्वाचन-पद्धति द्वारा, अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की स्थापना की गई है। इस प्रथा के अधीन जनता अपने प्रतिनिधियों के द्वारा शासन का सञ्चालन करती है।

अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के अधीन सरकारों का वर्गीकरण विधान-मण्डल और कार्य-पालिका के पारस्परिक सम्बन्ध तथा शासनिक शक्ति के विभाजन के आधार पर किया जाता है। प्रथम सिद्धान्त के अन्तर्गत सरकारें मन्त्रिमण्डलात्मक (संसदीय) या अध्यक्षात्मक (प्रधानी) और द्वितीय सिद्धान्त के अन्तर्गत संघीय या एकीय होती हैं।

मंत्रिमंडलात्मक या संसदीय या सांसदिक सरकार (Parliamentary form of Government)

यह सरकार की वह व्यवस्था है जिसमें देश की कार्यपालिका (Executive) विधान सभा के सदस्यों में से चुनी जाती है तथा उसके प्रति उत्तरदायी रहती है। विधान सभा के चुनाव के समय, देश के विभिन्न राजनीतिक दल अपने कार्यक्रम के बल पर जनता से अपने प्रतिनिधियों के हक में राय देने की प्रेरणा करते हैं। इस चुनाव में जिस राजनीतिक दल का बहुमत विधान सभा में पहुँच जाता है, उसी दल का नेता प्रधान मन्त्री बनकर अपनी कार्यकारिणी (Cabinet) का चुनाव करता है। कार्यकारिणी में दो से लेकर १५-२० तक मन्त्री रखे जाते हैं। प्रत्येक मन्त्री को अलग-अलग महकमों का इन्तजाम सौंप दिया जाता है। सरकार की नीति का निश्चय सारे ही मन्त्री मिलकर करते है, और वह सब संयुक्त रूप से ही धारा सभा के प्रति जिम्मेदार होते हैं। प्रधान मन्त्री कार्यपालिका का

नेता होता है, तथा वह जब चाहे किसी मंत्री को अपने पद से इस्तीफा दे देने के लिए कह सकता है ।[1] इस प्रकार की सरकार की मुख्य रूप से चार विशेषताएँ होती हैं :—

(१) विधानमंडल और कार्यपालिका का संयोग (Fusion of Legislature and Executive)—जैसे ऊपर बतलाया गया है, इस प्रकार की सरकार में मंत्रिमण्डल का चुनाव विधान सभा के सदस्यों में से किया जाता है । विधान सभा के बहुमत दल के नेता मंत्रिपद ग्रहण कर लेते हैं, तथा उसके पश्चात् वह स्वयं ही शासन-कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए विधान सभा के सामने कानूनों का मसविदा पेश करते हैं । इस प्रकार हम देखते हैं कि कैबिनट सरकार में विधान सभा और मंत्रिमण्डल अलग-अलग नहीं रहते ।

(२) संगठन की एकता (Unity of Organisation)—कार्यपालिका सामूहिक रूप से प्रधानमंत्री के नेतृत्व में काम करती है । प्रधानमंत्री धारा सभा के बहुमत दल का नेता होता है । इस प्रकार वह शासन और उसकी नीति की एकता कायम रखता है ।

(३) मन्त्रियों की संयुक्त जिम्मेदारी (Joint Responsibility)—मंत्रिमण्डल सामूहिक रूप से विधान सभा के प्रति जिम्मेदार होता है । यदि विधान सभा किसी एक मंत्री के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास करती है तो केवल उसी को इस्तीफा देना नहीं पड़ता, बल्कि सारी कार्यपालिका को ही इस्तीफा देना पड़ता है ।

(४) अवधि की अनिश्चितता (No fixity of tenure)—कैबिनेट सरकार की कोई निश्चित अवधि नहीं होती । वह केवल उतने ही समय तक अपने पद पर कायम रहती है जितने समय उसे विधान सभा का विश्वास प्राप्त होता है । यदि विधान सभा किसी मंत्रिमण्डल बनाने से अगले ही दिन उस पर अविश्वास का प्रस्ताव पास कर दे तो उसे तुरन्त ही अपने पद से इस्तीफा देना पड़ता है ।

राष्ट्रपति या प्रधानी या अध्यक्षात्मक शासन (Presidential form of Government)

अध्यक्षात्मक-शासन व्यवस्था में विधान सभा और कार्यपालिका एक दूसरे से बिल्कुल पृथक् रहती हैं । कार्यपालिका का अध्यक्ष एक सभापति होता है । जनता उसे स्वयं चुनती है । वह धारा सभा का सदस्य नहीं होता, न वह इसकी सभाओं में ही भाग लेता है । वह अपनी कार्यपालिका स्वयं बनाता है । कार्यपालिका के ये सदस्य विधान सभा के सदस्य नहीं होते । वे केवल राष्ट्रपति के प्रति ही उत्तरदायी होते हैं, विधान सभा के प्रति नहीं ।[2] इस प्रकार की शासन-व्यवस्था में निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं :—

---

1. Cabinet Government is that system in which the real executive—the Cabinet or Ministry—is immediately and legally responsible to the legislature or one branch of it for its legislative and administrative acts. (Garner)

2. Presidential Government is that form in which the executive is constitutionally independent of the legislature as regards its tenure and to a large extent also as regards its policies and acts. (Garner)

(१) विधानमंडल तथा कार्यपालिका की भिन्नता (Separation of Executive from Legislature)—इस प्रकार के शासन-विधान में कार्यपालिका विधान सभा से बिलकुल अलग रहती है। मंत्री विधान सभा में नही बैठते, न वह उसके सामने किसी प्रकार का कानून इत्यादि ही पेश करते हैं। विधान सभा स्वय कानूनो को बनाती है। कार्यपालिका का काम केवल कानूनो पर अमल करना होता है।

(२) उत्तरदायित्व का अभाव (No Responsibility)—कार्यपालिका विधान सभा के सामने अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी नही होती। विधान सभा मे उसके कार्यों के सम्बन्ध मे कोई प्रश्न नही पूछा जा सकता। वह विधान सभा द्वारा अपने अधिकार-पद से नही हटाई जा सकती।

(३) निश्चित अवधि (Fixed Term)—राज्य की कार्यपालिका का अध्यक्ष निश्चित समय के लिए (अमेरिका मे चार साल के लिए) चुना जाता है। इतने समय मे उसे अपने कार्यक्षेत्र में पूर्ण अधिकार प्राप्त होते है और उसे कोई अपने पद से हटा नहीं सकता।

मन्त्रिमण्डलात्मक शासन के गुण (Merits of Cabinet Govt)

(१) कैबिनेट सरकार में, कार्यपालिका और विधान सभा मे घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है, इसलिए वह दोनो एक ही उद्देश्य से काम करते हैं। इसके विपरीत अध्यक्षात्मक शासन मे मन्त्री धारा सभा मे जाकर किसी कानून को पेश नही कर सकते। इस प्रकार इस शासन मे कार्यपालिका और विधान सभा में मतभेद होने की सदा आशंका बनी रहती है।

(२) कैबिनेट सरकार मे शासन-सम्बन्धी कार्य अधिक योग्यता और तत्परता के साथ किये जा सकते है, क्योंकि उस व्यवस्था के अन्तर्गत मन्त्री धारा सभा के बहुमत दल के नेता होते है और देश के शासन को चलाने के लिए वे जिन कानूनों को सही समझते है उन्हें वे व्यवस्थापिका सभा में आसानी से स्वीकृत करा सकते हैं। अध्यक्षात्मक शासन में ऐसा नही हो सकता क्योंकि वहाँ कार्यकारिणी तथा व्यवस्थापिका सभा दोनो स्वतन्त्र रहती हैं।

(३) मन्त्रिमण्डलात्मक शासन में वास्तविक रूप से उत्तरदायी सरकार होती है। यदि वह जनमत के विरुद्ध जाय तो आसानी से हटाई जा सकती है और उसके स्थान पर नई सरकार स्थापित की जा सकती है। अध्यक्षात्मक शासन में कार्यकारिणी की अवधि निश्चित रहती है और लोग चाहे कितना भी चाहें इस बीच में उसे उसके पद से नही हटा सकते। इस प्रकार कार्यकारिणी अपने कार्य में स्वेच्छाचार और निरकुशतापूर्वक शासन कर सकती है।

(४) मन्त्रिमण्डलात्मक शासन का प्रधान गुण उसका लचीलापन और परिवर्तनशीलता है। इस प्रकार के शासन-विधान में आवश्यकता पडने पर अथवा राष्ट्रीय सकट के समय मन्त्रिमण्डल आसानी से बदला जा सकता है। अध्यक्षात्मक प्रथा मे कार्यपालिका का काल निश्चित रहता है, इसलिए वह किसी भी दशा में नही बदली जा सकती।

दोष (Defects)

कैबिनेट सरकार में जहाँ इतने गुण हैं वहाँ उसमें दोष भी हैं :—

(१) सर्वप्रथम यह स्थायी ढंग की सरकार नहीं है। जिस देश में अधिक राजनीतिक दल होते हैं उसमें सरकार बराबर बदलती रहती है। शासन के परिवर्तन के साथ-साथ कभी-कभी नीति में भी क्रान्तिपूर्ण परिवर्तन हो जाता है और इससे बहुत असंतोष और सार्वजनिक विद्रोह उत्पन्न हो जाते हैं।

(२) इस व्यवस्था में अधिकार-विभाजन के कार्य को अमल में नहीं लाया जाता। व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के काम एक ही संस्था में शामिल कर दिये जाते हैं, इससे नागरिक स्वतन्त्रता में अपहरण का खतरा बना रहता है।

(३) संसदीय सरकार का आधार राजनीतिक दलबंदी प्रथा है। इसलिए ऐसी सरकार में दलीय शासन के सब दोष आ जाते हैं। अल्पमत दल के बहुत से योग्य पुरुष मंत्रिमण्डल में शामिल नहीं किये जाते। बहुमत दल हर प्रकार से अपने विरोधी दल को दबाने का प्रयत्न करता है।

मंत्रिमण्डलात्मक सरकार की सफलता के लिए राजनीतिक दलों का संगठन क्यों आवश्यक है, इस प्रश्न का उत्तर इसी पुस्तक के १८वें अध्याय में दिया जायगा।

अध्यक्षात्मक शासन के गुण (Merits of Presidential form of Government)

(१) इस शासन-व्यवस्था में देश के दैनिक शासन के संचालन के लिए कार्यपालिका को पूर्ण अधिकार प्राप्त होते हैं। इसमें विधान सभा कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकती। राष्ट्रपति एक निश्चित अवधि के लिए निर्वाचित होता है। इस अवधि में उसे उसके पद से नहीं हटाया जा सकता।

(२) इस प्रकार की सरकार में कुशलता और निपुणता अधिक होती है, कारण मंत्री अपना सारा समय शासन-कार्य में ही लगाते हैं। उन्हें विधान सभा के कार्य में भाग नहीं लेना पड़ता।

(३) यह व्यवस्था उन देशों के लिए अच्छी है जहाँ विभिन्न जातियों और दलों का प्राधान्य रहता है, कारण इस सरकार में दलबन्दी प्रथा का जोर नहीं रहता।

दोष (Defects)

(१) इस शासन-विधान में विधान-सभा और कार्यपालिका में मतभेद का सदा भय बना रहता है। जब सभापति एक दल का नेता होता है और विधान सभा में दूसरे दल के लोगों का बहुमत, तो शासन की व्यवस्था ठीक प्रकार से नहीं चलती।

(२) विधान मण्डल के सदस्य कार्यपालिका की उन कठिनाइयों को अच्छी तरह नहीं समझते जो उसे देश के दिन प्रतिदिन के शासन कार्य के संचालन करने में उठानी पड़ती हैं, और इसलिए वह उन कानूनों को उस तत्परता के साथ स्वीकार नहीं करते, जैसा कि कार्यकारिणी, देश में शान्ति स्थिर रखने की भावना से चाहती है।

(३) अध्यक्षात्मक सरकार मे कार्यपालिका विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी नही होती। राष्ट्रपति को, चाहे उसकी नीति और कार्यों को विधान सभा और निर्वाचक कितना ही नापसन्द करते हो, उसके पद से नही हटाया जा सकता।

अध्यक्षात्मक शासन केवल अमेरिका और उसके कुछ देशों में प्रचलित है। संसार के दूसरे सभी देशों में *मन्त्रिमण्डलात्मक शासन-व्यवस्था* ही चालू है। यह इस प्रकार के शासन की लोकप्रियता का पूरा प्रमाण है।

एकीय और संघीय शासन-विधान (Unitary and Federal Governments)

इन दोनों शासनों का वर्णन संविधान के अध्याय में किया जा चुका है। यहाँ हम संघीय शासन के लाभ और हानियो का ही वर्णन करेंगे।

संघीय शासन के गुण (Merits of Federal Government)

(१) यह राष्ट्रीय एकता और स्थानीय स्वाधीनता के समन्वय का आश्चर्यजनक राजनीतिक उपाय है। यह छोटे-छोटे राज्यो को आपस में मिलाकर, स्वाधीनता के कम से कम बलिदान द्वारा, अधिक शक्तिशाली पड़ोसियों के आक्रमण से रक्षा के योग्य बनाता है। संघीय शासन में केवल समान हित के विषय केन्द्रीय शासन के नियन्त्रण मे सौंपे जाते हैं, बाकी विषय प्रान्तीय सरकारो के ही अधिकार में रहते है। इस प्रकार संघीय शासन में राष्ट्रीय एकता के साथ-साथ स्वाधीनता भी मिल जाती है।

(२) यह राष्ट्रीय और स्थानीय शासनों के बीच कार्य का इस प्रकार विभाजन करता है कि इससे शासन-यन्त्र मे अधिक कुशलता आ जाती है।

(३) इस विधान के अन्तर्गत स्वायत्त शासन संस्थाएँ स्थापित की जाती हैं। केन्द्रीय शासन के उच्च कर्मचारी राजधानी मे रहकर, विभिन्न स्थानीय लोगो की आवश्यकताओं को नही जान सकते। इन आवश्यकताओं को वहीं के स्थानीय लोग ही समझ सकते हैं और यह इन कार्यों मे क्रियात्मक और बुद्धिमत्तापूर्ण दिलचस्पी लेकर प्रजातन्त्र की व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त कर लेते हैं।

(४) प्रजातन्त्रात्मक शासन के काम को सफलतापूर्वक चलाने के लिए संघीय शासन आदर्श उपाय है क्योंकि यह विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त पर अवलम्बित है। इसलिए इस शासन व्यवस्था के अन्तर्गत साधारण नागरिक को जो देश के एक छोर में रहता हो, स्थानीय संस्थाओं के कार्यों मे भाग लेकर अपनी नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति करने का अवसर मिलता है।

(५) यह व्यवस्था बड़े-बड़े देशो जैसे हिन्दुस्तान, रूस या अमेरिका के लिए विशेष रूप से उपयुक्त है। इन देशो मे विभिन्न स्थानीय परिस्थितियों के कारण अलग-अलग राज्यों में विशेष शासनिक प्रबन्ध की आवश्यकता पड़ती है। संघ शासन समान हित के विषयों को अपने अधीन रखकर शेष स्थानीय विषयों को प्रान्तों के सुपुर्द कर देता है। इस प्रकार इस शासन में एकता के साथ विभिन्नता का अद्भुत सामंजस्य पाया जाता है।

(६) यह राज्यों को अपने आर्थिक साधनों की अधिक उन्नति करने के योग्य बनाता है।

(७) संघीय शासन व्यवस्था के अन्तर्गत सदस्य राज्यों की मान प्रतिष्ठा बढ़ जाती है। आज संसार में अमेरिका सबसे अधिक शक्तिशाली राष्ट्र माना जाता है, क्योंकि वह ४८ राज्यों का एक सम्मिलित राज्य है।

(८) यह संसार के स्वतन्त्र राष्ट्रों के स्वतन्त्र संघ की स्थापना की ओर प्रथम कदम है जिसको सभी प्रजातन्त्रवादी अपना लक्ष्य मानते हैं। इस प्रकार इसका भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है।

दोष (Defects)

जहाँ संघीय शासन में इतने गुण हैं वहाँ इसमें कुछ दोष भी हैं। लार्ड ब्राइस इसके दोषों का संक्षेप में इस प्रकार वर्णन करता है :—

(१) विदेशी प्रश्नों के हल करने में संघीय शासन एकात्मक शासन के मुकाबले में कमजोर रहता है क्योंकि इसके अन्तर्गत संघ में सम्मिलित राज्यों की अलग इकाई होती है।

(२) गृह शासन में भी यह शासन व्यवस्था एकात्मक शासन के मुकाबले में कमजोर सिद्ध होती है क्योंकि इसमें प्रत्येक नागरिक को दो सरकारों का हुक्म मानना पड़ता है, एक संघीय और दूसरी प्रान्तीय।

(३) इस शासन में राज्यों के विद्रोह द्वारा शासन के भंग होने की संभावना बनी रहती है।

(४) संघीय राज्यों द्वारा अलग-अलग गुट बनाये जाने तथा इस प्रकार सरकार की शक्ति कम होने का डर रहता है।

(५) संघीय शासन में दो सरकारें तथा दो प्रकार के कानून होते हैं। नागरिक एक ही प्रकार के शासन के अधीन नहीं रहता।

(६) कानून और शासन की द्वैध प्रणाली की उलझनों के कारण सरकार का खर्च बढ़ जाता है और शासन की कुशलता घट जाती है। इस प्रकार हमें पता चलता है कि संघीय शासन के सबसे बड़े दोष अधिकारों के बँटवारे के कारण पैदा होते हैं। एकात्मक शासन में जो एकता, शक्ति, तत्परता और योग्यता होती है वह संघीय राज्यों में नहीं पाई जाती। संघीय शासन में द्वैध राजभक्ति रहती है। शासन-यन्त्र भी दोहरा होता है। इसका मतलब यह होता है कि संघीय शासन एकात्मक शासन की अपेक्षा अधिक खर्चीला होता है। इसके अतिरिक्त संघ में कानून और नीतियों की विभिन्नता रहती है और इससे एक साधारण नागरिक के मन में दुविधा पैदा होती है। केन्द्रीय और स्थानीय अंगों के बीच अधिकारों के बँटवारे के सम्बन्ध में भी अक्सर झगड़े हुआ करते हैं, जिनसे इन मामलों को संघ अदालत के सामने भेजने की जरूरत पड़ती है।

संघवाद का भविष्य (Future of Federalism)

संघीय शासन मे इन दोषों के रहने पर भी वर्तमान काल में संघीय सरकारें अधिकाधिक लोकप्रिय हो रही है। अनेक नये राज्यों में संघीय शासन प्रणाली को ही अपनाया जा रहा है। हमारे अपने देश मे भी संघीय शासन व्यवस्था ही स्थापित की गई है। प्रजातन्त्रवादी संसार में मनुष्य समाज की महासंसद (Parliament of Man) और विश्व-सरकार (World Government) की स्थापना इसी सिद्धान्त के आधारपर करना चाहते है। संसार के अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े, युद्ध, भेदभाव आदि भी इसी सिद्धान्त के आधार पर समाप्त हो सकते हैं।

एकात्मक शासन के गुण (Merits of Unitary Government)

(१) एकात्मक शासन-विधान में कानून, शासन और न्याय में एकता रहती है। राष्ट्र के सभी नागरिक एक ही प्रकार के कानून और कायदों का पालन करते हैं। इससे जनता मे एकता बढ़ती है और शक्तिशाली राष्ट्र का निर्माण होता है।

(२) एकात्मक शासन-विधान मे सब अधिकार केन्द्रीय सरकार को ही प्राप्त होते हैं, इससे राज्य के अंगों के अधिकार और सीमा क्षेत्र के सम्बन्ध मे वैसा कोई भी संघर्ष उत्पन्न नही होता, जैसा प्राय संघ के विभिन्न राज्यों के बीच अधिकार-विभाजन के प्रश्नों पर हो जाया करता है।

(३) एकात्मक विधान में शासन के सब अधिकार केन्द्रीभूत रहते हैं, इससे देश के विदेशी मामलों और युद्ध-संचालन के काम मे अधिक सुविधा रहती है।

(४) इसकी व्यवस्था बहुत सरल होती है और इस कारण यह अपने निर्णयों पर तेजी से अमल कर सकती है।

(५) इसमें संघीय शासन की अपेक्षा कम खर्च होता है, क्योंकि इसमें केन्द्रीय नौकरियों की द्वैध प्रणाली नही रहती।

दोष (Defects)

(१) एकात्मक शासन में केन्द्रीय सरकार पर उन कार्यों का भी भार आ पड़ता है जिनका सम्बन्ध स्थानीय शासन से रहता है। यह काम इन स्थानों मे रहनेवाले लोग बहुत आसानी से कर सकते हैं।

(२) डाक्टर गारनर के मतानुसार एकात्मक शासन से स्थानीय कार्यक्षमता का ह्रास होता है, सार्वजनिक कार्यों के प्रति दिलचस्पी कम हो जाती है तथा स्थानीय शासनों की उपयोगिता कम हो जाती है।

(३) प्रजातन्त्र शासन में अधिकारों का अधिकाधिक विकेन्द्रीकरण होना चाहिए, जिससे जनता पंचायती राज्य की शिक्षा प्राप्त कर सके। परन्तु एकात्मक शासन में अधिकारों का केन्द्रीकरण होता है।

(४) एकात्मक विधान में नौकरशाही पर अधिक भरोसा रखना पड़ता है। इससे

राज्य पुराने ढंग पर चलता है और उसमें स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार नये प्रयोग की क्षमता नहीं रहती।

अच्छे शासन की परख (Test of Good Government)

इस अध्याय के पिछले पृष्ठों में हमने संसार के विभिन्न देशों में प्रचलित भिन्न-भिन्न शासन के तरीकों पर विचार किया है। सभी तरीकों में कुछ गुण व दोष पाये जाते हैं। इसलिए यह कहना बहुत कठिन है कि किस देश के लिए किस प्रकार का शासन सबसे उपयुक्त है। शासन की उपयोगिता उस देश की विशेष परिस्थितियों और वातावरण पर निर्भर करती है। ऐसा कोई एक शासन का तरीका नहीं जो सभी सामाजिक अवस्थाओं तथा हालतों में ठीक साबित हो सके।

शासन के विभिन्न तरीके अलग-अलग आवश्यकताओं और उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं। राजतन्त्रात्मक शासन पिछड़े हुए देशों के लिए ठीक रहता है, जहां लोगों में नैतिक जागृति का पूर्ण विकास नहीं हुआ है। प्रजातन्त्र शासन उस देश के लिए उपयुक्त हो सकता है जहां साधारण शिक्षा का काफी प्रचार हो तथा जहां लोग अपने अधिकार और कर्तव्यों को भली प्रकार समझते हों। मन्त्रिमण्डलात्मक शासन का तरीका उस देश के लिए ठीक होता है जहां दो राजनीतिक दल हों तथा जहां जनता में राजनीतिक मतभेद न हों। अध्यक्षात्मक शासन का तरीका उस देश के लिए ठीक हो सकता है जहां विभिन्न जातियों और मतों का प्राधान्य हो। तानाशाही किसी भी देश में राष्ट्रीय संकट को दूर करने या युद्ध का संचालन करने के लिए ठीक मानी जा सकती है। संघीय शासन उन देशों के लिए ठीक है जिन्हें राष्ट्रीय एकता और स्थानीय स्वराज्य के कायम रखने की इच्छा हो। एकात्मक शासन इससे दूसरी परिस्थितियों में ठीक माना जा सकता है।

इसलिए हम शासन की अच्छाई का निश्चय करने के लिए किसी भी विशेष माप को निर्धारित नहीं कर सकते। 'पोप' के समान कुछ लेखकों का कहना है कि "वह शासन सर्वोत्तम है जहां सर्वोत्तम तरीके से शासन किया जाता है।" हमारे मत से शासन की कुशलता ही अच्छे शासन की कसौटी तथा परख नहीं है। यह बात सही है कि किसी भी शासन को अच्छा कहलाने के लिए समाज में ठीक प्रकार से शांति और न्याय कायम रखना चाहिये, परन्तु शासन की वास्तविक पहचान यह है कि वह कहां तक नागरिकों में उन बौद्धिक और नैतिक गुणों का संचार करता है जिन पर मानव-समाज की उन्नति और सामाजिक सहयोग की भावना निर्भर है।

योग्यता-प्रश्न

१. राज्य के वर्गीकरण के एरिस्टाटल के तरीकों पर प्रकाश डालिए और उसके दोष बतलाइए।

२. राजतन्त्रात्मक शासन से लाभ और हानि क्या हैं ?

३. कुलीनतन्त्र (Aristocracy) से आप क्या समझते हैं? इसके विभिन्न

तरीके कौन-से हैं ? कुलीनतंत्रात्मक शासन के तरीके मौजूदा संसार में कहाँ तक पाये जाते हैं ?

४. प्रजातंत्रात्मक विधान के सफलतापूर्वक काम करने के लिए कौन-सी शर्तें जरूरी हैं ? यह शर्तें हिन्दुस्तान में कहाँ तक पाई जाती हैं ? (यू० पी०, १९३०, १९३३, १९३४, १९३८)

५. प्रजातंत्र का क्या अर्थ है ? इसके गुण और दोष पर प्रकाश डालिए। (यू० पी०, १९३१, १९३७, १९३९, १९४२, १९४४)

६. संघीय (Federal) और एकात्मक (Unitary) शासन की कार्यकारिणी के विभिन्न तरीकों का वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९३४)

७. सांसदिक (Parliamentary) शासन के गुणों का वर्णन कीजिये। इसकी सफलता के लिए विभिन्न राजनीतिक दलों की क्यों आवश्यकता पड़ती है ? (यू० पी०, १९४०)

८. प्रजातन्त्र की व्याख्या कीजिये और प्रजातन्त्र में भाषण और समाचारपत्र की स्वाधीनता का क्या महत्त्व है, इस पर प्रकाश डालिये। (यू० पी०, १९४२)

९. प्रजातन्त्रीय शासन का अर्थ है कि राज्य के प्रत्येक नागरिक को, अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए समान अवसर मिलने चाहिये, समझाइये। (यू० पी०, १९४३)

१०. मन्त्रिमंडलात्मक (Cabinet) और अध्यक्षात्मक शासन के भेद बताइये। इनके गुण और दोषों पर तुलनात्मक प्रकाश डालिये। (यू० पी०, १९४३) इनमें से किस प्रकार के शासन को आप अच्छा समझते हैं ? (यू० पी०, १९४७)

११. प्रजातन्त्रीय और तानाशाही शासकों के गुणों का मुकाबला कीजिए ? (यू० पी०, १९४४)

१२. संघीय (Federal) और एकात्मक (Unitary) विधानों की तुलना कीजिये। हिन्दुस्तान के लिए आप कौन-सा तरीका पसन्द करेंगे और क्यों ? (यू० पी०, १९४८)

१३. वर्तमान संसार में पाई जाने वाली सरकारों का वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९४८)

१४. आप प्रस्वाधिकार, जनमत संग्रह, प्रत्यावर्तन तथा लोकमत संग्रह से क्या समझते हैं ? स्पष्ट रूप से समझाइये।

१५. वह सरकार सबसे अच्छी होती है जो सबसे कम शासन करे। क्या आप इस राय से सहमत हैं ? (यू० पी०, १९४८)

१६. संघीय शासन के मुख्य अंग क्या हैं ? इस शासन के गुण तथा दोषों का वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९४९)

१७. एकात्मक सरकार का क्या अर्थ है ? संघात्मक विधान से यह किस प्रकार भिन्न है ? (यू० पी०, १९५१)

१८. "अशिक्षित लोकसत्ता निकृष्ट प्रकार की शासन-व्यवस्था है।" इस कथन की विवेचना कीजिये। (यू० पी०, १९५१)

१९. जनतंत्रीय सरकार के सफलतापूर्वक संचालन के लिए किन-किन बातों की आवश्यकता है? भारत में ये बातें कहाँ तक पाई जाती हैं? (यू० पी०, १९५४; पंजाब, १९५२)

२०. अच्छी सरकार के क्या चिह्न हैं? उदाहरण सहित विस्तारपूर्वक लिखिये। (यू० पी०, १९५४; पंजाब, १९५४)

२१. प्रजातन्त्र की परिभाषा कीजिये। इसके गुण तथा दोषों का वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९५६)

२२. संसदात्मक सरकार के मुख्य लक्षण क्या हैं? इसके गुण और दोषों पर प्रकाश डालिए। (यू० पी०, १९५८)

अध्याय १६

राज्य का स्वभाव, उद्देश्य और कार्य

(Nature, End and Functions of The State)

§ १. राज्य का स्वभाव (Nature of the State)

राज्य कृत्रिम और स्वाभाविक (Artificial and Natural) दोनो है

राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में कभी-कभी पूछा जाता है कि राज्य कृत्रिम है अथवा स्वाभाविक, अर्थात् वह मनुष्यकृत है या ईश्वरकृत। इस विषय पर गम्भीरता से विचार किया जाय तो मालूम पडता है कि राज्य न ईश्वरकृत ही है और न मनुष्यकृत ही। इसका जन्म प्राकृतिक विकास की क्रिया के फलस्वरूप स्वयमेव ही हुआ है।

परन्तु दूसरे कारणों से वह स्वाभाविक और कृत्रिम दोनो कहा जा सकता है। मनुष्य-स्वभाव से ही शान्ति और व्यवस्था पसन्द करता है। उसे अराजकता और झगडों से घृणा है। उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए शान्तिपूर्ण वातावरण की आवश्यकता पडती है। इसलिए राज्य का सगठन मानव-स्वभाव में व्याप्त है। राज्य स्वाधीनता का पोषक, अधिकारों का पालक तथा कर्तव्यों का सरक्षक है। वह सस्कृति और सभ्यता का भी पोषक है। मनुष्य राज्य के बाहर नहीं रह सकता। उसे शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए राज्य की जरूरत पडती है। इस अर्थ में यह कहा जा सकता है कि राज्य स्वाभाविक है।

हम कुछ दूसरे कारणों से राज्य को कृत्रिम कह सकते हैं। राज्य के बाह्य स्वरूप अर्थात् सरकार का सगठन मनुष्य करता है। राज्य में रहनेवाले सभी नागरिक सामूहिक रूप से मिल कर इस बात का फैसला करते हैं कि उन्हें अपने देश के लिए किस प्रकार की शासन व्यवस्था अपनानी चाहिये—मन्त्रिमण्डलात्मक या अध्यक्षात्मक, एकात्मक या सघीय, तानाशाही या प्रजातान्त्रिक इत्यादि।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि राज्य स्वाभाविक और कृत्रिम दोनो है।

§ २. राज्य का उद्देश्य (The End of the State)

राज्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में दो प्रधान मत हैं—एक मत राज्य को किसी अन्य उद्देश्य का साधन नहीं मानता। वह राज्य को अपना उद्देश्य स्वय मानता है (The State is an end in itself)। दूसरे मत के अनुसार राज्य मनुष्य की भलाई का केवल साधन मात्र है (The State is merely a means to individual good)।

राज्य के उद्देश्य के पहले मत का समर्थन जर्मन दार्शनिकों (Hegel, Trietske) वगैरह और फासिस्ट सिद्धान्तवादियों ने किया है। उनका कहना है कि राज्य का अपने नागरिकों से अलग एक व्यक्तित्व है, राज्य का मुख्य उद्देश्य अपने को गौरवान्वित करना है। मनुष्यों के राज्य के विरुद्ध किसी प्रकार के अधिकार नहीं होते। उनके उसके प्रति केवल कर्तव्य हैं। नागरिकों का अस्तित्व राज्य के कारण है, उन्हें जो भी शिक्षा-दीक्षा तथा जीवन में उन्नति करने के अवसर मिलते हैं, वे सब राज्य की देन हैं। मनुष्य का इसलिए धर्म है कि वह अपने राज्य के प्रति अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिए सदा तत्पर रहे। राज्य के गौरव में मनुष्य का गौरव है और राज्य के पतन में मनुष्य का पतन। राज्य आध्यात्मिक संस्था है, वह कोई बुरा काम नहीं कर सकती। वह जो काम करती है, जनता की भलाई के लिए ही करती है।[1]

यह मत कभी भी सर्वमान्य तथा लोकप्रिय नहीं हो सका है, कारण यह मनुष्य को राज्य की प्रतिष्ठा का केवल साधन मात्र बना देता है। इसलिए राज्य के उचित उद्देश्य के सम्बन्ध में दूसरा मत यह है कि राज्य मनुष्य की भलाई का एक साधन है। मनुष्यों के संगठन से ही राज्य का जन्म होता है। राज्य मनुष्यों से अलग कोई वस्तु नहीं है। इसलिये राज्य का उद्देश्य अपना गौरव प्राप्त करना नहीं, वरन् अपने नागरिकों के व्यक्तित्व के विकास के लिए प्रयत्न करना है। मनुष्य अपना स्वयं उद्देश्य है, राज्य उसकी उद्देश्य-पूर्णता का केवल एक साधन है।

परन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि राज्य मनुष्यों के हित का साधन मात्र है तो वह कौन-सा हित है जिसकी पूर्ति का वह साधन है? इस विषय में कई मत व्यक्त किये जाते हैं। व्यक्तिवादियों का कहना है कि मनुष्य का चरम हित स्वतन्त्रता है और राज्य का उद्देश्य स्वतन्त्रता की अधिक से अधिक रक्षा करना है। उपयोगितावादियों का कहना है कि राज्य को वह कार्य करने चाहिए जिनसे अधिक से अधिक लोगों का अधिकतम भला हो सके। समाजवादियों की राय में राज्य का उद्देश्य किसान व मजदूरों के हितों की रक्षा करना है क्योंकि वही दौलत के असली उत्पादक हैं। आदर्शवादियों की राय में राज्य का मुख्य कार्य नैतिक जीवन के मार्ग से विघ्न-बाधाओं को हटाना है।

हमारी राय में राज्य का उद्देश्य मानव व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास है। उसका कार्य केवल स्वतन्त्रता की ही रक्षा करना, या किसानों व मजदूरों का ही हित-चिंतन नहीं। उनका उद्देश्य मनुष्य की मानसिक, शारीरिक और आध्यात्मिक—हर प्रकार की उन्नति करना है। उसका ध्येय किसी व्यक्ति विशेष या जाति या वर्ग विशेष की हित-साधना भी नहीं, उसका धर्म समान हित (Common good) के लिए काम करना है। राज्य इसी अर्थ में व्यक्तियों से ऊपर एक संगठन है कि वह सारी जनता का हित साधन करता है, किसी व्यक्ति विशेष का नहीं।

---

1. The State is the Supreme association that aims at the Supreme good (Aristotle)

§ ३. राज्य के कार्य-सम्बन्धी भिन्न-भिन्न सिद्धान्त
(Theories of State Functions)

राज्य के उद्देश्यों पर विचार करते समय हमने कुछ राजनीतिक मतों का उल्लेख किया था जिनके आधार पर राज्य के कर्तव्यों की उचित सीमा निर्धारित की जाती है। अब हम इन सिद्धान्तों पर विस्तार से विचार करेंगे। राज्य के कार्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों में मुख्य निम्नलिखित हैं—(१) व्यक्तिवादी सिद्धान्त, (२) समाजवादी सिद्धान्त, (३) उपयोगितावादी सिद्धान्त, (४) आदर्शवादी सिद्धान्त, (५) गांधीवादी सिद्धान्त, (६) कल्याण राज्य सिद्धान्त।

व्यक्तिवादी सिद्धान्त (Individualistic Theory of State Functions)

व्यक्तिवादी-सिद्धान्त के अनुसार हमारी स्वतन्त्रता हमारे जीवन की सबसे प्रिय वस्तु है। राज्य के कार्यों और कानूनों द्वारा हमारी स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप होता है, अतः राज्य का कार्यक्षेत्र यथासम्भव बहुत ही छोटा होना चाहिये। फ्रीमैन (Freeman) ने कहा है, "सबसे अच्छी सरकार वह है जो सबसे कम शासन करती है" (That Government is the best which governs the least)। हम राज्य को एकदम तो हटा नहीं सकते, क्योंकि समाज में ऐसा करने से अस्त-व्यस्तता फैलने का डर रहता है और समाज के दुश्मन उभरने लगते हैं। किन्तु हम इतना अवश्य कर सकते हैं कि राज्य की संस्था को अधिक अधिकार न सौंपें—उसका कार्यक्षेत्र अत्यन्त सीमित रक्खें। व्यक्तिवादी दार्शनिकों की राय में राज्य एक आवश्यक दोष है (State is a necessary evil)। यह एक ऐसी बुराई है जिसे विवश होकर व्यक्ति को स्वीकार करना पड़ता है। इसलिए राज्य को कोई ऐसा अधिकार नहीं मिलना चाहिए जिससे वह व्यक्तियों को दबा सके। राज्य का काम केवल "मनुष्य की प्राकृतिक उन्नति के रास्ते में से रोड़े हटाना है", उसकी भलाई करना या उसकी उन्नति के लिए प्रबन्ध करना नहीं। राज्य को केवल एक पुलिस स्टेट (Police State) का काम करना चाहिए, अर्थात् समाज में शान्ति और व्यवस्था, देश की बाहरी आक्रमणों से रक्षा, तथा व्यक्तियों के जान और माल की हिफाजत। उसका काम स्कूल और कालेज, वाचनालय और अजायबघर, अस्पताल और आमोद-प्रमोद के स्थान खोलना नहीं। ऐसा करने से व्यक्ति की प्राकृतिक उन्नति में बाधा पड़ती है।

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन यूरोप में अठारहवीं सदी के अन्तिम काल में हुआ था। इसके मुख्य समर्थक मिल (Mill), ऐडम स्मिथ (Adam Smith), स्पैन्सर (Spencer), रिकार्डो, (Ricardo) तथा माल्थस (Malthus) थे। यह सिद्धान्त मुख्यतः तीन धारणाओं पर अवलम्बित है —

(१) नैतिक—इस धारणा के अनुसार मनुष्य समाज में केवल उसी समय उन्नति कर सकता है जब उसे बिल्कुल स्वाधीन छोड़ दिया जाय। बाहरी मदद से मनुष्य में स्वयं उन्नति करने की शक्ति नहीं रहती, उसका विकास रुक जाता है और वह दूसरों पर

निर्भर रहने लगता है। इस प्रकार, बाहरी मदद से, न केवल एक व्यक्ति के जीवन का ही विकास रुकता है बल्कि समाज की उन्नति में बाधा पड़ती है।

(२) आर्थिक—समाज की आर्थिक उन्नति भी स्वतन्त्रता के वातावरण में ही सम्भव होती है। व्यापार और व्यवसाय स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा (Open competition) के क्षेत्र में ही बढ़कर उन्नति करते हैं। खुले बाजार में चीजें सबसे सस्ती रहती हैं, और माँग और पूर्ति की शक्तियाँ, चीजों को देश के विभिन्न हिस्सों में बराबर-बराबर भेजने पर मजबूर करती हैं। मनुष्य अपना आर्थिक स्वार्थ खूब समझता है, वह जानता है कि उसका फायदा किस काम को करने में है। इसलिए यदि सरकार सब मनुष्यों को स्वतन्त्र छोड़ दे तो वह अपनी और फलतः समाज की अधिक से अधिक आर्थिक उन्नति कर सकते हैं।

(३) वैज्ञानिक—वैज्ञानिक आधार पर ही व्यक्तिवादी अपने सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। उनका कहना है कि प्रकृति के क्षेत्र में एक निरंतर जीवन-संग्राम (Struggle for existence) चलता रहता है जिसका उद्देश्य यह होता है कि अनुपयुक्त जीव नष्ट हो जायें और केवल उपयुक्त जीव ही बचे रहें (Survival of the fittest)। यदि सरकार आर्थिक या सामाजिक बातों में हस्तक्षेप करती है और निर्धनों या दुर्बलों की सहायता करती है तो इससे जीवन-संग्राम में विघ्न पड़ता है। अतः व्यक्तिवाद, अर्थात् न हस्तक्षेप (Laissez faire) की नीति ही प्राकृतिक नियमों के अनुकूल है। इसी नियम से अयोग्य और बेकार मनुष्यों का नाश होकर एक बलवान्, उन्नतिशील और शक्तिशाली राष्ट्र की स्थापना संभव हो सकती है।

व्यक्तिवादी सिद्धान्त की आलोचना (Criticism)

व्यक्तिवादी सिद्धान्त की अनेक लोगों ने आलोचना की है। उनका कहना है कि इस सिद्धान्त ने मनुष्य का मनुष्य द्वारा शोषण सिखाया, पूँजीपतियों द्वारा गरीब किसान और मजदूरों पर किये गये अत्याचार का समर्थन किया, तथा संसार में दमन और अनाचार के वातावरण को जन्म दिया। इस सिद्धान्त में अनेक दोष हैं:—

(१) सर्वप्रथम यह कि, यह सिद्धान्त इस धारणा पर अवलम्बित है कि प्रत्येक मनुष्य का अपना एक अलग अस्तित्व है, उसका दूसरे प्राणियों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। उसके हित समाज के दूसरे लोगों के हित से भिन्न हैं। यह सिद्धान्त एकदम गलत है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, उसका हित समाज और राज्य के हित के साथ आबद्ध है। मनुष्य में सामाजिक सेवा की प्राकृतिक भावना है, परन्तु व्यक्तिवादी मनुष्य को स्वार्थी जीव ही मानते हैं।

(२) दूसरे व्यक्तिवादी यह भूल जाते हैं कि स्वतन्त्रता का वास्तविक अर्थ हस्तक्षेप का अभाव नहीं, वरन् उन अवस्थाओं का होना है जिनमें मनुष्य अपने व्यक्तित्व का अधिक से अधिक विकास कर सकता है। यदि किसी मनुष्य को किसी निर्जन टापू में छोड़ दिया जाय तो वहाँ उसमें हस्तक्षेप करने वाला तो कोई न होगा और व्यक्तिवादियों के मतानुसार उसे पूर्ण स्वतन्त्रता रहेगी, परन्तु ऐसी स्वतन्त्रता कोई भी मनुष्य पसन्द न करेगा। अतः

स्वतन्त्रता का अमली अर्थ इच्छित और हितकर कार्यों के करने की सुविधा है। सरकार अपने उपयुक्त कार्यों द्वारा हमें इस प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारी स्वतन्त्रता और राज्य के कार्यों में कोई विरोध नहीं है। सरकार हमारी स्वतन्त्रता की रक्षक और सहायक होती है।

(३) समाज में सब मनुष्य समान रूप से बुद्धिमान नहीं होते। कुछ मनुष्य अधिक बुद्धिमान होते है, कुछ कम, कुछ मनुष्य शक्तिशाली होते है, कुछ निर्बल, कुछ मनुष्य सीधे-सादे होते हैं, कुछ अत्यन्त चालाक और धोखेबाज। यदि सरकार कानून बनाकर, निर्बलों को सबलों से और समाज के सीधे-सादे व्यक्तियों को बदमाश-गुण्डों से हिफाजत न करे तो समाज में घोर अन्याय छा जायगा और निर्बल तथा विवेकहीन मनुष्यों के लिए जीवित रहना कठिन हो जायगा।

(४) व्यक्तिवादी यह नहीं बतलाते कि यह जीवन-संग्राम के लिए किसको सबसे अधिक उपयुक्त प्राणी मानते हैं—उनकी योग्यता की कसौटी क्या है—धन की शक्ति, अथवा बौद्धिक क्षमता, अथवा नैतिक उच्चता। यदि अधिक धनवान् मनुष्यों के लिए ही यह समाज है, निर्धनों के लिए नहीं, तो एक डाकू जिसके पास लूट का बहुत-सा धन इकट्ठा रहता है, एक मजदूर के मुकाबले में अधिक योग्य माना जाना चाहिए और उसकी समाज में भी अधिक प्रतिष्ठा होनी चाहिए। इसी प्रकार शारीरिक बल के आधार पर, केवल पहलवानों का ही राज्य होना चाहिए, कमजोरों का नहीं। फिर व्यक्तिवादी यह नहीं बतलाते कि अपने समाज में वह बच्चों, स्त्रियों तथा बीमारों के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहते हैं, क्योंकि स्वभावत यह लोग औरों के आक्रमण के विरुद्ध अपनी रक्षा नहीं कर सकते।

(५) आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवादी सिद्धान्त का आशय होता है कि मजदूरों से अधिक से अधिक काम लिया जाय, उन्हें कम-से-कम वेतन दिया जाय, उनके रहने के लिए कोई अच्छे मकान न दिये जायें, स्त्रियों, बच्चों को कारखानों में काम पर लगाया जाय, बाजार में चीजें बेचने में किसी प्रकार की ईमानदारी व्यवहार में न लाई जाय, तथा छल, कपट, धोखा जिस प्रकार भी हो, धन इकट्ठा करने का प्रयत्न किया जाय। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में इसी व्यक्तिवादी सिद्धान्त ने समाज में मजदूरों तथा किसानों के शोषण को सराहा था। इसी सिद्धान्त के कारण आर्थिक क्षेत्र में उपभोक्ताओं के हित का दमन हुआ था। इन सब चीजों से अधिक इस सिद्धान्त की और क्या आलोचना हो सकती है।

(६) अन्त में प्राणि-शास्त्र (Biology) के जीवन-संग्राम के नियम मनुष्यों पर पूर्णतया लागू नहीं हो सकते क्योंकि वह केवल पशु न होकर बुद्धिमान् और नैतिक जीव है। मनुष्यों का धर्म असहायों को नष्ट करना नहीं, वरन् उनकी रक्षा करना है।

आजकल किसी भी देश की सरकार की कार्यप्रणाली व्यक्तिवाद सिद्धान्त पर अवलम्बित नहीं है। सभी देशों की सरकारें शिक्षा, स्वास्थ्य-रक्षा और देश की आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति करना अपना आवश्यक कर्तव्य समझती हैं। परन्तु इसका यह अर्थ

तात्पर्य नहीं कि व्यक्तिवाद सिद्धान्त में सचाई का कोई भी अंश नहीं है। यह सिद्धान्त इस बात पर यही जोर देता है कि मनुष्य की स्वतन्त्रता की रक्षा नितान्त आवश्यक है। राज्य को मनुष्य की स्वतन्त्रता में केवल विशेष दशाओं में ही हस्तक्षेप करना चाहिए।

समाजवादी सिद्धान्त (Socialist Theory of State Functions)

व्यक्तिवादी सिद्धान्त के पश्चात् राजनीतिक लेखकों ने एक दूसरे सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसमें, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को मिटाकर, सब अधिकार राजसत्ता को ही सौंप देने का प्रयत्न किया गया। यह सिद्धान्त व्यक्तिवाद सिद्धान्त से बिल्कुल उल्टा है। व्यक्तिवादी राज्य को दूषित संस्था मानते हैं, समाजवादी उसे अत्यन्त आवश्यक तथा उपयोगी संगठन।

व्यक्तिवादी राज्य को केवल पुलिस महेड का काम सौंपना चाहते हैं, समाजवादी उसे मनुष्य-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर नियन्त्रण रखने का।

व्यक्तिवादी राज्य को आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार प्रदान नहीं करते, परन्तु समाजवादी उसे पूर्णरूपेण आर्थिक क्षेत्र का स्वामी बना देते हैं।

व्यक्तिवादी पूँजीपति-प्रथा के समर्थक हैं, समाजवादी उसे जड़-मूल से नष्ट कर देना चाहते हैं।

सिद्धान्त की विविधता—समाजवाद का विषय अत्यन्त व्यापक और पेचीदा है। इसके विषय में इतना साहित्य लिखा गया है कि सबको इकट्ठा करने पर शायद कई लायब्रेरियों का क्षेत्र भर जाय। इसकी अनेक शाखाएँ हैं और भिन्न-भिन्न लेखकों ने इस सिद्धान्त पर अलग-अलग प्रकार से अपनी सम्मतियाँ प्रकट की हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि समाजवाद की ५७ किस्में हैं। सन् १८९२ में ले फिगारो (Le Figaro) नामक एक फ्रांसीसी अखबार में समाजवाद की ६०० परिभाषाएँ प्रकाशित हुई थीं। इस शब्द का प्रयोग इतने अर्थों में किया गया है कि सबका यहाँ जिक्र करना भी सम्भव नहीं। सर विलियम हरकोर्ट (Sir William Harcourt) लिखता है, "हम समाजवादी हैं क्योंकि हम सब समाज में रहते हैं।"

इस सिद्धान्त का सबसे अधिक प्रचार कॉलेज और स्कूल के विद्यार्थियों में हुआ है। प्रत्येक विद्यार्थी किसी-न-किसी समय समाजवाद का समर्थक रहता है और इस विषय की एकाध पुस्तक पढ़ लेने के पश्चात् अपने आपको इस वाद का पंडित समझने लगता है। समाजवादी होना एक प्रकार का फैशन हो गया है। वहीं चार मित्र चाय पीने के लिए इकट्ठे हुए कि उन्होंने आपस में समाजवाद पर बहस करनी शुरू कर दी।

समाजवाद को समाजवाद के विरोधियों से इतना खतरा नहीं जितना कि स्वयं इसके प्रवर्तकों से है। कारण इसके समर्थक, समाजवाद के भिन्न-भिन्न स्वरूपों के विषय पर आपस में इतना लड़ते-झगड़ते हैं कि बस देखते ही बनता है। समाजवादियों का एक दल दूसरे को फासिस्ट तथा प्रतिक्रियावादी बताता है।

इन सब कारणों से हमारे लिए यह सम्भव नहीं कि इस अध्याय में हम समाजवाद का

कोई विस्तृत वर्णन कर सकें। इसलिए यहाँ हम इसका केवल संक्षिप्त और अपूर्ण वर्णन ही देंगे।

समाजवाद के सबसे जबर्दस्त प्रवर्तक जर्मन राजनीतिक दार्शनिक कार्लमार्क्स थे। उन्होंने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन उस समय किया जब यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप श्रमजीवी वर्ग का उत्थान हो चुका था।

समाजवाद ऐसे नये समाज की कल्पना है जिसका आधार न्याय, स्वाधीनता, समानता और मित्रता के उसूलों पर अवलम्बित है। यह समान हित को व्यक्तिगत गुण के लक्ष्य बनाने का प्रयास है। यह मनुष्य के बन्धुत्व का क्रियात्मक भाव है। यह सेवा के आधार पर समाज की व्यवस्था है। यह वह सामाजिक प्रथा नहीं है जिसमें प्रचुरता के रहते हुए भी लोग भूखे मरें, कपड़े की बहुतायत रहते हुए भी ठंड में सिकुड़ें तथा हजारों मकानों के खाली पड़े रहने पर भी सर्दी में ठिठुर-ठिठुर कर मर जायें। इसमें धन-सम्पत्ति का विभाजन इस प्रकार नियंत्रित किया जाता है जिससे प्रत्येक नागरिक को भौतिक उन्नति के लिए साधन मिल सकें।

इसलिए समाजवाद की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि यह वह सिद्धान्त है जिसका उद्देश्य समाज की उत्पादन शक्ति पर नियन्त्रण रखकर, सारे समाज की भलाई के लिए धन का वितरण करना है।

सभी समाजवादी चाहे वे किसी भी मत के अनुयायी क्यों न हों, चार बातों पर अवश्य विश्वास करते हैं :—

(१) उत्पादन और वितरण (Production and Distribution) के साधनों से व्यक्तिगत प्रभुत्व को हटाकर राज्य का नियंत्रण कायम करना।

(२) उत्पादन की सीमा का निर्णय लाभ के विचार से नहीं, वरन् सामाजिक आवश्यकता के आधार पर करना।

(३) व्यक्तिगत लाभ की भावना के स्थान पर सामाजिक सेवा के सिद्धान्त को स्थापित करना।

(४) स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा (Open Competition) और मनमाने उत्पादन के स्थान में सहयोग और निश्चित उत्पादन को स्थापित करना। समाजवादी यह अनुभव करते हैं कि पूंजीवादी प्रथा के अन्तर्गत वर्तमान उत्पादकों की बहुत अधिक शक्ति आपस में ही प्राणघातक प्रतिस्पर्धा में पड़कर नष्ट हो जाती है। अगर इस आपसी युद्ध के बजाय उत्पादन और विभाजन का बुद्धिमत्तापूर्ण प्रबन्ध किया जाय, तो समाज का बहुत अधिक लाभ हो सकता है, बरबादी और निरर्थक प्रतिस्पर्धा रोकी जा सकती है तथा विभिन्न जातियों और लोगों के बीच की वर्तमान असमानताएँ बहुत कुछ कम की जा सकती हैं।

सभी समाजवादी विद्वानों का आदर्श तो समान है परन्तु उनमें मतभेद इस बात पर है कि उत्पादन की शक्तियों पर सामाजिक नियंत्रण (Social control over Production) किस तरीके से किया जाना चाहिए? कुछ समाजवादियों का, जिन्हें फेबियन

समाजवादी कहा जाता है, विश्वास है, कि समाजवाद की ओर प्रगति धीरे-धीरे और वैज्ञानिक ढंग से होनी चाहिए। यह परिवर्तन धारा सभाओं के द्वारा हो सकता है। दूसरे समाजवादी, जिसमें कम्युनिस्ट तथा सिंडिकेलिस्ट (Communists and Syndicalists) मुख्य हैं, क्रान्तिवादी कार्यक्रम में विश्वास करते हैं। वे वर्तमान सामाजिक संगठन को बलपूर्वक नष्ट कर समाजवादी राज्य की स्थापना करना चाहते हैं। कुछ समाजवादी जिन्हें गिल्ड समाजवादी कहा जाता है समाज के आर्थिक जीवन का संचालन उत्पादकों अर्थात् मजदूरों के हाथ में देना चाहते हैं।

यहां यह बात कह देना उचित होगा कि समाजवादियों का उद्देश्य व्यक्तिगत जायदाद को बिल्कुल मिटा देना या आमदनी का समान वितरण करना नहीं है। मनुष्यों के उपयोग के लिए निजी जायदाद का रूस में भी अधिकार है। वहां लोग निजी इस्तेमाल के लिए बंगले, मोटरगाड़ी और बगीचे रख सकते हैं। लेकिन उन्हें इनके द्वारा धन कमाने की आज्ञा नहीं है। यदि कोई ऐसा करे तो वह जब्त कर ली जाती है। इसी प्रकार समाजवादी रूस में लोगों को काम के मुताबिक मजदूरी मिलती है। वेतन में अन्तर होता है, परन्तु इस अन्तर को कम से कम रखने का प्रयत्न किया जाता है।

समाजवाद के गुण—(१) समाजवादी सिद्धान्त मनुष्य के लिए न्याय की मांग करता है। यह पूंजीवाद की निन्दा करता है जो उन करोड़ों मजदूरों और किसानों को गुलाम बनाने का दोषी है, जो एँड़ी से चोटी तक पसीना बहाकर सुबह से शाम तक काम करते हैं, और फिर भी भूखों मरते हैं। (२) यह वह क्रान्तिकारी सिद्धान्त है जो प्रतियोगिता के स्थान पर निश्चित योजना के आधार पर उत्पादन करने में विश्वास करता है जिससे सीमित साधनों से जनता का अधिक से अधिक हित-साधन किया जा सके। (३) यह सिद्धान्त सामाजिक सेवा के दृढ़ सिद्धान्त पर अवलम्बित है। यह परोपकारी जीवन और कर्मयोग पर विशेष जोर देता है। (४) यह वाद व्यक्ति की राजनैतिक स्वतन्त्रता के लिए आर्थिक साधनों की प्राप्ति पर बल देता है। इस सिद्धान्त के अनुसार भूखा मरता प्राणी अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं कर सकता।

समाजवाद के दोष—कुछ लेखक समाजवाद के सिद्धान्त की निम्नलिखित कारणों से आलोचना करते हैं—

(१) समाजवाद, सरकार को सर्वशक्तिमान बनाकर राज्य की समस्त शक्ति नौकरशाही के हाथ में दे देता है। इस प्रकार इस वाद के अन्तर्गत पूंजीपतियों के स्थान पर सरकारी नौकर जनता का दमन करने लगते हैं।

(२) व्यक्तिगत उद्यम (Initiative) और कार्यदक्षता (Efficiency) जो देश की उन्नति और आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है, समाजवाद में प्रोत्साहन नहीं पाते। इससे लोगों में काम करने की रुचि नहीं रहती। निजी जायदाद न रख सकने के कारण लोग अधिक काम करना पसन्द नहीं करते और वह आलसी और परोपजीवी बन जाते हैं।

(३) समाजवाद के अन्तर्गत व्यक्ति की स्वतन्त्रता कायम नहीं रहती। उसकी

प्रत्येक गतिविधि यहाँ तक कि विचारों पर भी सरकारी नियंत्रण रखा जाता है। इस प्रकार समाजवाद व्यक्तित्व का दमन करता है और उसे समाज का गुलाम बना देता है।

(४) यह सिद्धान्त हिंसा पर बहुत अधिक बल देता है।

निष्कर्ष—इन सब दोषों के रहते हुए भी समाजवाद संसार में स्थायी रूप धारण कर चुका है। आजकल संसार के सभी राज्य समाज के अधिकाधिक लाभ के लिए, लोगों के आर्थिक जीवन पर नियंत्रण करने की आवश्यकता को स्वीकार करते है।

रेलवे, डाक, तार, बेतार का तार, रेडियो, बिजली, गैस, पानी, बीमा और दूसरे आर्थिक संगठनों का प्रबन्ध आजकल प्रायः सभी राज्य अपने हाथ में रखते हैं। प्रगतिशील आय-कर (Progressive Income tax), मृत्यु-कर (Death duty), उत्तराधिकार-कर (Succession duty) इत्यादि प्रथाएँ विभिन्न वर्गों के अन्तर को बराबर कम कर रही हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे संसार समाजवाद के मौलिक सिद्धान्त की ओर अग्रसर हो रहा है।

उपयोगितावादी सिद्धान्त (Utilitarian Theory of State Functions)

उपयोगितावादियों का मत है कि सरकार को ऐसे कार्य करने चाहिए जिनसे अधिकांश मनुष्यों का अधिक से अधिक हित साधन (Greatest Good of the Greatest Number) हो सके। सरकार कौन-सा कार्य करे और कौन-सा नहीं इस बात का निर्णय उपयोगिता के आधार पर ही करना चाहिए।

उपयोगितावादी सिद्धान्त उन्नीसवीं सदी में इंगलैण्ड में बहुत लोकप्रिय सिद्ध हुआ। इसके मुख्य प्रवर्तक बेन्थम और जे० एस० मिल थे। इस सिद्धान्त के कारण राज्य द्वारा कल्याणकारी कानूनों तथा समाज सुधार के कार्यों में बहुत बल मिला।

आलोचना—परन्तु इस सिद्धान्त का कोई दार्शनिक आधार नहीं है। यह सिद्धान्त व्यक्तियों की जिस हित-साधना पर अत्यधिक बल देता है, उसके सम्बन्ध में यह नहीं बताता कि वास्तविक हित का निश्चय कौन करे। अधिकतर व्यक्ति शराब पीने या झूठ बोलने या व्यभिचार करने में बुराई नहीं मानते। तो क्या राज्य ऐसे अनैतिक कार्यों की आज्ञा दे सकता है? यह सिद्धान्त मनुष्य के स्वार्थ को ही सर्वोपरि स्थान देता है, जो उचित नहीं। स्वार्थ के अतिरिक्त मनुष्य नैतिक भावनाओं के अधीन बड़ी से बड़ी कुरबानी के लिए उद्यत रहता है। इस प्रकार के नैतिक आदर्शों के लिए उपयोगितावाद में कोई स्थान नहीं।

आदर्शवादी सिद्धान्त (Idealistic theory of State functions)

यह सिद्धान्त इस कारण से आरम्भ होता है कि मनुष्य के जीवन को अच्छा बनाने के लिए राज्य आवश्यक संस्था है। राज्य के अन्तर्गत रहकर ही मनुष्य सदाचारी और नैतिक जीवन व्यतीत कर सकता है। इस प्रकार 'आदर्शवादी' राज्य को एक 'आवश्यक परन्तु दोषपूर्ण संस्था' नहीं, वरन् मनुष्य का सर्वोत्तम मित्र समझते हैं।

परन्तु आदर्शवादियों का कहना है कि राज्य जो भी काम करता है, अपनी शक्ति के आधार पर करता है। यदि कोई व्यक्ति कानूनों को न माने, या कर न दे, तो सरकार

उससे दण्ड-प्रथा के द्वारा अपनी आज्ञाओं का पालन कराती है। अतः सरकार को केवल वे ही काम अपने हाथ में लेने चाहिए जो आवश्यकता पड़ने पर जबरदस्ती भी कराये जा सकें। कुछ ऐसे कार्य हैं जो बलपूर्वक नहीं कराये जा सकते। उदाहरणार्थ यदि राज्य दण्ड-विधान द्वारा अपने नागरिकों को नैतिक जीवन व्यतीत करने पर मजबूर करे, तो ऐसा सम्भव नहीं है। कारण, नैतिक जीवन मनुष्य की इच्छा पर अवलम्बित रहता है। यह मनुष्य पर जबरन नहीं लादा जा सकता। जबरन किया हुआ काम कभी नैतिक नहीं हो सकता, क्योंकि वह काम करनेवाले का काम नहीं, बल्कि उसका काम हो जाता है, जो उसे ऐसा करने के लिए मजबूर करता है। नैतिकता मनुष्य स्वभाव का आन्तरिक गुण है, उसका सम्बन्ध मनुष्य के भावनापूर्ण आचरण से है। कोई राज्य मनुष्य को नैतिक बनने के लिए मजबूर नहीं करता। इसी आधार पर वह उसे सच बोलने के लिए भी विवश नहीं कर सकता। राज्य का सम्बन्ध केवल मनुष्य के बाहरी कामों से रहता है, मनुष्य की आन्तरिक भावनाओं से नहीं; परन्तु राज्य दूसरा काम अवश्य कर सकता है और वह यह कि वह मनुष्य के रास्ते में से उन बाधाओं को हटा सकता है जो उसके नैतिक बनने में रुकावटें सिद्ध होती हैं। दूसरे शब्दों में वह मनुष्य के नैतिक जीवन की बाधाओं में बाधा उत्पन्न कर सकता है। उदाहरणार्थ, मनुष्य के नैतिक जीवन व्यतीत करने के रास्ते में गरीबी, अशिक्षा, शराबखोरी इत्यादि बुराइयाँ बाधक सिद्ध होती हैं। राज्य इन बुराइयों को दूर करके, मनुष्य के नैतिक जीवन का रास्ता साफ कर सकता है। एक अशिक्षित मनुष्य अपने अधिकार और कर्तव्यों को नहीं समझता और न वह उन्हें प्राप्त करने के ठीक उपाय ही जानता है। इसी प्रकार एक अशिक्षित बच्चा कभी भी अपनी पूर्ण उन्नति नहीं कर सकता। राज्य अनिवार्य शिक्षा-प्रणाली का प्रबन्ध करके इस खराबी को दूर कर सकता है। इसी तरह गरीबी के कारण मनुष्य अपने अधिकारों का उपभोग नहीं कर सकता। उसके दिमाग में पेट की चिन्ता सदा चक्कर लगाया करती है। ऐसा मनुष्य सांस्कृतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विचार तक नहीं कर सकता। उसका और उसके बच्चों का शरीर और मस्तिष्क उन्नत नहीं हो पाता। वह अज्ञान के घने अन्धकार में छिपा रहता है और उसकी शक्तियाँ सदा कुम्भकर्णी निद्रा में सोया करती हैं। राज्य का कर्तव्य है कि वह ऐसे मनुष्य की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करे। इसी प्रकार राज्य शराबखोरी, बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा, जबरन विधवापन इत्यादि सामाजिक कुप्रथाओं को नष्ट कर सकता है। ये सब खराबियाँ समाज के आचरण पर कलंक-स्वरूप हैं और अच्छे सामाजिक जीवन की उन्नति में बाधक हैं। इसलिए राज्य को इन्हें हटाने का प्रयत्न करना चाहिए। 'आदर्शवादी' बाधाओं को हटाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करना चाहते। वे राज्य को समाज के आर्थिक नियंत्रण का अधिकार देने को तैयार नहीं हैं। वह इस क्षेत्र में जनता को पूर्ण आजादी देना चाहते हैं। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि आदर्शवादी राज्य को व्यवसाय-सम्बन्धी मामलों में भी किसी प्रकार के हस्तक्षेप की आज्ञा नहीं देते। वह मजदूरों की भलाई के लिए कानून बनाने का अधिकार राज्य को देते हैं। उनका कहना है कि राज्य, पूंजीपतियों द्वारा मजदूरों का शोषण करने के लिए, फैक्टरी-कानून और श्रम-

जीवियों को मुआवजा कानून इत्यादि बना सकता है। राज्य व्यवसाय का प्रत्यक्ष रूप से इन्तजाम नहीं कर सकता, क्योंकि यह उसके उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जरूरी नहीं है। यह केवल व्यवसाय की उन्नति के रास्तों में आनेवाली बाधाओं को हटा सकता है।

इस प्रकार आदर्शवादी सिद्धान्त व्यक्तिगत स्वाधीनता और सामूहिक कार्य दोनों को ठीक समझता है। सामूहिक कार्य इसलिए उचित समझा जाता है कि इससे मनुष्य का अधिकाधिक लाभ हो सकता है।

आलोचना (Criticism)—आदर्शवादी सिद्धान्त के आलोचकों का कहना है कि राज्य को केवल अच्छे सामाजिक जीवन की बाधाओं को ही दूर करने के लिए काम नहीं करना चाहिए। उसे यह सब काम भी करने चाहिए जिनसे नागरिकों का भला हो सके और नागरिकों की अधिकाधिक भलाई की कोई सीमा नहीं है। इसलिए राज्य के कर्तव्यों की कोई पूर्व सीमा निश्चित नहीं की जा सकती। राज्य ऐसा कोई भी काम कर सकता है जिससे सर्वसाधारण की भलाई की आशा हो। हर परिस्थिति में इस बात का ख्याल रखना चाहिए कि इसके लिए राज्य का प्रबन्ध उचित होगा अथवा नहीं। यदि राज्य का प्रबन्ध उचित जान पड़े तो राज्य को उसे अवश्य करना चाहिए।

गांधीवादी या सर्वोदय सिद्धान्त (Sarvodaya Theory of State Functions)

राज्य के उचित कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में भारत में एक नई विचार-धारा उत्पन्न हुई है जिसके प्रवर्तक महात्मा गांधी थे तथा जिसके भाष्यकारों में आचार्य विनोबा, आचार्य कृपलानी, श्री शंकरराव देव व श्री जयप्रकाश बाबू इत्यादि हैं। इस सिद्धान्त को शायद 'वाद' का नाम देना तो उचित नहीं होगा, कारण, गांधी जी का कहना था कि वह अपने पीछे कोई 'गांधीवाद' जैसा सम्प्रदाय नहीं छोड़ जाना चाहते, वह 'वाद' शब्द में निहित विवादों और प्रतिवादों के जंजाल के विरुद्ध थे। गांधी जी के विचारों को हम आचार्य कृपलानी के शब्दों में 'सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याओं के सम्बन्ध में उनका विशिष्ट दृष्टिकोण' कह सकते हैं।

गांधी जी के विचारों में रूढ़िवादिता नहीं थी। उन्होंने कुछ शाश्वत सत्यों का सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक समस्याओं के सुलझाने में प्रयोग किया। उनका सारा दर्शन 'सत्य' और 'अहिंसा' के दो महान् स्तम्भों पर टिका हुआ है। उनका कहना था कि इन दो सिद्धान्तों को अपने दैनिक जीवन में व्यवहारित करके हम अपनी व्यक्तिगत, सामाजिक, आर्थिक तथा राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक समस्याओं को सुलझा सकते हैं। सत्य और अहिंसा के सिद्धान्त बोलने में जितने आसान हैं, व्यवहार में उतने ही कठिन। इसलिए बहुत-से लोग गांधी जी को स्वप्नदर्शी कहते थे। परन्तु गांधी जी ने इन आदर्शों का स्वयं अपने ऊपर प्रयोग करके तथा इनके द्वारा भारत की आर्थिक व राजनीतिक समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करके यह दिखला दिया कि अन्तिम दशा में यह सिद्धान्त इतने अव्यावहारिक नहीं हैं जितना उन्हें समझा जाता है।

सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्था के विषय में गांधी जी का मत था कि

शक्ति का विकेन्द्रीकरण होना चाहिए। सच्चा प्रजाराज्य वही है जिसमें जनता अपनी स्थानीय पंचायतों में संगठित होकर अपना राज्य स्वयं करे। प्रत्येक गाँव को आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में स्वावलम्बी बनना चाहिए। बड़ी-बड़ी मशीनों के प्रयोग तथा बड़े-बड़े कारखानों की स्थापना से बेकारी फैलती है, पूंजीवाद और वर्गयुद्ध की बुराइयां उत्पन्न होती हैं; बड़े-बड़े शहर बसते हैं जिनमें आध्यात्मिक अधःपतन, बदचलनी और आर्थिक विषमता का साम्राज्य रहता है इसलिए वह खादी-कताई, गृह-उद्योग तथा ग्रामीण जीवन के पुनरुत्थान पर बहुत बल देते थे।

सर्वोदय समाज की कल्पना—गांधी जी का कहना था कि किसी देश की शासन व्यवस्था इस प्रकार की होनी चाहिए कि उसमें सब नागरिकों का सर्वांगीण विकास हो सके। सर्वोदय का अर्थ है 'व्यक्ति का पूर्ण विकास'। समाज में इस प्रकार की आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्था होनी चाहिए कि इस आदर्श की पूर्ति संभव हो सके।

सर्वोदय विचारधारा के अनुसार व्यक्ति के गुणों का पूर्ण विकास केवल उस दशा में संभव है जब राजनीतिक क्षेत्र में शक्ति का केन्द्रीयकरण न हो, सारा समाज स्वशासित पंचायतों में विभक्त हो, केन्द्रीय सरकार केवल वही कार्य करे जो सार्वजनिक सुरक्षा और विकास की दृष्टि से आवश्यक हों, शेष सब विषय—जैसे, शिक्षा, स्वास्थ्य-रक्षा, सफाई, निर्माण, कृषि, सिंचाई, उद्योग, आर्थिक योजनाएँ इत्यादि पंचायतों में रहें; गांव के सब लोग मिलकर अपनी आवश्यकता व इच्छानुसार इन बातों का प्रबन्ध करें; आर्थिक क्षेत्र में भी बड़े-बड़े नगरों में कारखानों का जमाव न हो, प्रत्येक गांव में अनाज, कपड़ा, फल, सब्जी तथा दैनिक व्यवहार की छोटी-छोटी चीजें गृह उद्योगों में बनें।

पुलिस और फौज के सम्बन्ध में सर्वोदय विचारकों का मत है कि केवल असाधारण अवस्थाओं में ही इन शक्तियों का प्रयोग करना चाहिए। साधारण अवस्था में प्रत्येक समस्या अहिंसा तथा प्रेम के प्रयोग द्वारा सुलझाई जा सकती है। अपराध को एक बीमारी मान कर उसका उचित इलाज करना चाहिए। समाज के प्रत्येक वर्ग को अपने कर्तव्यों की पूर्ति पर पूर्ण बल देना चाहिए। पूंजीपतियों, जमीदारों, सेठ और साहूकारों को अपने आपको किसान मजदूरों तथा जनसाधारण के हितों का रक्षक समझना चाहिए; उन्हें उनके शोषण की नीति का त्याग कर देना चाहिए। तभी समाज में राजा और रंक सभी का भला हो सकता है।

राज्य के कुछ और उचित कर्तव्यों के सम्बन्ध में सर्वोदय विचारकों का मत है कि राज्य को समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए (१) पौष्टिक भोजन, (२) स्वच्छ निवास, (३) शुद्ध जल, (४) समुचित वस्त्र, (५) शिक्षा, और (६) चिकित्सा का प्रबन्ध करना चाहिए।

सर्वोदय विचारधारा व्यक्तिवादी या अराजक विचारधारा से बिलकुल भिन्न है। यह समाजवादी विचारधारा से अधिक मिलती है, परन्तु दोनों मतों के अन्तिम उद्देश्य में समानता होने पर भी उनमें कुछ मौलिक अन्तर है। उदाहरणार्थ, समाजवाद राजनीतिक और आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण पर बल देता है, सर्वोदय विचारधारा इसके

विपरीत, पूर्ण विकेन्द्रीकरण की नीति में विश्वास रखती है। समाजवाद में वर्ग संघर्ष की नीति को प्रोत्साहन दिया जाता है तथा हिंसा के अस्त्रों का प्रयोग भी निषेध नहीं ठहराया गया है। सर्वोदय विचारधारा में एक स्वावलम्बी और अहिंसक समाज की रचना का आदर्श सम्मुख रक्खा जाता है। यह एक शान्तिपूर्ण क्रान्ति की योजना है।

आलोचना—गाँधी जी के सर्वोदय सिद्धान्त की बहुत लोग आलोचना करते हैं। उनका कहना है कि आदर्श की दृष्टि से चाहे इस सिद्धान्त में बहुत कुछ सचाई छिपी हो, परन्तु व्यावहारिक रूप में यह सिद्धान्त एकदम अमान्य है। संक्षेप में हम आलोचनाओं का सार इस प्रकार दे सकते हैं।

(१) पूर्ण अहिंसा और सत्य के आधार पर शासनिक व्यवस्था नहीं चलाई जा सकती। इन सिद्धान्तों को पूर्णरूप से न सामाजिक क्षेत्र में प्रस्तुत किया जा सकता है और न राजनीतिक क्षेत्र में ही।

(२) गाँधी जी का हृदय-परिवर्तन का सिद्धान्त एकाध व्यक्ति के साथ भले ही पूरा उतर जाय, परन्तु अधिकतर व्यक्ति भय और दंड की ही भाषा समझते है, प्रेम, एहसान और क्षमा का मूल्य नहीं।

(३) आर्थिक व्यवस्था के विषय में गाँधीवादी विचार आधुनिक विचारधारा से मेल नहीं खाते। कोई भी राष्ट्र बडे-बडे मूल उद्योगों एवं कारखानों की स्थापना के बिना उन्नति नहीं कर सकता। ग्रामीण उद्योगों पर भी एक सीमा तक ही बल दिया जा सकता है, उससे आगे नहीं। विज्ञान की प्रगति के युग में हम उत्पादन की नई रीतियों की ओर से मुँह नहीं मोड सकते।

(४) केन्द्रीय सरकार के कार्यक्षेत्र को सीमित कर पंचायतों के हाथ में सारी शक्ति सौंप देने की बात अव्यावहारिक है। हमारे गाँव की जनता इतनी अशिक्षित है कि वह छोटी-छोटी समस्याओं पर ही बिना पक्षपात के विचार नहीं कर सकती, फिर राष्ट्र की महान् आर्थिक व राजनीतिक समस्याओं को उनके हाथ में कैसे सौंपा जा सकता है।

हितकारी राष्ट्र या कल्याण राज्य का सिद्धान्त (The Ideal or Welfare State)

आजकल अधिकतर राज्यों में जिस सिद्धान्त को राज्य के कर्तव्यों की उचित सीमा की दृष्टि से मान्य ठहराया जाता है, वह हितकारी राष्ट्र या कल्याण राज्य का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य जनता की भलाई के लिए एक आवश्यक यंत्र है। उसे जनता की हितसाधना के लिए वह सभी कार्य करने चाहिए जिनसे नागरिक जीवन सर्वांगपूर्ण सुखी और समृद्ध बन सके। राज्य को व्यक्ति की स्वतंत्रता के साथ इतना *अधिक खिलवाड़ भी नहीं करना* चाहिए कि उसमें किसी प्रकार का साहस तथा नए-नए काम करने की तत्परता न रह जाय, साथ ही उसे ऐसे सभी कार्य करने के लिए उद्यत रहना चाहिए जिनके द्वारा व्यक्ति का जीवन अधिक सुखी, स्वस्थ और सुसंस्कृत बन सके।

कल्याण राज्य का आदर्श व्यक्तिवादी, समाजवादी, उपयोगितावादी, आदर्शवादी

और गांधीवादी सभी विचारधाराओं के निचोड़ का फल है। यह इन सिद्धान्तों की सभी अच्छी बातों को ग्रहण कर राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में एक सर्वमान्य सिद्धान्त की घोषणा करता है। जिन कार्यों के करने से व्यक्ति और समाज की भलाई हो सकती है, वह सभी कार्य इस सिद्धान्त के अन्तर्गत राज्य के लिए उचित ठहराये गये हैं। संक्षेप में इन कार्यों का विवरण हम इस प्रकार दे सकते हैं :—

(१) देश की राजनीतिक स्वतंत्रता की रक्षा;

(२) सामाजिक जीवन का सर्वांगीण विकास तथा उसके अन्दर से हर प्रकार की सामाजिक बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न;

(३) जनता के आर्थिक हितों की रक्षा तथा देश के प्राकृतिक साधनों का द्रुत गति से विकास; प्रथम उद्देश्य की पूर्ति के लिए सामाजिक सुरक्षा (Social Insurance) की व्यवस्था, तथा द्वितीय उद्देश्य की पूर्ति के लिए योजनाओं पर बल।

(४) सांस्कृतिक जीवन का उत्थान।

विदित है कि कल्याण राज्य में जनता के आर्थिक व सांस्कृतिक विकास पर बहुत बल दिया जाता है। यह बात दूसरी है कि इस प्रकार के राज्य में पूर्ण रूपेण समाजवादी व्यवस्था न हो, और निजी उद्योगों में भी उन्नति करने का अवसर प्रदान किया जाय। परन्तु देश की आर्थिक नीति का इस प्रकार से संचालन किया जाता है कि उसमें पूंजीपति, गरीब किसान और मजदूरों का शोषण न कर सकें और देश की दौलत जनता की अधिकतम भलाई के कार्यों में व्यय हो। सांस्कृतिक विकास के लिए सरकार की ओर से हर प्रकार की कलात्मक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया जाता है। सरकार संगीत, चित्रकला, नाट्य-कला, साहित्य, मूर्तिकला तथा दूसरी ललित कलाओं को पूरा संरक्षण प्रदान करती है तथा उनके विकास के द्वारा मानव जीवन को अधिक सुसंस्कृत एवं उल्लासपूर्ण बनाने का प्रयत्न करती है।

आदर्शवादी सिद्धान्त से कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त इसलिए भिन्न है कि यह केवल व्यक्तित्व के विकास की बाधाओं को ही दूर नहीं करता वरन् उसके लिए आवश्यक वातावरण तथा सुविधाओं का भी निर्माण करता है। उदाहरणार्थ इस सिद्धान्त के अन्तर्गत व्यक्ति को उच्च से उच्च शिक्षा प्राप्त करने एवं रोजगार पाने की सुविधाएँ दी जाती हैं। नागरिकों की सामाजिक सुरक्षा का पूरा विचार रखा जाता है। निःशुल्क शिक्षा, मुफ्त चिकित्सा, बेकारी बीमा, दुर्घटना का बीमा, बुढ़ापे के समय पेंशन इत्यादि का पूरा प्रबन्ध किया जाता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक सरकार नागरिक की हर संकट के समय सहायता करती है।

संसार के अधिकतर राज्य आजकल इसी सिद्धान्त के अनुसार अपने कार्यों का निश्चय करते हैं। साम्यवादी राष्ट्रों को छोड़कर, दूसरे सभी देशों की सरकार जाने या अनजाने इसी सिद्धान्त के मार्ग पर चल रही हैं। राजतंत्र शासन भी अपने देश में कल्याणकारी राज्य के प्रति अपनी श्रद्धा प्रदर्शित करते हैं। अभी हाल में, नेपाल के नये सम्राट् महाराज महेन्द्र ने अपने राजतिलक के अवसर पर घोषणा की कि वह अपने देश में एक लोक

हितकारी-राज्य की स्थापना करेंगे। हमारे अपने देश में भी इसी प्रकार का शासन स्थापित करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

क्या भारत कल्याण राज्य है?

प्रश्न उठता है कि हम क्यों कर कह सकते है कि हमारे देश में कल्याण राज्य की स्थापना की जा रही है? यह सच है कि हमारे संविधान निर्माताओं ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "भारत कल्याण राज्य होगा।" परन्तु व्यावहारिक कार्यों की दृष्टि से हम इस कथन की सत्यता किस प्रकार सिद्ध कर सकते हैं?

हम पहले देख चुके हैं कि कल्याण राज्य का सबसे पहला कार्य राजनीतिक स्वतन्त्रता की रक्षा करना होता है। पिछले वर्षों में भारत सरकार ने देश के एकीकरण तथा उसकी सैन्य शक्ति को सुदृढ करने के लिए जो कदम उठाये हैं, वह सर्वविदित है। हमारा देश किसी दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण करना नहीं चाहता; इसलिए हमारी सैन्य शक्ति का संगठन इस दृष्टि से किया गया है कि हम बाहरी आक्रमणों का मुकाबला कर सकें तथा देश के अन्दर आन्तरिक शान्ति बनाये रखें।

कल्याण राज्य का दूसरा मुख्य गुण सामाजिक उत्थान के लिए काम करने की भावना होती है। इस दशा में भारत ने पिछले कुछ वर्षों में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, उदाहरणार्थ साम्प्रदायिकता की भावना का अन्त करने के लिए पृथक निर्वाचन प्रणाली का अन्त कर दिया गया है, छूत-छात की प्रथा को जड मूल से नष्ट करने के लिए उसे अवैधानिक घोषित कर दिया गया है, स्त्रियों की दशा को सुधारने के लिए हिन्दू लॉ मे क्रान्तिकारी परिवर्तन किये गये है, उन्हे पुरुषों के समान ही बराबर के सामाजिक आर्थिक व राजनीतिक अधिकार प्रदान किये गये है, इत्यादि। इन सबके अतिरिक्त सरकार द्वारा विस्तृत पैमाने पर समाज-कल्याण की योजनाएँ बनाई गई है। एक केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड की स्थापना की गई है तथा उसके द्वारा सारे देश में समाजसुधार तथा समाज कल्याण का कार्य आरम्भ किया गया है। सरकार की ओर से ऐसी अनेक संस्थाओं को आर्थिक सहायता दी जाती है जो स्त्रियों, बच्चों, अपाहिजों तथा समाज के तिरस्कृत वर्गों की सेवा करती हैं। भारत सेवक समाज, भारत युवक समाज तथा भारत साधु समाज की स्थापना द्वारा समाज में एक नई जागृति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

आर्थिक उन्नति की दिशा में भी पिछले पाँच वर्षों में भारत ने महत्त्वपूर्ण कदम उठाया है। प्रथम पचवर्षीय योजना का कार्यकाल समाप्त होकर अब हम द्वितीय योजना पर कार्य कर रहे है। प्रथम योजना के अन्तर्गत भारत ने आशातीत प्रगति की है। हमारी खेती की पैदावार लगभग १८ प्रतिशत बढ़ गई, कारखानों की उत्पत्ति में लगभग ६० प्रतिशत वृद्धि हुई तथा सिंचाई के साधनों में २० प्रतिशत बढोत्तरी हुई। सामुदायिक विकास योजनाओं द्वारा भी ग्रामीण जीवन का पुनरुत्थान किया जा रहा है तथा दूसरे क्षेत्रों में भी उन्नति के लिए अनेक योजनाओं पर कार्य हो रहा है।

सांस्कृतिक क्षेत्र में भी भारत तेजी से आगे बढ रहा है। अनेक विदेशी सांस्कृतिक

मंडल भारत आ रहे हैं तथा भारत के अपने सांस्कृतिक प्रतिनिधि दूसरे देशों में जा रहे हैं। ललित-कलाओं, संगीत, नाटक तथा साहित्य की उन्नति के लिए अकादमियों की स्थापना की जा चुकी है। रेडियो के कार्यक्रमों द्वारा भी सांस्कृतिक विकास का प्रयत्न किया जा रहा है।

इन सभी कारणों से हम कह सकते हैं कि भारत कल्याण राज्य के आदर्श की ओर तेजी से बढ़ रहा है।

§ ४. राज्य के वास्तविक कर्तव्य

(Actual Functions of the State)

कर्तव्यों का वर्गीकरण (Classification of Functions)

आधुनिक राज्यों द्वारा किये गये कार्यों का वर्गीकरण दो शीर्षकों के अन्तर्गत किया जाता है—(१) आवश्यक या अनिवार्य और (२) ऐच्छिक।

आवश्यक कर्तव्य (Essential Functions)

आवश्यक कर्तव्यों में राज्य के वे कार्य शामिल हैं जो उसके अस्तित्व के लिए जरूरी हैं। प्रत्येक राज्य के लिए चाहे वह कितना भी पिछड़ा हुआ क्यों न हो, इन कामों का करना आवश्यक समझा जाता है। यह कार्य निम्नलिखित हैं :—

(१) **देश की बाहरी आक्रमणों से रक्षा**—यह उद्देश्य एक सुव्यवस्थित सेना तथा जहाजी और हवाई ताकत की व्यवस्था द्वारा हासिल किया जा सकता है।

(२) **देश में आन्तरिक शांति कायम रखना**—इस उद्देश्य में नागरिकों के धन और जान की रक्षा, आन्तरिक उपद्रवों इत्यादि से बचाव, व्यक्तिगत स्वाधीनता की रक्षा इत्यादि कार्य शामिल हैं। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए शासन को पुलिस दल की व्यवस्था करनी पड़ती है।

(३) **न्याय प्रबन्ध**—एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति तथा व्यक्ति और राज्य के बीच मुकदमों का फैसला करने के लिए प्रत्येक देश में न्यायालयों की स्थापना की जाती है। न्यायालय तीन प्रकार के होते हैं—दीवानी, फौजदारी और माली। यह तीनों अदालतें मिलकर जनता में न्याय का प्रबन्ध करती हैं।

कुछ लेखक राज्य के लिए एक चौथा आवश्यक कार्य भी निर्धारित करते हैं। इनमें पति और पत्नी, माता-पिता और सन्तान के बीच कानूनी सम्बन्ध निश्चित किया जाता है। कभी-कभी इस शीर्षक के अन्तर्गत ठेकों की व्यवस्था, जायदाद की लेन-देन और कर्ज लेने-देने के कानून भी शामिल किये जाते हैं।

गैटिल (Gettel) इस सूची में एक और काम भी जोड़ता है और वह है राज्य के आर्थिक काम अर्थात् कर निर्धारित करना, आयात-निर्यात कर लगाना, मुद्रा और करेन्सी सम्बन्धी कानून बनाना, भूमि, जंगल और सार्वजनिक जायदाद का प्रबन्ध करना, डाक, तार और रेलवे का प्रबन्ध करना इत्यादि।

राज्य के ऐच्छिक कर्तव्य (Optional Functions of the State)

शान्ति और सुरक्षा के अतिरिक्त राज को जनता की भलाई, उसके सांस्कृतिक विकास तथा उसके जीवन को अधिक सुखी और समृद्धिशाली बनाने के लिये और भी अनेक कार्य करने चाहिए। ऐसे कार्य निम्नलिखित हैं —

(१) शिक्षा—देश के बालकों की शिक्षा, विशेषकर प्रारम्भिक शिक्षा का प्रबन्ध, आजकल राज्य का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य समझा जाता है। शिक्षा अच्छे सामाजिक जीवन की प्रथम अवस्था है। इसके बिना मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता। प्रत्येक प्रजातन्त्र राज्य में इसी कारण जनता को शिक्षित बनाने के कार्य पर अत्यधिक जोर दिया जाता है। पाश्चात्य देशों में तो बच्चों को ही नहीं, युवा और वृद्ध लोगों को भी सिनेमाओं, व्याख्यानों, चित्रों तथा रेडियो इत्यादि के द्वारा शिक्षित बनाने का प्रबन्ध किया जाता है। शिक्षा न केवल मनुष्यों की भलाई के लिए ही आवश्यक है वरन् राष्ट्र की रक्षा और उन्नति के लिए भी जरूरी है।

(२) सफाई और स्वास्थ्य-रक्षा—जनता की स्वास्थ्य-रक्षा के उद्देश्य से राज्य तरह-तरह के कानून बनाता है जिनके द्वारा बीमारियों को रोकने, बाजार में खराब चीजों के न बिकने तथा सार्वजनिक स्थानों की ठीक सफाई का प्रबन्ध किया जाता है। इसके अतिरिक्त सफाई, रोशनी, स्वच्छ जल, अस्पताल, नर्सिंग होम इत्यादि का प्रबन्ध भी राज्य द्वारा किया जाता है जिससे नागरिक स्वास्थ्यप्रद वातावरण में रह सकें तथा बीमारियों से अपनी रक्षा कर सकें।

(३) यातायात के साधनों की सुविधा—आधुनिक काल में यातायात के साधन देश के आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन के प्राण है। कोई भी राज्य सड़कें, रेलें, तार, हवाई जहाज, रेडियो, टेलीफोन, डाकखाना इत्यादि की सुविधा के बिना जीवित नहीं रह सकता। जनता की सुविधा तथा देश के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक है कि सरकार द्वारा इस प्रकार की सुविधाएँ अधिक से अधिक मात्रा में प्रदान की जायें।

(४) व्यापार व उद्योग-धन्धों की सहायता—आजकल राज्यों का एक बहुत आवश्यक कार्य देश के व्यापार व उद्योगों की उन्नति करना होता है। यह काम अनेक साधनों द्वारा किया जाता है, जैसे आयात के विरुद्ध कर लगाना, कारखानों को धन की सहायता देना, औद्योगिक अन्वेषण केन्द्रों को खोलना, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक समझौते करना, दूसरे देशों में ट्रेड कमीशनों की नियुक्ति करना, मेलों और नुमाइशों का आयोजन करना, वैज्ञानिक शिक्षा प्रदान करना इत्यादि। आजकल अधिकांश राज्य अपने देश के व्यापार और व्यवसाय की उन्नति के लिए इन सभी कामों को करते हैं।

(५) मजदूरों की भलाई—मजदूरों की बड़े पूँजीपतियों और जमींदारों के अत्याचार से रक्षा करने के लिए, राज्य, फैक्टरी कानून, मजदूरी कानून इत्यादि बनाते हैं। इन कानूनों के द्वारा मजदूरों की हालत बहुत कुछ सुधर गई है। ट्रेड यूनियन ऐक्ट, आरबिट्रेशन ऐक्ट इत्यादि भी इसी उद्देश्य से बनाये जाते है।

(६) **निर्धन और अपाहिजों की रक्षा**—राज्य निर्धन और अपाहिजों की सेवा के लिए निर्धन गृह (Poor houses), अन्धों के गृह (Blind homes) पागलखाने (Lunatic asylums), अस्पताल और औषधालय इत्यादि का भी प्रबन्ध करता है। किसी-किसी देश में बेकार लोगों को सहायता (Unemployment doles) देने तथा वृद्धावस्था में लोगों को पेंशन इत्यादि देने का भी प्रबन्ध किया जाता है।

(७) **बैंकिंग, करेंसी और मुद्रा का प्रबन्ध**—संसार के प्रायः सभी सभ्य देशों में राज्य द्वारा करेन्सी का प्रबन्ध किया जाता है। राज्य ही किसी देश को दूसरे देश के साथ करेन्सी की विनिमय दर का निश्चय करता है। रिजर्व बैंक की स्थापना के द्वारा सरकार देश की आर्थिक संस्थाओं पर भी नियंत्रण रखती है।

(८) **कृषि की उन्नति और ग्राम-संगठन**—आधुनिक काल में सरकार खेती-बाड़ी की उन्नति तथा ग्रामीण संगठन के कार्य पर भी जोर देती है। कृषि की उन्नति के लिए बिजली के कुआं, कृषि-अनुसंधान तथा इसी प्रकार की दूसरी सुविधाएँ दी जाती हैं। ग्रामीण संगठन के लिए ग्राम पंचायतों का आयोजन किया जाता है।

(९) **मनोरंजन की सुविधाएँ**—वर्तमान सरकारी पार्क, खेलने के स्थान, सार्वजनिक स्नान-गृह, सिनेमा, रेडियो, नृत्यगृह इत्यादि साधनों के द्वारा जनता के मनोरंजन का प्रबन्ध करती हैं।

(१०) **सामाजिक सुधार**—सामाजिक उन्नति और सुधार के लिए प्रयत्न करना राज्य का आवश्यक कर्तव्य है। संसार के प्रायः प्रत्येक देश में बहुत-सी सामाजिक बुराइयाँ घर कर लेती हैं। हमारे देश में इस प्रकार की बुराइयों में पर्दा-प्रथा, अछूतपन, जाति-पाँति का भेद, ऊँच-नीच की भावना, बहु-विवाह इत्यादि उदाहरण के रूप में हैं। प्रत्येक प्रगतिशील सरकार का धर्म है कि वह ऐसी सामाजिक बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न करे।

सरकार के ऐच्छिक कर्तव्यों की कोई विस्तृत सूची नहीं बनाई जा सकती। राज्य का धर्म, नागरिकों के लिए उन सब सुविधाओं तथा अवस्थाओं को प्रदान करना है जिनके द्वारा उनकी भलाई और उन्नति की जा सकती है।

वर्तमान काल में इसी कारण से राज्य के ऐच्छिक कर्तव्यों की सूची बढ़ती चली जा रही है। यहाँ यह समझ लेना भी आवश्यक है कि राज्य के ऐच्छिक और आवश्यक कार्यों में भेद केवल मात्रा का है, प्रकार का नहीं। जो कार्य किसी राज्य द्वारा कल तक ऐच्छिक समझे जाते थे वे आज आवश्यक प्रतीत होते हैं। इस प्रकार राज्य के आवश्यक कार्यों का क्षेत्र भी निरन्तर बढ़ता ही जाता है।

योग्यता-प्रश्न

१. राज्य क्या है, उद्देश्य अथवा साधन ? इस कथन पर पूर्ण प्रकाश डालिए।

२. राज्य का स्वभाव क्या है ? मनुष्य और राज्य के बीच में सच्चा सम्बन्ध किस प्रकार का होना चाहिए ?

३. राज्य के कार्यों के विभिन्न सिद्धान्त क्या हैं ? आधुनिक सिद्धान्त क्या हैं ?

४. आपके विचार में वे प्रधान कर्तव्य कौन से हैं, जिन्हें प्रत्येक शासन को करना चाहिये ? (यू० पी०, १९२८, १९४०, १९४२, १९४३)

५. राज्य द्वारा सामाजिक बुराइयों जैसे शराबखोरी और बाल-विवाह को कानून द्वारा हटाने में कहाँ तक न्यायसंगत माना जा सकता है ? (यू० पी०, १९३०)

६. क्या आप शिक्षा को निःशुल्क और अनिवार्य बनाना और स्वास्थ्य, सफाई का कानून द्वारा प्रबन्ध करना राज्य का आवश्यक कर्तव्य समझते हैं ? यदि आप ऐसा समझते हैं तो उसके कारण बतलाइये। (यू० पी०, १९३३)

७. राज्य का उद्देश्य क्या है ? राज्य किन साधनों द्वारा अपने उद्देश्य की पूर्ति करता है ? (यू० पी०, १९३६)

८. राज्य लोगों के व्यापार, व्यवसाय और भौतिक उन्नति की कहाँ तक वृद्धि कर सकता है ? (यू० पी०, १९३४)

९. आधुनिक राज्य के प्रधान कर्तव्य क्या हैं ? किस प्रकार का शासन इन्हें अधिक योग्यता के साथ कर सकता है ? (यू० पी०, १९३७)

१०. उन सिद्धान्तों को समझाइए जिनके अनुसार आप राज्य के कर्तव्य को निश्चित करेंगे। क्या राज्य शराबखोरी बन्द करना, सस्ता भोजन, सफाई और शिक्षा को अमल में ला सकता है ? (यू० पी०, १९३८, १९५१; पंजाब, १९५१)

११. राज्य कृत्रिम और स्वाभाविक दोनों है। इसे पूर्ण विवेचना करते हुए समझाइए। (यू० पी०, १९३८)

१२. व्यक्तिवादी और समाजवादी मतावलम्बियों के राज्य के कर्तव्य सम्बन्धी विचारों का वर्णन कीजिए। (यू० पी०, १९३९)

१३. आधुनिक राज्य जिन विभिन्न कार्यों को करते हैं उनका वर्णन कीजिए। इनमें से कौन-सा कार्य आप अत्यन्त महत्वपूर्ण समझते हैं और क्यों ? (यू० पी०, १९४१)

१४. राज्य के कार्यों के वैयक्तिक सिद्धान्त का वर्णन कीजिए और उसकी आलोचना कीजिए। (यू० पी०, १९४२)

१५. राज्य को गरीबों की रक्षा क्यों करनी चाहिए ? क्या यह न्यायसंगत बात है कि एक मनुष्य के बच्चे को मुफ्त शिक्षा देने के लिए दूसरे आदमी पर कर लगाया जाय ? (यू० पी०, १९४५)

१६. आपकी राय में राज्य के कामों का उचित क्षेत्र क्या है ? (यू० पी०, १९४९)

१७. राज्य शिक्षा क्यों दे और जनता के स्वास्थ्य की रक्षा और उन्नति क्यों करे ? क्या आपकी राय में राज्य को विज्ञान, ललित-कलाओं, साहित्य आदि को सहारा देना चाहिए ? (यू० पी०, १९५०)

१८. आधुनिक राज्य के कर्तव्य क्या हैं ? किस प्रकार का शासन इन्हें अधिक योग्यता के साथ कर सकता है ? (यू० पी०, १९५२; पंजाब, १९५३)

१९. समाजवाद के सिद्धान्त को समझाइए। आधुनिक राज्यों की कार्यशीलता को समाजवाद सिद्धान्त ने कहाँ तक प्रभावित किया है ? (यू० पी०, १९५३; पंजाब; १९५३)

२०. कल्याण राज्य (*Welfare State*) का क्या अर्थ है ? क्या आप भारत को कल्याण राज्य कहेंगे ? यदि, हाँ, तो क्यों और नहीं तो क्यों ?

अध्याय १७

अधिकार-विभाजन का सिद्धान्त और शासन के मुख्य अङ्ग

(Theory of Separation of Powers and Organs of Government)

§ १ अधिकार-विभाजन का सिद्धान्त

(Theory of Separation of Powers)

पिछले अध्यायों में हम देख चुके हैं कि समाज में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने तथा मनुष्यों के जीवन को सुसंस्कृत और उन्नतिशील बनाने के लिए राज्य आवश्यक संस्था है। इस संस्था के मुख्यतः तीन अंग होते हैं : (१) विधान-मंडल (Legislature), (२) कार्यपालिका (Executive) और (३) न्यायपालिका (Judiciary)। जैसा इनके नाम से ही स्पष्ट है, विधान-मंडल का काम कानून बनाना, कार्यपालिका का काम इन कानूनों के अनुसार राज्य का प्रबन्ध करना तथा न्यायपालिका का काम मुकदमों का फैसला करना होता है। कुछ विद्वान् सरकार के केवल दो ही अंग मानते हैं :—(१) विधान-मंडल (Legislature), और (२) कार्यपालिका (Executive)। न्यायपालिका को यह लोग कार्यपालिका का ही अंग मानते हैं। यह मत न्यायसंगत नहीं क्योंकि इसमें न्यायालय को कार्यकारिणी का एक अंग मानकर उसके साथ घोर अन्याय किया गया है। वास्तव में संसार के प्रायः प्रत्येक देश में न्यायालय को सरकार के बाकी सारे ही अंगों से बिल्कुल स्वतंत्र रखा जाता है। कुछ राजनीतिज्ञ सरकार के पाँच अंग भी मानते हैं अर्थात् (१) विधान सभा, (२) कार्यपालिका (३) शासन करनेवाला अंग, (४) न्याय करनेवाला अंग, (५) वोटरों का समुदाय। आजकल यह मत भी अधिक लोकप्रिय नहीं है। इसलिए सरकार के तीन अंगोंवाला सिद्धान्त (Trinity Theory of Governmental Organs) ही सबसे अधिक मान्य है।

सरकार के अंगों का पारस्परिक सम्बन्ध (Relationship between different organs of Government)

सरकार के अंगों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में सबसे प्रसिद्ध मत एरिस्टॉटल (Aristotle), मॉण्टेस्क्यू (Montesquieu) तथा ब्लैकस्टोन (Blackstone) द्वारा प्रतिपादित 'अधिकार पृथक्करण सिद्धान्त' (Theory of Separation of Powers) कहलाता है। इस मत के अनुसार सरकार के तीनों अंग अर्थात् विधान

मडल, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका एक-दूसरे से बिल्कुल पृथक् और स्वतंत्र रहने चाहिए। इन तीनों अंगों के अपने अलग-अलग कार्य हैं और उन्हें एक-दूसरे के कार्य-क्षेत्र में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही करना चाहिए। ऐसा करना नागरिकों की स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिए नितान्त आवश्यक है। यदि सरकार की ये तीनों शक्तियाँ एक ही हाथ में सौंप दी जायें तो व्यक्ति कभी भी स्वतन्त्र नही रह सकता एव ऐसा राज्य प्रजातन्त्रवादी संगठन न रहकर निरकुश तथा स्वेच्छाचारी शासन बन जाता है।

इसी प्रकार यदि किसी राज्य में कानून बनाने और उसके पालन करने का काम एक ही व्यक्ति को सौंप दिया जाय तो भी स्वतन्त्रता कायम नहीं रह सकती। कार्यपालिका और न्यायपालिका के सम्मिश्रण से तो और भी अधिक अधेर हो जाता है क्योंकि ऐसी दशा में मनुष्य को किसी प्रकार का न्याय नही मिल सकता और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और मानव दोनों खतरे में पड जाते है।

मनुष्य की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए उपर्युक्त सिद्धान्तवादियों का कहना है कि सरकार के तीनों ही अग एक-दूसरे से बिल्कुल स्वतन्त्र रहने चाहिए। ऐसी दशा में ही मनुष्य कार्यपालिका के अत्याचारों के विरुद्ध न्यायपालिका से रक्षा प्राप्त कर सकता है, एव विधान सभा द्वारा अपने व्यक्तित्व के लिए अच्छे कानूनों की स्वीकृति की आशा कर सकता है।

इस सिद्धान्त के समर्थन का दूसरा कारण भी है और वह यह कि राज्य के इन तीनो अगों के सुचारु रूप से कर्तव्य-पालन के लिए यह आवश्यक है कि उन लोगो में जो इन तीनों अंगो का कार्य सचालन करते है, अलग-अलग प्रकार के गुण और हों। उदाहरणार्थ पुलिस कर्मचारी को कानून पर अमल करके समाज में शान्ति और व्यवस्था कायम रखनी पड़ती है। इसके लिए आवश्यक है कि ऐसे व्यक्ति में तेजी और ताकत के साथ काम करने की शक्ति हो। इसके विपरीत न्यायाधीश को कानून का सही अर्थ निकालना पडता है। इसके लिए उसमें विचारशीलता और गम्भीरता के गुण होने चाहिए। यह गुण एक पुलिस के सिपाही के लिए उपयुक्त नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि शासन के भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए भिन्न-भिन्न गुणों की आवश्यकता है और इसलिए यह अनिवार्य है कि सरकार के तीनों काम भिन्न-भिन्न स्वभाव के लोगों को सौंपें जायें।

उपर्युक्त सिद्धान्त की आलोचना—इस सिद्धान्त की व्यावहारिक दृष्टिकोण से अनेक विद्वानों ने आलोचना की है। (१) उन लोगों का कहना है कि सरकार मानव-शरीर के समान एक सगठन है। जिस प्रकार शरीर का कोई भाग दूसरे से बिल्कुल अलग नही रह सकता और एक भाग में खराबी आने से सारे शरीर की दशा ही बिगड जाती है ठीक उसी प्रकार सरकार का सगठन भी है। सरकार के अग एक-दूसरे से अलग रहकर काम नही कर सकते। इन्हें एक-दूसरे के सम्पर्क में रहकर ही काम करना पडता है। (२) शासन-यन्त्र को ठीक प्रकार से चलाने के लिए यह जरूरी है कि देश की धारासभा और कार्यकारिणी एक-दूसरे से मिल-जुलकर काम करे। इनके अलग-अलग उद्देश्य से काम करने से शासन छिन्न-भिन्न हो जाता है। उदाहरण के लिए मान

लीजिए कि कोई देश दूसरे देश की आर्थिक सहायता करना चाहता है; अब यदि उस देश की धारा-सभा इस सहायता की मंजूरी न दे तो कार्यपालिका इस मद पर रुपया खर्च नहीं कर सकती। (३) न्याय-विभाग को, कार्यपालिका और धारा-सभा से पूर्णतः अलग करने का मतलब यह होता है न्यायाधीशों का चुनाव जनता द्वारा किया जाय। परन्तु न्याय के क्षेत्र में चुनाव की प्रथा कितनी हानिकारक हो सकती है इसको बताने की आवश्यकता नहीं। न्यायाधीश के चुने जाने का अर्थ यह होता है कि उनके पद की अवधि तथा न्याय का निर्णय चुनाव के नेताओं के हाथ में चला जाता है। (४) कहा गया है कि अधिकार पृथक्करण सिद्धान्त का सबसे अधिक प्रयोग अमेरिका में किया गया है। वहाँ की शासन-पद्धति की यह विशेषता समझी जाती है कि सरकार के तीनों अंग एक-दूसरे से अलग-अलग कार्य करते हैं। परन्तु तनिक सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर मालूम पड़ता है कि अमेरिका में शासन के तीन अंगों का एक-दूसरे से घनिष्ठ संबंध है। वहाँ 'काँग्रेस' कोई ऐसा काम नहीं कर सकती जो प्रेसीडेंट की इच्छा के विरुद्ध हो। यदि वह ऐसा करती है तो प्रेसीडेंट को अधिकार है कि वह उस कानून को रद्द कर दे। ऐसा करने के पश्चात् काँग्रेस के दोनों सदनों (Houses) के $\frac{2}{3}$ बहुमत को उस कानून को दुबारा पास करना पड़ता है और यदि वे ऐसा न कर सकें तो कानून रद्द हो जाता है। इसी प्रकार यद्यपि प्रेसीडेंट काँग्रेस का सदस्य नहीं होता फिर भी वह उसके सामने अपनी माँगें लिखकर भेज सकता है और स्वयं भी उसके अधिवेशनों में आकर भाषण दे सकता है। प्रेसीडेंट के इन संदेशों तथा भाषणों का काँग्रेस के कानून पर भारी असर पड़ता है। इससे साफ जाहिर है कि अमेरिका के शासन-विधान में भी विधान-मंडल और कार्यपालिका एक दूसरे से बिल्कुल पृथक् नहीं हैं। कहा जाता है कि अमेरिका का प्रधान न्यायालय (Supreme Court) बिल्कुल स्वतंत्र है परन्तु इसके न्यायाधीशों की नियुक्ति भी प्रेसीडेंट ही करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अमेरिका का न्यायालय भी सरकार के अन्य अंगों से पृथक् नहीं है। इससे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि सरकार के तीनों अंगों को एक-दूसरे से पृथक् रखना सम्भव नहीं और संसार के किसी भी देश में ऐसा नहीं होता है। (५) नागरिक स्वाधीनता के विचार से भी अधिकारों का पूर्ण विभाजन आवश्यक नहीं क्योंकि व्यक्तिगत स्वतंत्रता अधिकारों के विभाजन पर इतनी अवलम्बित नहीं रहती जितनी कि संविधान की आत्मा पर। इंगलैंड में संसार के किसी भी देश की अपेक्षा व्यक्तिगत स्वतंत्रता कम नहीं है हालांकि उस देश में कार्यपालिका और संसद एक-दूसरे से बिल्कुल मिली हुई हैं। (६) यह सिद्धान्त सरकार के तीनों अंगों को समान मानता है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रत्येक देश का विधानमण्डल सरकार के अन्य अंगों से बढ़कर होता है और वह दूसरे अंगों के व्यय पर नियंत्रण रख कर उन पर अपना अधिकार रखता है।

सिद्धान्त का औचित्य और उसकी उपयोगिता

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद सरकार के अधिकार-पृथक्करण सिद्धान्त में कुछ अत्यन्त उपयोगी बातें हैं। उदाहरणार्थ यह सिद्धान्त इस बात पर जोर देता है कि शासन

के तीनों अंगों के बीच थोड़ा-बहुत अधिकार-विभाजन, शासन की अच्छाई को कायम रखने के लिए, आवश्यक और वांछनीय है। बहुत-से अधिकारों के एक ही मनुष्य या मनुष्यों के समूह के हाथ में दिये जाने से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को भारी खतरा पहुँचता है। अधिकार-विभाजन से विभिन्न अंगों द्वारा शक्ति का दुरुपयोग नहीं होने पाता। विशेष रूप से इस सिद्धान्त ने न्यायालय को सरकार के दूसरे दो अंगों के प्रभुत्व से अलग करने में भारी सहायता की है। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि किसी भी ऐसे देश में, जहाँ न्याय-पालिका स्वतन्त्र नहीं, नागरिक स्वतन्त्रता कायम नहीं रह सकती।

सरकार के कार्य-विभाजन का नियंत्रण और संतुलन-सिद्धान्त (Theory of Checks and Balances)

सरकार के अंगों के अधिकार-विभाजन का आधुनिक सिद्धान्त नियन्त्रण और संतुलन सिद्धान्त कहलाता है। इस सिद्धान्त का आशय यह है कि यद्यपि सरकार के तीनों अंगों का अलग-अलग कार्य करना वाञ्छनीय है तथापि उन्हें एक-दूसरे की शक्ति को रोक-थामकर रखना चाहिए। उदाहरणार्थ देश के विधान-मंडल का काम कानून बनाना है, परन्तु इसका यह आशय नहीं कि उसका कार्यकारिणी से कोई सम्बन्ध न हो। प्राय. कार्यकारिणी देश के विधान-मंडल पर निम्न प्रकार से नियन्त्रण रखती है :

(१) विधान-मण्डल में दैनिक शासन-कार्य के विषय में जरूरी कानून पेश करके।

(२) विधान-मंडल द्वारा पास कानूनों को कुछ विशेष दशाओं में रद्द करके।

इसी प्रकार प्रत्येक देश में कानूनों पर अमल कराने के लिए अलग कार्यपालिका (Executive) होनी चाहिए। परन्तु इसका भी यह आशय नहीं कि कार्यपालिका और विधान-मंडल में किसी प्रकार का सम्बन्ध ही न रहे। जिस प्रकार कार्यपालिका विधान-मंडल पर नियन्त्रण रखती है, ठीक उसी प्रकार विधान-मंडल को भी चाहिए कि वह कार्यकारिणी पर अधिकार रखे। ऐसा वह दो प्रकार से कर सकती है :

(१) कार्यपालिका से उसकी नीति के सम्बन्ध में प्रश्न करके।

(२) कार्यपालिका को उसके पद से अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा हटा करके।

प्रत्येक देश में न्याय-सम्पादन के लिए स्वतन्त्र न्यायालय की भी आवश्यकता होती है। जहाँ तक सम्भव हो, इस न्यायालय का कार्य-क्षेत्र विधान-मंडल तथा कार्यपालिका से बिल्कुल पृथक् रखना चाहिए, परन्तु इसका भी यह आशय नहीं कि न्यायालय का सरकार के बाकी दो अंगों से किसी प्रकार का सम्बन्ध ही न रहे।

प्रत्येक देश के प्रधान न्यायालय को विधान-मंडल द्वारा पास कानूनों के विषय में अपनी सम्मति प्रकट करने का अधिकार होता है। देश के विधान-मंडल को भी इसी प्रकार, न्यायालय की शक्ति, उसके कार्य तथा उसमें काम करनेवाले न्यायाधीशों की योग्यता का निश्चय करने का अधिकार होता है।

न्यायालय कार्यपालिका पर उन अभियुक्तों को सजा देकर या उन्हें छोड़कर नियंत्रण

रखती है, जो उसके सामने कार्यपालिका द्वारा पेश किये जाते हैं। इसके बदले में कार्यपालिका भी न्यायाधीशों की नियुक्ति द्वारा उस पर नियंत्रण रखती है।

स्वतन्त्र न्यायालय और नागरिक अधिकार (Independent Judiciary and Civic Rights)

सरकार के उपर्युक्त वर्णित 'अधिकार पृथक्करण सिद्धान्त' के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रत्येक देश में न्याय-विभाग का कार्यपालिका से अलग किया जाना नागरिक स्वतंत्रता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए निम्नलिखित कारण दिये जा सकते हैं:—

(१) जसा हम पहले बतला चुके हैं, कार्यपालिका और न्यायालय के सदस्यों के गुण और स्वभाव में भिन्नता होनी चाहिए। न्याय-विभाग के कर्मचारियों में गम्भीरता, निष्पक्षता तथा स्वतंत्र दृष्टिकोण के गुण होने चाहिए। कार्यपालिका के कर्मचारियों में इसके विपरीत तेजी, फुर्ती और शक्ति से काम करने की क्षमता होनी चाहिए। यह दोनों गुण एक ही मनुष्य में नहीं पाये जा सकते। (२) कार्यपालिका का प्रधान कर्तव्य कानून भंग करनेवाले लोगों को गिरफ्तार करना है। यदि ये ही मनुष्य अभियुक्तों के जुर्मों का फैसला भी करने लगें तो किसी प्रकार के न्याय की आशा ही नहीं की जा सकती। (३) न्याय विभाग को कार्यपालिका के दबाव तथा असर से दूर रखने के लिए यह आवश्यक है कि उसको कार्यपालिका के प्रभाव से बाहर रखा जाय। यदि न्यायाधीश कार्यपालिका के मातहत रहेंगे और उनकी इच्छा और सिफारिश पर ही उनकी भावी उन्नति अवलम्बित होगी तो न्याय की निष्पक्षता और स्वतंत्रता कायम नहीं रखी जा सकती। इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि न्यायाधीशों के पद की अवधि, उनका वेतन, उन्नति आदि का काम कार्यपालिका के क्षेत्र से बाहर रखा जाय।

हमारे देश का यह दुर्भाग्य है कि स्वतंत्रता प्राप्त करने के पश्चात् भी हम अपने न्यायालयों को कार्यपालिका के क्षेत्र से बाहर नहीं कर पाये हैं। हमारे देश के प्रायः प्रत्येक जिले और तहसील में सरकार की कार्यपालिका के उच्च कर्मचारी जिला कलक्टर और तहसीलदार—शासन-प्रबन्ध और न्याय दोनों का ही कार्य करते हैं। विदित है कि ऐसी दशा में नागरिक स्वतंत्रता की रक्षा की कोई भी आशा नहीं की जा सकती। भारत के कुछ प्रान्त, इसी कारण, आजकल कार्यपालिका और न्यायपालिका को पृथक् करने के कार्य में लगे हुए हैं।

§ २: शासन के मुख्य अंग

(Organs of Government)

जैसा कि पिछले पृष्ठों में बतलाया जा चुका है, शासन के तीन अंग होते हैं:—

(१) विधान-मंडल, (२) कार्यपालिका, और (३) न्यायपालिका। अब हम इन तीनों अंगों की बनावट तथा संगठन का विस्तृत वर्णन करेंगे।

विधान-मंडल (Legislature)

विभिन्न देशों के विधान मंडल मुख्यतः निम्नलिखित कार्य करते हैं :—

(१) वह देश में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने के लिए कानून बनाते हैं। समय की बदलती हुई परिस्थिति के अनुसार प्रत्येक समाज में नये कानूनों की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए विधान सभाएँ पुराने कानूनों के स्थान पर निरन्तर नये कानून बनाती रहती हैं। किसी-किसी देश, जैसे इंगलैण्ड में संसद को संविधान में परिवर्तन करने का भी अधिकार प्राप्त होता है।

(२) विधान सभाएँ देश के आय-व्यय (Finances) पर नियंत्रण रखती है। कोई नए कर लगाने अथवा किसी मद में खर्च करने की कोई भी योजना उस समय तक अमल में नहीं लाई जा सकती जब तक कि विधान सभा उसे स्वीकार नहीं कर लेती। बजट को पास करना तथा नए कर लगाना, इस प्रकार, विधान सभाओं का दूसरा मुख्य कर्तव्य है।

(३) विधान सभाओं का तीसरा मुख्य कार्य देश की कार्यपालिका पर नियंत्रण रखना है। मंत्रिमंडलात्मक सरकार के तरीके में मंत्री सदा विधान सभा के प्रति उत्तर-दायी होते हैं तथा अपने पद पर केवल उसी समय तक आसनारूढ़ रहते हैं जब तक कि विधान सभा के अधिकतर सदस्यों का उनमें विश्वास होता है।

अध्यक्षात्मक शासनों में भी विधान सभाएँ कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती हैं। वे उनके द्वारा की गई नियुक्तियों की मंजूरी देकर, तथा संधियों की स्वीकृति देकर उस पर नियंत्रण रखती हैं।

(४) वह सरकार के सम्मुख जनता की तकलीफों को पेश करती हैं। विधान मंडल के सदस्य प्रस्तावों, प्रश्नों, बजट में कटौती तथा काम-रोको प्रस्ताव इत्यादि पेश करके जनता की तकलीफों की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित करते हैं।

(५) वह राज्य की नीति को निर्धारित करते हैं और सरकार के सामने दृढ़ कार्यक्रम पेश करते हैं।

(६) वह राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की देख-भाल करते हैं। प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में कोई भी युद्ध या संधि उस समय तक नहीं की जा सकती जब तक कि विधान मंडल की उस विषय में राय न ले ली जाय।

(७) कुछ देशों में विधान मंडल कुछ ऐसे काम भी करते हैं जिनका कानून से कोई सम्बन्ध नहीं होता, उदाहरणार्थ वे चुनाव के झगड़ों का फैसला करते हैं, अपने सदस्यों के मुकदमों को सुनते हैं, कभी-कभी सरकार के उच्च कर्मचारियों पर लगाये गए अभियोगों की छान-बीन करते हैं और अपील की अदालत का भी काम करते हैं।

विधान-मंडल का संगठन (Organisation of Legislature)

दूसरे सदन का प्रश्न (Problem of Second Chamber)—हम यह देख चुके हैं कि विधान मंडल राज्य का सबसे आवश्यक अंग है। इसके उचित संगठन तथा कार्य

पर ही किसी देश और समाज की भलाई अवलम्बित रहती है। इसके द्वारा जो भी कानून पास किये जाते हैं वे सभी जातियों की उन्नति पर प्रभाव डालते हैं। इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि किसी भी कानून को पास करने से पहले यह देखने का प्रयत्न किया जाय कि इस कानून से जनता के किसी अंग विशेष को हानि तो नहीं पहुँचती है। देश के विधान मंडल में इसी कारण जनता के प्रत्येक हित तथा वर्ग का प्रतिनिधित्व रहना चाहिए।

कुछ लोगों का विचार है कि विधान मंडल के दो भाग होने चाहिए, जिनमें से एक का नाम "निचला सदन" (Lower House) तथा दूसरे का नाम "उच्च सदन" (Upper Chamber) होना चाहिए। जिस देश के विधान मंडल में केवल एक ही सदन (House) होता है वह एकसदनात्मक विधान मंडल (Unicameral legislature) और जिसमें दो सदन होते हैं, वह द्विसदनात्मक विधान मंडल (Bicameral legislature) कहलाता है। प्रायः प्रत्येक देश में निचला सदन जनसाधारण का प्रतिनिधित्व करता है और उच्च सदन जनता के कुछ विशेष वर्गों का; जैसे—जमींदारों, मजदूरों, व्यापारियों, कारखानेदारों, युनिवर्सिटियों, व्यापार-संघों, ट्रेड यूनियनों इत्यादि का।

दूसरे सदन के पक्ष में तर्क (Arguments in favour of Second Chamber)—द्विसदनात्मक विधान मंडल के पक्ष में जो दलीलें दी जाती हैं, वे निम्नलिखित हैं :—
(१) द्वितीय सदन विधान मंडल के निम्न सदन के कार्यों पर दुबारा विचार करता है और उनमें जो कुछ भूल आदि रह जाती हैं उनको दूर कर देता है। प्रायः ऐसा देखने में आता है कि निचला सदन ऐसे प्रतिनिधियों से भरा रहता है जो अत्यन्त उग्र तथा क्रान्तिकारी विचार वाले व्यक्ति होते हैं। ऐसे लोग बिना सोचे-समझे जल्दी में कुछ ऐसे कानूनों को पास कर बैठते हैं जिनसे सर्वसाधारण का भला नहीं वरन् हानि होती है। उच्च सदन कानून की इन बुराइयों को दूर कर देता है तथा निचले सदन पर नियंत्रण रखता है। (२) उच्च सदन में ऐसे व्यक्तियों को प्रतिनिधित्व दिया जाता है जो अपनी कुशाग्र बुद्धि तथा अनुभव के कारण जनता में प्रख्यात होते हैं। ऐसे व्यक्ति चुनावों में भाग लेना पसन्द नहीं करते, इसलिए उच्च सदन में वे नामजद कर दिये जाते हैं। (३) निचले सदन पर आजकल के राज्यों में कार्य-भार बहुत रहता है, अतः वे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर वाद-विवाद नहीं कर पाते। उच्च सदन, जिनके पास काफी फालतू समय रहता है इस कमी को पूरा कर देते हैं। (४) उच्च सदन के द्वारा कुछ ऐसे लोगों को भी स्थान मिल जाता है जो समाज के विशेष हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जैसे जमींदार, मिल मालिक, मजदूरों के नेता, व्यापारी, अल्पसंख्यक जातियाँ इत्यादि। (५) द्वितीय सदन से कानून बनाने में एक सदन द्वारा स्वेच्छाचार या मनमानी करने की संभावना नहीं रहती। इस प्रकार द्वितीय सदन जनता की स्वतंत्रता की रक्षा करता है। (६) उच्च सदन कानून के पेश होने और उनके पास होने के बीच जनता को इस बात का अवसर प्रदान करता है कि वह उस कानून के विषय में अपना मत प्रकट कर सके। संघीय संविधानों में उच्च सदन विभिन्न राज्यों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने में सहायता देता है। इसलिए इन देशों में वह अनिवार्य समझा जाता है।

दूसरे सदन से हानि (Disadvantages of Second Chambers)—बहुत से राजनीति के विद्वान् दूसरे सदन की प्रथा के अत्यन्त ही विरुद्ध हैं। उनके मत से दूसरी सभा न तो किसी उद्देश्य की पूर्ति ही करती है और न कोई लाभदायक कार्य ही करती है। (१) अनुभव यह बतलाता है कि वास्तव में उच्च सदन धनिकों और अनुदार दलों का गढ बन जाते है और इन दलो की स्वार्थ-रक्षा के नाम मे सर्वसाधारण के हित का विरोध करते हैं। (२) विधान-मण्डल का काम कानून बनाना है। एबेसीज (Abbe-sieyes) के कथनानुसार लोकमत किसी भी विषय पर एक ही हो सकता है दो नही, इसलिए उसका प्रतिनिधित्व करनेवाली सभा भी एक ही होनी चाहिए—दो नही। (३) दो सदनो के होने से उनमे निरन्तर झगडा होता रहता है और शासन का कार्य तेजी से आगे नहीं बढ सकता। (४) किसी विद्वान् ने लिखा है कि द्वितीय सदन प्रथम सदन से सहमत रहे तो वह व्यर्थ है और यदि उसका विरोध करे तो हानिकारक है। द्वितीय सदन या तो प्रथम सदन से सहमत रहेगा या उसका विरोध करेगा। अत प्रत्येक दशा में उससे कोई लाभ नही। (५) यह कहना कि द्वितीय सदन कानूनो का परिमार्जन (Revision) करता है, ठीक नही। आजकल के देशो मे प्रथम सदन प्रत्येक कानून पर तीन बार विचार करते है। इसके बाद भी यदि उनमे दोष रह जाय तो देश की कार्यपालिका का सर्वोच्च अधिकारी उन पर हस्ताक्षर करने से पहले उनके दोषो को दूर कर सकता है। इस कार्य के लिए द्वितीय सदन की कोई आवश्यकता नही। (६) द्वितीय सदन की व्यवस्था से राज्य का व्यय बढ जाता है और गरीब जनता पर उसका निरर्थक भार पडता है। (७) एक और कारण से भी कुछ राजनीतिज्ञ द्वितीय सदनों की प्रणाली का विरोध करते हैं। उनका कहना है कि यह समझ में नही आता कि द्वितीय सदन के सदस्यो की नियुक्ति किस प्रकार की जाय। यदि चुनाव द्वारा की जाय तो यह निचली सभा की केवल नकल मात्र होगी। यदि नामजदगी से की जाय तो इससे सत्तारूढ दल के हाथ मे एक जबर्दस्त ताकत आ जाती है और यदि वश परम्परागत प्रथा से की जाय तो वर्तमान प्रजातन्त्रीय युग मे यह अत्यन्त ही खतरनाक प्रथा होगी।

निष्कर्ष—उपरोक्त विवरण से द्विसदनात्मक विधान-सभा-प्रणाली की व्यर्थता सिद्ध होती है। प्रजातन्त्र राज्यों मे द्वितीय सदन झगडे और मतभेद की जड होते हैं। परन्तु इन सब बुराइयो के बावजूद हम देखते है कि ससार के प्राय प्रत्येक देश मे ही दो सदनों की प्रथा प्रचलित है। इसका कारण केवल यही प्रतीत होता है कि अपनी ऐतिहासिक परम्परा के कारण यह प्रथा विधान-मडल का आवश्यक अग बन गई है।

विधान-मंडल के दोनों अंगो का पारस्परिक सम्बन्ध (Relationship between the Chambers)

प्रश्न उठता है कि द्विसदनात्मक विधान-मडल के अन्तर्गत प्रथम और द्वितीय सदन का क्या पारस्परिक सम्बन्ध होता है? अब से कुछ समय पहले इन दोनों सदनो के अधिकार लगभग बराबर ही रखे जाते थे। अन्तर केवल इतना था कि राज्य की आय-

व्यय के सम्बन्ध में प्रथम सदन को विशेष अधिकार दिये जाते थे। बाकी सभी मामलों में दोनों सदनों के अधिकार बराबर होते थे। बिना दोनों के सहमत हुए कोई भी विधेयक कानून नहीं बन सकता था। परन्तु आजकल, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका को छोड़कर यह प्रथा दूसरे देशों से उठ गई है और सभी देशों में कानून या रीति-रिवाज द्वारा यह निश्चित हो गया है कि आर्थिक बिलों में तो द्वितीय सदन कुछ भी हस्तक्षेप नहीं करे, साधारण बिलों के पास करने के सम्बन्ध में भी वह केवल विलम्ब ही कर सकेगा, हस्तक्षेप नहीं। उदाहरणार्थ यदि इंगलैण्ड में कामन्स सभा किसी बिल को तीन बार पास कर दे और इतने बार पास करने में उसे कम से कम दो वर्ष लग जायें तो वह बिल हाउस आफ लार्ड्स की सम्मति मिले बिना भी कानून बन जाता है।

विधान-मंडल के दोनों सदनों के बीच किसी बिल पर मतभेद का निपटारा करने के लिए चार रीतियाँ काम में लाई जाती हैं:—

(१) झगड़े वाले बिल को समाप्त करके।

(२) दोनों सदनों के सदस्यों की एक संयुक्त समिति बनाकर जिसका निर्णय दोनों ही सदन मानने का वचन दें। (यह रीति फ्रांस और अमेरिका में प्रचलित है।)

(३) दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन बुलाकर और फिर उसमें बहुमत से जो निर्णय हो जाय उसे स्वीकार करके। (यह रीति भारतवर्ष और आस्ट्रेलिया में प्रचलित है।)

(४) प्रथम सदन निश्चित अवधि के बाद बिल को दुबारा या तिबारा पास करके। (यह रीति इंगलैंड में प्रचलित है।)

विधान-मंडल की अवधि (Term of the Legislature)

विधान-मंडल के भवनों की अवधि न बहुत कम और न बहुत अधिक हो होनी चाहिए। बहुत कम अवधि होने से बारम्बार चुनाव करने पड़ते हैं जिससे विधान-मंडल के काम में अड़चन पड़ती है, अनावश्यक खर्च होता है और जनता में अकारण ही हलचल पैदा होती है। थोड़े समय में विधान-मंडल के सदस्य भी शासन-सम्बन्धी अनुभव प्राप्त नहीं कर पाते। परन्तु इसका मतलब यह भी नहीं कि विधान-मंडल के भवनों की अवधि लम्बी रखी जाय क्योंकि ऐसी दशा में वह अधिक समय तक जनता का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते। साधारणतया तीन या चार वर्ष की अवधि विधान-सभाओं के लिए पर्याप्त समझी जाती है।

कार्यपालिका (Executive)

कार्यपालिका सरकार के उस अंग को कहते हैं जो शासन करता है या विधान-मंडल के बनाये कानूनों पर अमल कराता है। वास्तव में देश का शासन और उसकी व्यवस्था कार्यपालिका ही करती है। शासन के दैनिक जीवन में इसी अंग का हाथ सबसे अधिक होता है। जो मनुष्य कानून को भंग करता है वह कार्यपालिका द्वारा दोषी ठहराया जाता

है, एवं उसे न्यायालय दण्ड देता है। व्यापक दृष्टि से कार्यपालिका के अन्तर्गत सरकार के सर्वोच्च कर्मचारी से लेकर छोटे से छोटा गाँव का चौकीदार भी आ जाता है। परन्तु कभी-कभी कार्यपालिका शब्द का प्रयोग केवल कार्यपालिका के प्रधान या मन्त्रिमण्डल के रूप में किया जाता है।

किसी-किसी देश में दो प्रकार की कार्यपालिकाएँ होती है—एक नामधारी दूसरी वास्तविक। नामधारी कार्यपालिका वह होती है जिसे किसी भी प्रकार के अधिकार प्राप्त नहीं रहते किन्तु जो वंश परम्परागत अधिकार के कारण शाही तख्त पर विराजमान रहती है।

वास्तविक कार्यपालिका वह होती है जो जनता की शक्ति के कारण अधिकार-सम्पन्न रहती है।

कार्यपालिका के आवश्यक गुण

कार्यपालिका का मुख्य काम देश में शान्ति और व्यवस्था कायम रखना होता है। इसके लिए प्रत्येक कार्यपालिका में निम्नलिखित गुण विद्यमान होने चाहिए—

(१) निर्णय में फुर्ती, (२) कर्त्तव्यनिष्ठा, (३) कार्य में स्फूर्ति, (४) काम करने में गोपनीयता (Secrecy)।

उपर्युक्त गुण केवल ऐसी कार्यपालिका में ही हो सकते है जिसका कोई एक सर्वमान्य नेता हो। जिस प्रकार एक म्यान में दो तलवारें नहीं समा सकती, ठीक उसी प्रकार देश में एक समय में कार्यपालिका के दो नेता नहीं हो सकते।

कार्यपालिका की नियुक्ति का तरीका

कार्यपालिका की नियुक्ति के भिन्न-भिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न तरीके है। इनमें से (१) वंशानुगत कार्यपालिका (Hereditary Executive), (२) निर्वाचित कार्यपालिका (Elected Executive), और (३) मनोनीत कार्यपालिका (Nominated Executive) मुख्य है।

वंशानुगत कार्यपालिका—यह प्रथा इंगलैंड और कुछ दूसरे देशों में पाई जाती है। इस प्रथा के अनुसार सम्राट् का ज्येष्ठ पुत्र राज्य का उत्तराधिकारी होता है।

निर्वाचित कार्यपालिका—इस प्रथा के अनुसार राज्य के सर्वोच्च अधिकारी (Head of the State) का जनता द्वारा चुनाव किया जाता है। चुनाव दो प्रकार से होता है (१) प्रत्यक्ष, (२) अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष चुनाव द्वारा आजकल किसी भी देश के सर्वोच्च अधिकारी की नियुक्ति नहीं होती, क्योंकि इस प्रथा से कार्यपालिका के प्रधान का अंतिम निर्णय उन लोगों के हाथ में चला जाता है, जो उम्मीदवार की योग्यता का ठीक निर्णय नहीं कर सकते। इस कारण अप्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली की शरण ली जाती है। अमेरिका और भारत में प्रेसीडेण्ट के चुनाव के लिए यही प्रथा काम में लाई जाती है।

किसी-किसी देश, जैसे स्विट्जरलैण्ड और फ्रांस में, कार्यपालिका का चुनाव विधान-मंडल द्वारा भी किया जाता है। यह प्रथा बहुत अच्छी नहीं है क्योंकि इसमें कार्यपालिका

को विधान-मंडल के अधीन रहकर काम करना पड़ता है। वह उसकी दलबंदियों के प्रभाव से ऊपर नहीं उठ सकती।

मनोनीत कार्यपालिका—कार्यकारिणी की नियुक्ति का एक और तरीका देश के नामधारी शासक द्वारा चुना जाना है। यह प्रथा मंत्रिमंडलात्मक शासनों में प्रचलित है, जहाँ प्रधान मंत्री की नियुक्ति देश के सम्राट् या देश के सभापति द्वारा की जाती है। इस प्रकार की कार्यकारिणी जनता के प्रति उत्तरदायी होती है और अपने पद पर केवल उतने ही समय के लिए काम करती है, जब तक विधान-सभा का उसमें विश्वास रहता है।

कार्यपालिका के कर्तव्य

प्रसिद्ध राजनीतिक विद्वान् गैटिल (Gettle) ने कार्यकारिणी के निम्नलिखित काम बताये हैं:—

(१) **कूटनीतिक कार्य** (Diplomatic Functions)—कार्यपालिका दूसरे देशों से सन्धि, दूसरे देशों में राजनीतिक दूतों की नियुक्ति तथा अपने देश में व्यवस्था और युद्ध के कार्य का संचालन करती है।

(२) **विधान माण्डलिक कार्य** (Legislative Functions)—कार्यपालिका विधान सभा को बुलाने, स्थापित करने, भंग करने, कानून पेश करने, बिल पर हस्ताक्षर करने, आर्डिनेन्स बनाने तथा कानून के अन्तर्गत नियम और उपनियम बनाने का कार्य करती है।

(३) **सैनिक कार्य** (Military Functions)—कार्यपालिका का प्रधान बहुधा सेना का सेनापति भी होता है। इस प्रकार वह देश की जल, थल और वायु सेना पर अधिकार रखता है, उसके अफसरों की नियुक्ति करता है तथा उनकी व्यवस्था के लिए फौजी कानून बनाता है।

(४) **प्रशासन-सम्बन्धी कार्य** (Administrative Functions)—कार्यपालिका का काम देश में शान्ति रखना, जान-माल की हिफाजत करना, शिक्षा प्रचार करना, व्यापार और उद्योग की वृद्धि करना, कानूनों की रक्षा करना तथा राज्य की बेहतरी के लिए दूसरे हर प्रकार के कार्य करना है।

(५) **न्याय-सम्बन्धी कार्य** (Judicial Functions)—कार्यपालिका न्यायाधीशों की नियुक्ति करती है तथा सजा पाये हुए अभियुक्तों को क्षमा प्रदान करने का कार्य करती है।

न्यायपालिका (Judiciary)

सरकार का तीसरा अंग न्यायपालिका कहलाता है। कानूनों की परख न्यायालयों में होती है। इस अंग का मुख्य कर्तव्य कानून भंग करने वालों को दण्ड देना है। इस विभाग के अन्तर्गत बहुत से न्यायालय होते हैं जो निम्नलिखित कार्य करते हैं—(१) कानूनों का अर्थ निकालना और उनका अभियोगों में प्रयोग करना, (२) दो नागरिकों के बीच तथा राज्य एवं नागरिकों के बीच आर्थिक मुकदमों का फैसला करना, (३) फौजदारी,

माल्गी तथा दीवानी मुकदमों का फैसला करना और अभियुक्तों को सजा देना, (४) नाबालिगों की जायदाद के लिए ट्रस्टी मुकर्रर करना और स्त्रियों तथा पागल सम्पत्तिवान व्यक्तियों के संरक्षक नियुक्त करना, (५) मृत व्यक्तिओं की जायदाद का प्रबन्ध करना, (६) दिवालियों की जायदाद के लिए रिसीवर मुकर्रर करना, (७) कार्यपालिका को संवैधानिक मामलों में आवश्यक परामर्श देना, (८) संघीय संविधानों में राज्यों तथा केन्द्रीय विधानमंडलों द्वारा स्वीकृत कानूनों की वैधानिकता का निश्चय करना, और (९) अपने फैसलों के द्वारा नजीरें तैयार करना जिनके आधार पर आगे आनेवाले मुकदमों का फैसला किया जा सके।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न्यायालय वर्तमान राज्यों में नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा करने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग लेते हैं। न्यायाधीशों को चाहिए कि वे न्याय करते समय धनी और गरीब, छोटे और बड़े का ध्यान न रखें। न्याय की दृष्टि में सब समान हैं।

न्यायाधीशों की नियुक्ति

न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए वर्तमान राज्यों में तीन तरीके काम में लाये जाते हैं—(१) विधान-मण्डल द्वारा चुनाव, (२) जनता द्वारा चुनाव, और (३) कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति। इनमें से प्रथम पद्धति का प्रयोग स्विट्जरलैण्ड और अमेरिका के कुछ राज्यों में किया जाता है। यह पद्धति अत्यन्त दोषपूर्ण है क्योंकि यह अधिकार-विभाजन के सिद्धान्त के विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त इस प्रथा के अन्तर्गत न्यायाधीशों का चुनाव विधान सभा की दलबन्दियों से प्रभावित होता है, फलस्वरूप न्यायाधीश पक्षपातरहित नहीं रह सकते।

दूसरी पद्धति अमेरिका के कुछ राज्यों में प्रचलित है। यह रीति भी अत्यत दोषपूर्ण है, क्योंकि सार्वजनिक मत पर चुने गये न्यायाधीश अपने समर्थकों को ही प्रसन्न करने की कोशिश करते हैं, निष्पक्ष रूप से न्याय नहीं करते।

न्यायाधीशों की नियुक्ति का सबसे अच्छा तरीका कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति है, कार्यपालिका को चाहिए कि वह सार्वजनिक परीक्षा द्वारा उम्मीदवारों को चुने और ऐसे व्यक्तियों को छाँटने का प्रयत्न करे जो ईमानदार, निष्पक्ष और गम्भीर विचार वाले व्यक्ति हों।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता

नियुक्ति के पश्चात् न्यायाधीशों का कार्यपालिका से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रहना चाहिए। उनकी नौकरी की निश्चित अवधि, निश्चित वेतन तथा तरक्की का निश्चित क्रम होना चाहिए। उन्हें इतना वेतन मिलना चाहिए कि वह अपना और अपने परिवार का अच्छी तरह पालन कर सकें और लोभवश रिश्वत आदि न लें। रिटायर होने के पश्चात् उन्हें पेंशन मिलनी चाहिए। उन्हें उनके पद से हटाने का मनमाने तौर पर, कार्यपालिका को अधिकार नहीं होना चाहिए। देश के विभिन्न अदालतों की अधिकार-सीमा भी निश्चित होनी चाहिए जिससे उनका आपस में किसी प्रकार का संघर्ष न हो।

न्याय-विभाग का संगठन प्रत्येक देश में अलग-अलग प्रकार से होता है। परन्तु कुछ बातें ऐसी हैं जो सब देशों में समान रूप से पाई जाती हैं। उदाहरणार्थ प्रायः प्रत्येक देश में दो या तीन प्रकार की अदालतें होती हैं—(१) दीवानी (Civil), (२) फौजदारी (Criminal), और (३) माली (Revenue)। इनके अतिरिक्त संघीय राज्यों में दो प्रकार की अदालतें होती हैं; एक संघीय और दूसरी राजकीय। प्रायः प्रत्येक देश में ही अदालतों का एक क्रम भी होता है, जिसके अनुसार सबसे छोटी, फिर उससे बड़ी और फिर सबसे बड़ी अदालतें होती हैं।

हमारे देश की अदालतों का संगठन निम्न तालिका में दिया गया है। आशा है, इसे पढ़कर पाठकों को अदालतों के क्रम का समुचित ज्ञान हो जायगा।

भारतीय न्यायालय के संगठन का क्रम

फौजदारी अदालतें (Criminal Courts)	दीवानी अदालतें (Civil Courts)	माल की अदालतें (Revenue Courts)
		हाईकोर्ट
सुप्रीम कोर्ट	सुप्रीम कोर्ट	बोर्ड आफ रेवेन्यू
हाईकोर्ट	हाईकोर्ट	कमिश्नर की अदालत
सेशन्स कोर्ट	डिस्ट्रिक्ट जज की अदालत	कलेक्टर की अदालत
मैजिस्ट्रेट प्रथम श्रेणी	सिविल जज की अदालत	डिप्टी कलेक्टर की अदालत
मैजिस्ट्रेट द्वितीय श्रेणी	मुन्सिफ की अदालत	तहसीलदार की अदालत
मैजिस्ट्रेट तृतीय श्रेणी	खफीफा की अदालत	नायब तहसीलदार की अदालत
आनरेरी बेंच		

नोट :—भारत में नये संविधान के अन्तर्गत, प्रिवी कौंसिल का कार्यक्षेत्र समाप्त कर दिया गया है। हाईकोर्ट के फैसलों के पश्चात् अब सीधी अपीलें सुप्रीम कोर्ट अर्थात् उच्चतम न्यायालय में जाती हैं।

योग्यता प्रश्न

१. न्याय विभाग का कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका से क्या सम्बन्ध होना चाहिए? (यू० पी०, १९२९)

२. कार्यपालिका और व्यवस्थापिका सभा को किन सिद्धान्तों के द्वारा व्यवस्थित किया जाना चाहिए? (यू० पी०, १९१९)

३. शासन के विभिन्न अंग क्या हैं ? प्रत्येक कार्यों का वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९३१, १९४२, पंजाब, १९५६)

४. न्याय विभाग के कार्य, उसकी नियुक्ति के तरीके और संगठन का वर्णन कीजिये। यू० पी०, १९३५)

५. अधिकार विभाजन का क्या अर्थ है ? क्या सभ्य राज्य में स्वतन्त्र न्याय-विभाग का रहना आवश्यक है ? (यू० पी०, १९३७)

६. नागरिक स्वाधीनता के लिए न्याय विभाग का कार्यकारिणी से स्वतन्त्र होना क्यों आवश्यक है ? (यू० पी०, १९३९, १९४२)

७. द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका सभाओं के लाभ और हानि पर प्रकाश डालिए। (यू० पी०, १९४१)

८. विधानमंडल सभा की दूसरी सभा के पक्ष तथा विपक्ष में दलील दीजिए। क्या ये कारण हिन्दुस्तान के लिए लागू होते हैं ? (यू० पी०, १९४१, १९४५)

९. अधिकार विभाजन के सिद्धान्त को समझाइए। उससे क्या लाभ है ? (यू० पी०, १९४१, १९४५)

१०. प्रजातांत्रिक राज्य में कार्यकारिणी के प्रधान कर्तव्य क्या हैं ? व्यवस्थापिका से उनका क्या सम्बन्ध है, इस पर प्रकाश डालिये।

११. अच्छे न्यायाधीश में कौन से गुण होने चाहिए ? उन विभिन्न तरीकों का वर्णन कीजिये जिनके अनुसार न्याय विभाग का संगठन होता है।

१२. वे आवश्यक अंग कौन-से हैं जिनके द्वारा आधुनिक शासन अपने कार्य सम्पादित करते हैं ? स्वतन्त्र न्याय विभाग की क्या आवश्यकता है ? (यू० पी०, १९४२, पंजाब १९५७,)

१३. व्यवस्थापिका सभा के प्रधान कार्यों का वर्णन कीजिए। (यू० पी०, १९४५, १९४६, १९४९)

१४. नागरिक स्वतन्त्रता के लिए स्वतन्त्र न्यायालय की क्या आवश्यकता है ? (यू० पी०, १९४५, पंजाब, १९५४)

१५. "एक ही व्यक्ति के हाथ में व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायालय सम्बन्धी शक्तियों का एकीकरण निरंकुश शासन की पूरी-पूरी परिभाषा है।" क्या इस सम्मति से आप सहमत हैं ? (यू० पी०, १९५०)

१६. आधुनिक राज्य में अधिकारी वर्ग (Executive) के प्रमुख कर्तव्य क्या हैं ? निर्वाचक मंडल (Electorate) के प्रति इसके उत्तरदायित्व का निर्वाह किस प्रकार किया जाता है ? (यू० पी०, १९५३, पंजाब, १९५३)

१७. आधुनिक राज्य में स्वतंत्र न्यायपालिका का क्या महत्व है ? समझाइये। (यू० पी०, १९५४; पंजाब, १९५२, १९५६)

१८. "निष्पक्ष और स्वतंत्र न्यायालय जनता के अधिकारों और उसकी स्वतन्त्रता

का दुर्ग है।" इस कथन के आधार पर सिद्ध कीजिए कि स्वतन्त्र राष्ट्र में स्वतन्त्र न्यायालय का बहुत महत्त्व है। (यू० पी०, १९५६).

१९. जहाँ विधान-मंडल में दो भवन होते हैं, वहाँ फूट, कलह, विरोध और विभेद अनिवार्य हैं। इस कथन के आधार पर द्विआगारिक विधान मंडल के गुण व दोषों को समझाइये। (यू० पी०, १९५६)

२०. शक्ति का एक स्थान पर केन्द्रित होने का परिणाम निरंकुशता हो सकती है। इसलिए व्यक्ति की स्वतन्त्रता को संरक्षित रखने के लिए शक्ति विभाजन आवश्यक है। इस कथन की सत्यता सिद्ध कीजिये। (यू० पी०, १९५७; पंजाब, १९५०)

२१. राज्य के तीनों अंगों के सुचारु रूप से कर्तव्य पालन के लिए यह आवश्यक है कि उन लोगों में जो इन तीनों अंगों का कार्य संचालन करते हैं अलग-अलग प्रकार के गुण और स्वभाव हों। इस कथन की सत्यता सिद्ध करते हुए बताइये कि अधिकार-विभाजन न्याय-संगत है और क्यों? (यू० पी०, १९५८)

अध्याय १८

प्रजातन्त्र शासन की व्यवस्था

(Organisation of Democracy)

§ १. मताधिकार का प्रश्न (Problem of Franchise)

प्रजातन्त्र राज्य का अर्थ समझ लेने के पश्चात् यह जान लेना बहुत आवश्यक है कि इस प्रकार के राज्य में सर्वसाधारण के प्रतिनिधि किस प्रकार चुने जाते हैं। आधुनिक राज्यों का आकार बहुत विस्तृत होता है और उनके लाखों निवासियों के लिए अपने देश के शासन में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेना अथवा राज्य की नीति को निर्धारित करना प्राय असम्भव होता है। इसलिए जनता को अप्रत्यक्ष रूप से शासन-कार्य में भाग लेने का अवसर प्रदान करने के लिए प्रतिनिधि-प्रथा की शरण ली जाती है। इस अध्याय में हम देखेंगे कि प्रतिनिधियों का निर्वाचन किस प्रकार होता है, उन्हें कौन निर्वाचित करता है और निर्वाचन में किन पद्धतियों को प्रयोग में लाया जाता है।

आम चुनाव (General Election)

जब किसी देश की जनता अपने राज्य की कानून बनाने वाली संस्था के लिए प्रतिनिधि चुनने के कार्य में भाग लेती है तो यह क्रिया **आम चुनाव** कहलाती है। चुनने का कार्य **मतदान** कहलाता है। जो नागरिक अपनी राय से विधान सभा के सदस्यों को चुनते हैं वह **मतदाता** या चुननेवाले कहलाते हैं। चुनने वालों का सम्पूर्ण समुदाय **निर्वाचकगण** **(Electorate)** कहलाता है। जब किसी विधान सभा के किसी सदस्य की मृत्यु हो जाती है या वह त्याग-पत्र दे देता है या उसका चुनाव अवैध घोषित कर दिया जाता है, तब उसके रिक्त स्थान को पूरा करने के लिए जो चुनाव होता है वह उप-चुनाव (Bye-Election) कहलाता है।

सर्वमताधिकार (Universal Franchise)

मत देने का अधिकार किसी राज्य में सारी जनता को भी मिल सकता है और कुछ थोड़े से चुने हुए लोगों को भी। जिस देश में सारी बालिग जनता को मत देने का अधिकार होता है, तथा जहाँ लिंग (Sex), वर्ण, जाति, सिद्धान्त या स्थिति पर ध्यान नहीं दिया जाता, उस देश में सर्वमताधिकार की अवस्था मानी जाती है। जिस देश में केवल बालिग (वयस्क) पुरुषों को ही मत देने का अधिकार प्राप्त होता है, स्त्रियों को नहीं, उस देश में कहा जाता है सर्वमताधिकार नहीं है, केवल पुरुष मताधिकार ही है। ऐसा कोई देश नहीं है जिसमें केवल महिलाओं को ही मताधिकार प्राप्त हो।

मताधिकार का स्वभाव (Nature of the Right to suffrage)—मत अथवा निर्वाचन का अधिकार, प्रत्येक मनुष्य का स्वाभाविक अधिकार है। कारण राज्य की संप्रभुता प्रजा पर निर्भर करती है और उसका प्रयोग मताधिकार द्वारा किया जाता है।

परन्तु यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि मताधिकार केवल अधिकार ही नहीं, वरन् एक कर्तव्य भी है। मत के उचित उपयोग पर ही जनता का कल्याण निर्भर है। हमें अपने मत का प्रयोग स्वार्थसिद्धि अथवा किसी वर्ग-हित की भावना से नहीं करना चाहिए। मत देने का अधिकार एक पावन थाती है जिसे राष्ट्र मनुष्य को इसलिए प्रदान करता है कि वह इस अधिकार के उचित उपयोग द्वारा जनता की भलाई कर सके। इसे बड़ी सावधानी, विचार तथा ईमानदारी के साथ अमल में लाना चाहिए। इसलिए केवल ऐसे मनुष्यों को मत देने का अधिकार दिया जाना चाहिए जो अपने कर्तव्यों का उचित रूप से पालन कर सकें।

मतदाताओं की योग्यता (Qualifications of voters)—आजकल प्रायः सभी प्रजातंत्रवादी देशों में सर्वमताधिकार का अधिकार स्वीकार कर लिया गया है। परन्तु अभी भी कुछ ऐसे राज्य हैं जैसे स्विट्जरलैंड, मध्यपूर्व के देश इत्यादि जहाँ स्त्रियों को मत देने का अधिकार प्रदान नहीं किया जाता। सर्वमताधिकार का तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिए कि मत देने का अधिकार राज्य के सभी छोटे-बड़े, बालिग-नाबालिग लोगों को प्राप्त होता है और उनकी आयु, आचरण तथा कार्य का विचार नहीं किया जाता। सब राज्यों में ऐसे बहुत-से मनुष्य होते हैं जिनको मताधिकार से इसलिए वंचित रखा जाता है है कि वे इस अधिकार को प्रयोग में लाने के अयोग्य समझे जाते हैं। पागलों को किसी भी देश में यह अधिकार नहीं दिया जाता; क्योंकि यह लोग अपनी अथवा समाज की भलाई का निर्णय नहीं कर सकते। इसी प्रकार नाबालिगों को भी यह अधिकार नहीं दिया जाता; क्योंकि बाल्यावस्था में मनुष्य की ज्ञानशक्ति पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो पाती। संगीन जुर्मों में दंड पाये हुए लोगों को तथा चुनाव में अनुचित उपायों को काम में लानेवाले व्यक्तियों को भी मत देने के अधिकार से वंचित रखा जाता है। कुछ राज्यों में भिखमंगों, दिवालियों और बेघर-द्वारवाले इधर-उधर घूमनेवाले लोगों को मत देने का अधिकार नहीं दिया जाता, क्योंकि उनमें परावलम्बन की प्रवृत्तियाँ रहती हैं। किसी-किसी राज्य में राज्य कर्मचारियों या सैनिक अथवा चुनाव के प्रबन्ध से सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्तियों को भी इस अधिकार से वंचित रखा जाता है।

जिन देशों में प्रजातांत्रिक संगठनों का पूर्ण विकास नहीं हुआ है वहाँ ऐसे लोगों को भी जो टैक्स नहीं देते अथवा जिनके पास कम सम्पत्ति होती है, मताधिकार नहीं दिया जाता। इसके अतिरिक्त अनागरिकों को किसी भी राज्य में मताधिकार नहीं दिया जाता।

वयस्क मताधिकार के लाभ (Merits of Adult Franchise)—आजकल संसार के सभी प्रजातंत्र देशों में बालिग व्यक्तियों को मत देने का अधिकार दिया जाता है। इसके अनेक कारण हैं :—

(१) सभी वयस्कों को मताधिकार मिलने से देश में एकता की भावना जागृत होती है। इससे उनके व्यक्तित्व के विकास के लिए अवसर मिलता है।

(२) नागरिक अधिकारों की रक्षा के लिए राजनीतिक अधिकारों का उपयोग अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए मत देने का अधिकार राज्य के सभी नागरिकों को मिलना चाहिए जिससे वह राज्य के निर्णय को प्रभावित कर अपने अधिकारों की रक्षा कर सकें। राज्य के कानूनों का सारी जनता की भलाई पर ही प्रभाव पड़ता है, इसलिए सबको उसकी नीति निर्धारित करने में भाग लेना चाहिए।

(३) चुनाव राजनीतिक जागृति उत्पन्न करने तथा सर्वसाधारण में राजनीतिक शिक्षा फैलाने के लिए उत्तम उपाय है। चुनाव लड़ने वाले दल मतदाताओं के सम्मुख विभिन्न राजनीतिक कार्यक्रम उपस्थित करके उनको शिक्षित बनाते हैं तथा उनमें राजनीतिक जागृति पैदा करते हैं।

(४) *मताधिकार से मतदाताओं का स्वाभिमान बढ़ता है। जब शासन के बड़े-बड़े* व्यक्ति उनके पास मत माँगने के लिए पहुँचते हैं तो वह अपना महत्त्व समझते हैं।

(५) इससे राष्ट्र की शक्ति और एकता की वृद्धि होती है क्योंकि मताधिकार-प्राप्त मनुष्य अपने राज्य के प्रति भक्ति तथा श्रद्धा का अधिक प्रदर्शन करता है तथा राज्य की आज्ञाओं को अपनी ही आज्ञा समझ उसका पालन करता है।

(६) चुनाव में निर्वाचकों की संख्या अधिक होने के कारण चुनाव सम्बन्धी भ्रष्टाचार की सम्भावना कम हो जाती है।

(७) मताधिकार से अल्पसंख्यक लोगों को अपने अधिकारों की रक्षा करने का अवसर प्राप्त होता है।

हानियाँ (Defects) सर्वमताधिकार से कुछ हानियाँ भी होती हैं, जो इस प्रकार हैं :—

(१) अधिकतर मतदाता अशिक्षित और मूर्ख होते हैं। वह चुनाव में राय देते समय उम्मीदवार की जाति, सिद्धान्त, धर्म या पारिवारिक बन्धनों के विचारों से अधिक प्रभावित होते हैं। वह उनकी योग्यता की परख ठीक प्रकार नहीं कर सकते। इस प्रकार उनके मत के अनुचित उपयोग से राजनीति का क्षेत्र दूषित हो जाता है।

(२) अधिकांश मतदाता निर्धन होते हैं। इसलिए थोड़े से धन के लोभ में वह अपने मत को मालदार उम्मीदवार के हाथ बेच देते हैं।

(३) वर्तमान काल में शासन-सम्बन्धी प्रश्न अधिकाधिक जटिल होते जा रहे हैं। उन्हें साधारण मतदाता आसानी से नहीं समझ सकते। निर्धन व्यक्ति को अपने पेट के धन्धे से इतना अवकाश नहीं मिलता कि वह राजनीतिक प्रश्नों को समझने के लिए समय निकाल सके। इसलिए सर्वमताधिकार से शासन का स्तर गिर जाता है।

(४) मताधिकार, जैसा हम पहले कह चुके हैं, केवल अधिकार ही नहीं वरन् एक पावन कर्त्तव्य भी है। इसका प्रयोग बड़ी सावधानी, बुद्धिमत्ता तथा विचार के साथ किया जाना

चाहिए। इसलिए केवल उन्हीं मनुष्यों को मताधिकार प्राप्त होना चाहिए जो सार्वजनिक हित का निर्णय कर सकें।

निष्कर्ष—ऊपर जो युक्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं वे वही हैं जो प्रजातंत्र के विरुद्ध पेश की जाती हैं। इनका वर्णन राज्य के अध्याय में किया जा चुका है। थोड़ी देर के लिए यदि यह मान भी लिया जाय कि मताधिकार योग्यता की दृष्टि से दिया जाना चाहिए तो प्रश्न उठता है कि इस योग्यता की परीक्षा किस प्रकार की जाय ? कुछ लोगों का कथन है कि केवल उन्हीं मनुष्यों को मताधिकार प्रदान करना चाहिए जो सम्पत्ति के मालिक हों और कर देते हों। अन्यान्य लोगों का विचार है कि केवल पुरुषों को ही मताधिकार दिया जाना चाहिए, स्त्रियों को नहीं। इनके अतिरिक्त कुछ दूसरे लेखकों की धारणा है कि केवल शिक्षित लोगों को ही मताधिकार दिया जाना चाहिए, मूर्खों को नहीं। इसलिए हम सर्वप्रथम इन धारणाओं पर विचार करेंगे।

सम्पत्ति की योग्यता पर निर्धारित मताधिकार (Franchise based on property qualifications)

मत के पक्ष में दलीलें—(१) जो लोग सम्पत्ति के मालिक होते हैं उन्हें समाज की व्यवस्था तथा शान्ति की अधिक चिन्ता होती है, क्योंकि अराजकता फैलने से उनको ही सबसे अधिक हानि उठानी पड़ती है। जिन लोगों के पास अशान्ति से कुछ भी नष्ट होने के लिए नहीं है, उन्हें समाज की व्यवस्था की अधिक परवाह नहीं होती; इसलिए राजनीतिक जीवन को अच्छा बनाने के लिए यह आवश्यक है कि केवल सम्पत्ति की योग्यता रखने वाले लोगों को ही राजनीतिक अधिकार प्रदान किये जायँ।

(२) जे० एस० मिल (J. S. Mill) के कथनानुसार मताधिकार केवल उन मनुष्यों को मिलना चाहिए जो सरकार को किसी न किसी प्रकार से प्रत्यक्ष रूप में कर देते हों। ऐसे लोगों को जो किसी भी प्रकार का कर नहीं देते, राज्य में राजनीतिक अधिकार नहीं दिये जाने चाहिए क्योंकि वह राज्य का कार्य चलाने में मितव्ययिता से काम नहीं लेते।

मत के विरुद्ध दलीलें—(१) सम्पत्ति मनुष्य की योग्यता की कसौटी नहीं है। प्रायः धनवान् मनुष्य बहुत बुद्धिमान् नहीं होते और इसलिए उन्हें मताधिकार का कोई विशेष अधिकार नहीं दिया जाना चाहिए।

(२) अधिकांश परिस्थितियों में संपत्ति वंशपरम्परागत अधिकार अथवा बेईमानी, धोखा तथा झूठ बोलकर प्राप्त की जाती है। ऐसे लोगों को मताधिकार प्रदान करना और उन दूसरे लोगों को इससे वंचित रखना, जो बेईमान पूँजीपतियों के चंगुल में फँसकर निर्धनता का शिकार बन जाते हैं, घोर अन्याय है।

(३) कर देने की क्षमता अधिकतर पूँजीपतियों में ही होती है। इसलिए कर को मत देने की कसौटी बनाना उतना ही अन्यायपूर्ण है जितना केवल मालदार लोगों को मत देने का अधिकार प्रदान करना।

निष्कर्ष—प्रत्येक राज्य का उद्देश्य समाज में शान्ति, व्यवस्था तथा सुरक्षा कायम करना

है, जिससे प्रत्येक मनुष्य अपने व्यक्तित्व का सर्वोच्च विकास कर सके। अतः प्रत्येक व्यक्ति को शान्ति और उन्नतिशील व्यवस्था की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि उसके साथ रहने वाले अन्यान्य व्यक्तियों को। अतः आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य को राजनीतिक अधिकार प्राप्त होना चाहिए।

शिक्षा सम्बन्धी योग्यता पर निर्धारित मताधिकार (Franchise based on Educational Qualifications)

मत के पक्ष में युक्तियाँ—(१) मत देने का अधिकार केवल शिक्षित मनुष्यों को ही होना चाहिए जिससे शासन का कार्य बुद्धिमानी से चलाया जा सके। यदि अशिक्षित लोगों को यह अधिकार दिया गया तो शासन की नीति मूर्खों और दुष्टों के हाथ में रहेगी और शासकों का चुनाव ठीक प्रकार से न किया जा सकेगा।

(२) अशिक्षित पुरुष प्रायः स्वभाव से ही भावुक होते हैं। वे बुद्धि से काम नहीं लेते।

(३) आधुनिक राज्य के प्रश्न इतने पेचीदा हैं कि उन्हें अशिक्षित और मूर्ख मतदाता आसानी से नहीं समझ सकता। इसी कारण जे० एस० मिल ने इस बात पर जोर दिया था कि सर्वमताधिकार का अधिकार देने से पहले जनता को सर्वशिक्षा दी जानी आवश्यक है।

मत के विरुद्ध दलीलें—(१) यद्यपि यह बात सच है कि मताधिकार के उचित प्रयोग के लिए विशेष सीमा तक शिक्षा की आवश्यकता है, परन्तु व्यावहारिक रूप से यह निश्चित करना बहुत कठिन है कि शिक्षित किस मनुष्य को कहा जाय। क्या एम० ए० अथवा बी० ए० अथवा मैट्रिक अथवा मिडिल पास लोगों को शिक्षित समझना चाहिए? केवल लिखना-पढ़ना शिक्षा नहीं है। यह केवल उसकी नींव है। राज्य के राजनीतिक प्रश्नों को मामूली तौर पर समझ लेने की योग्यता, साधारण बुद्धि रखनेवाले अशिक्षित लोगों में भी हो सकती है।

(२) परीक्षा की उपाधियाँ मनुष्य की बुद्धिमत्ता या योग्यता की कोई कसौटी नहीं। कभी-कभी, अकबर के समान अशिक्षित और अपढ़ लोग, विश्वविद्यालय की सर्वोच्च उपाधि-प्राप्त पुरुषों की अपेक्षा अधिक निपुण शासक और राजनीतिज्ञ सिद्ध हो सकते हैं?

(३) राजनीतिक अधिकार नागरिक अधिकारों की रक्षा तथा व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक हैं। यदि अशिक्षित मनुष्यों को यह अधिकार नहीं दिया जाता तो वे अपने व्यक्तित्व की उन्नति नहीं कर सकते।

(४) मत के अधिकार का प्रयोग करना ही राजनीतिक शिक्षा का एक प्रधान साधन है और इससे राजनीतिक जागृति उत्पन्न होती है। इसलिए अशिक्षित लोगों को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करने के लिये मताधिकार देना नितान्त आवश्यक है।

निष्कर्ष—दोनों ओर की युक्तियों पर ध्यान देने से मालूम पड़ता है कि वास्तव में ऐसे सभी नागरिकों को, जिनमें साधारण बुद्धि हो तथा जो राजनीतिक प्रश्नों पर विचार करने की साधारण क्षमता रखते हों, राजनीतिक अधिकार मिलने चाहिए।

महिला मताधिकार (Women Suffrage)

मत के विरुद्ध युक्तियाँ (Arguments Against)–(१) स्त्रियाँ शारीरिक शक्ति में पुरुषों की अपेक्षा दुर्बल होती हैं, वह पुरुषों के समान राज्य की सेवा नहीं कर सकतीं। इसलिए उन्हें पुरुषों के समान मत देने का अधिकार नहीं दिया जाना चाहिए।

(२) किसी विशेष उम्मीदवार को मत देने के सम्बन्ध में पति और पत्नी के बीच अथवा माता और सन्तान के बीच मतभेद हो जाने का डर रहता है और इससे गार्हस्थ जीवन की शान्ति भंग होने की संभावना रहती है।

(३) महिलाओं का उचित कार्यक्षेत्र घर है। उनका मुख्य काम संतान का पालन-पोषण करना तथा अन्य घरेलू कार्यों की देख-भाल करना है। यदि वे राजनीतिक कार्यों में भाग लेने लगेंगी तो अपनी सन्तान का उचित पालन-पोषण न कर सकेंगी, और इस प्रकार मानव जाति का पतन होगा।

(४) मताधिकार द्वारा स्त्री-जाति के विशेष गुणों, जैसे लज्जाशीलता, कोमलता इत्यादि का नाश हो जाता है। राजनीतिक जीवन काँटों से भरा मार्ग है, जिस पर एक कोमलांगी स्त्री पदार्पण नहीं कर सकती।

मत के पक्ष में युक्तियां (Arguments in favour)—(१) शारीरिक दुर्बलता से स्त्रियों के मानसिक और नैतिक गुणों का अपहरण नहीं होता और मत की योग्यता निश्चित करने के लिए यही गुण सच्ची कसौटी समझे जाते हैं, इसलिए शारीरिक दुर्बलता का बहाना लेकर स्त्रियों को मताधिकार से वंचित नहीं करना चाहिए।

(२) किसी भी मनुष्य को राजनीतिक अधिकारों के प्रयोग के अयोग्य सिद्ध करने के लिए आवश्यक है कि उसके मस्तिष्क या बुद्धि में कोई त्रुटि सिद्ध की जाय। स्त्रियों में पुरुषों के समान ही बुद्धि होती है। उनका अपना अलग व्यक्तित्व होता है जिसका विकास उतना ही आवश्यक है जितना पुरुष का। व्यक्तित्व के विकास के लिए राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति नितान्त आवश्यक है। इसलिए पुरुष और स्त्री दोनों को ही समान राजनीतिक अधिकार प्रदान होने चाहिए।

(३) राजनीतिक अधिकार एक साधन है जिसके द्वारा अन्य अधिकारों की रक्षा की जा सकती है। इसलिए स्त्रियों को अपने नागरिक अधिकारों की रक्षा के लिए राजनीतिक अधिकार अवश्य प्रदान किये जाने चाहिए। इन्हीं अधिकारों के द्वारा वे समाज में अपना उत्थान कर सकती हैं तथा पुरुषों के अन्याय और शोषण से छुटकारा पा सकती हैं।

(४) स्त्रियों के प्रभाव से राज्य के राजनीतिक जीवन में माधुर्य आ जाता है। स्त्रियां अपने प्रेम और सहानुभूति की भावना से युद्ध और संघर्ष को मिटाकर एक उच्च नागरिक जीवन की स्थापना कर सकती हैं।

निष्कर्ष—आधुनिक समय में अधिकतर मनुष्यों की यही धारणा है कि सभी मनुष्यों को, चाहे वे पुरुष हों अथवा स्त्री, मताधिकार दिया जाना चाहिए। दुनिया के प्रायः सभी सभ्य देशों में अब स्त्रियों को पुरुषों के समान ही राजनीतिक अधिकार प्रदान किये जाते हैं।

भारतवर्ष के भी नये संविधान के अधीन स्त्रियों को पुरुषों के समान ही मत देने का अधिकार दे दिया गया है।

चुनाव के सम्बन्ध में कुछ जानने योग्य बातें

प्रतिनिधियों के चुनाव के लिए सारा देश कुछ क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक क्षेत्र से एक या एक से अधिक प्रतिनिधि सभा के लिए चुने जाते हैं इन क्षेत्रों को निर्वाचन क्षेत्र (Constituency) कहा जाता है। जिस क्षेत्र से एक सदस्य चुना जाता है उसे एक सदस्य निर्वाचन क्षेत्र (Single member constituency) और जिस क्षेत्र से दो या दो से अधिक सदस्य चुने जाते हैं, वह बहुसख्यक निर्वाचन क्षेत्र (Multi-member constituency) कहा जाता है। जिस स्थान पर चुनाव होता है उसे चुनाव स्थान (Polling station) कहते हैं। जो अफसर चुनाव की देखभाल करता है उसे चुनाव अधिकारी या (Returning Officer) कहा जाता है। जिस कागज पर लिखकर मतदाता अपनी राय देते हैं उसे मत-पत्र (Ballot Paper) कहा जाता है। चुनाव में राय देने के दो तरीके काम में लाये जाते हैं—एक यह कि एक मतपत्र छपवा लिया जाय जिस पर उन सभी उम्मीदवारों के नाम लिखे होते हैं जो चुनाव मे खडे होते हैं। उम्मीदवारो में से जिसको भी चाहे, मतदाता राय दे सकता है। राय देने का तरीका यह होता है कि जिस व्यक्ति को भी राय देनी हो उसके नाम के आगे गुणन (×) चिह्न लगा दिया जाता है। ऐसा चिह्न लगाते समय मतदाता को कोई नही देखता। वह बिना डर के जिसे भी चाहे, अपनी राय दे सकता है। चिह्न लगाने के पश्चात् मतदाता स्वय मतपत्र को मोडकर चुनाव की पेटी में डाल देता है। मत देने की यह प्रथा गुप्त मत प्रदान प्रथा (Secret Ballot Voting) कहलाती है। राय देते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि चिह्न गलत न लगाया जाय, 'मतपत्र' पर मतदाता अपना नाम न लिखे, जितने चिह्न लगाने चाहिए उससे अधिक न लगाये, अन्यथा राय बेकार हो जाती है और वह रद्दी की टोकरी में डाल दी जाती है। दूसरा तरीका यह है कि अलग-अलग उम्मीदवारो के लिए अलग-अलग रग अथवा चिह्न की पेटियाँ निश्चित होती हैं। मतदाता जिस उम्मीदवार के पक्ष में राय देना चाहता है उसी की पेटी में अपने मतपत्र को डाल देता है। यह प्रथा अशिक्षित मतदाताओं की सुविधा के लिए काम में लाई जाती है।

चुनावों के समय इस बात का ध्यान रखा जाता है कि मतदाताओं के साथ किसी प्रकार की जबर्दस्ती न की जाय, उन्हें डराया या धमकाया न जाय, उन्हें किसी प्रकार का लोभ व लालच दिखाकर उनकी राय न मांगी जाय। ऐसा करने से सारा चुनाव रद्द हो सकता है। चुनाव के समय कोई व्यक्ति दूसरे के नाम से भी राय नही डाल सकता। परन्तु व्यवहार में अक्सर देखा जाता है कि लोग मृत पुरुषों के नाम से भी राय डाल देते हैं। मतदाताओं की शिनाख्त के लिए चुनाव के स्थान पर प्रत्येक उम्मीदवार की ओर से उसका एक प्रतिनिधि (Election Agent) रहता है, जिसे इस बात का अधिकार होता है कि यदि वह समझे कि कोई आदमी गलत नाम से राय डालना चाहता है तो वह चुनाव अधिकारी के ध्यान

में उस बात को ला दे। यदि बात सच हुई तो ऐसा आदमी गिरफ्तार कर लिया जाता है। चुनाव हो जाने के पश्चात् भी ऐसी बातों पर एतराज उठाया जा सकता है। इस प्रकार के एतराज को चुनाव-याचिका (Election Petition) कहा जाता है।

§ २. निर्वाचन के तरीके (Methods of Election)

निर्वाचन-क्षेत्रों से प्रतिनिधि चुने जाने के कई तरीके हैं। इनमें से एक तरीके को "एक सदस्य निर्वाचन-क्षेत्र प्रथा" (Single Member Constituency System), और दूसरे को "बहुसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र प्रथा" (Multimember Constituency System) कहा जाता है।

एक सदस्य निर्वाचन-क्षेत्र प्रथा—चुनाव की यह व्यवस्था सबसे अधिक लोकप्रिय एवं प्रचलित है। इस व्यवस्था के अधीन सम्पूर्ण देश छोटे-छोटे चुनाव-क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक क्षेत्र से व्यवस्थापिका सभा के लिए एक सदस्य चुना जाता है। इस प्रथा में प्रत्येक मतदाता को केवल एक वोट देने का अधिकार होता है। चुनाव में बहुत-से उम्मीदवार अपने कार्यक्रम के बल पर, जनता से अपने लिए राय माँगते हैं। जिस उम्मीदवार को चुनाव में सबसे अधिक राय मिलती है उसे निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है।

बहुसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र प्रथा—चुनाव की इस व्यवस्था के अधीन सारा देश कुछ थोड़े से बड़े-बड़े निर्वाचन-क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक चुनाव-क्षेत्र से एक से अधिक सदस्य विधान सभा के लिए चुने जाते हैं। चुनाव में बहुत से उम्मीदवार भाग लेते हैं। इस प्रथा के अन्तर्गत मतदाताओं को उतने ही वोट देने का अधिकार होता है जितने सदस्य उस क्षेत्र से चुने जाते हैं। उदाहरणार्थ यदि किसी निर्वाचन-क्षेत्र से तीन सदस्य चुनने हैं तो प्रत्येक मतदाता तीन वोट दे सकता है। यह मत वह किन्हीं तीन उम्मीदवारों के पक्ष में दे सकता है; परन्तु तीनों या एक से अधिक मत एक उम्मीदवार के पक्ष में नहीं। जिन तीन उम्मीदवारों को सबसे अधिक मत मिलते हैं, उन्हें निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है।

उपर्युक्त प्रथाओं से लाभ तथा हानि

आधुनिक काल में उपर्युक्त दोनों प्रथाएँ विधान सभा के चुनाव में काम में लाई जाती हैं। इन प्रथाओं का सबसे बड़ा गुण यह है—(१) ये बहुत सरल हैं। कोई भी मनुष्य इन्हें आसानी से समझकर अपनी राय दे सकता है। (२) इन प्रथाओं के अधीन प्रतिनिधि तथा उसके निर्वाचकों में घनिष्ठ सम्बन्ध कायम रहता है। (३) इन प्रथाओं के अधीन अल्पसंख्यक जातियों को आसानी से प्रतिनिधित्व मिल सकता है। निर्वाचन-क्षेत्रों का बँटवारा इस प्रकार किया जाता है कि यदि कुछ क्षेत्रों में बहुसंख्यक जाति के निर्वाचक अधिक होते हैं, तो दूसरे क्षेत्रों में अल्पसंख्यक जातियों के।

इन प्रथाओं से कुछ हानियाँ भी हैं, जैसे—(१) बहुसदस्य निर्वाचन क्षेत्रों में प्रतिनिधि और उनके निर्वाचकों का घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं रह सकता। यह क्षेत्र इतने बड़े होते हैं कि एक प्रतिनिधि के लिए यह संभव नहीं कि वह अपने सारे निर्वाचकों से सम्पर्क बनाये रख

सके। (२) इन प्रथाओं के अधीन मतों की एक बहुत बड़ी संख्या बेकार चली जाती है। नीचे के उदाहरण से हमारा यह मत बिल्कुल स्पष्ट हो जायगा।

मान लीजिए, एक निर्वाचन क्षेत्र में १००० मतदाता है और उस क्षेत्र से केवल एक उम्मीदवार निर्वाचित होना है। अब मान लीजिए कि इस क्षेत्र से ५ उम्मीदवार 'अ', 'ब', 'स', 'द', और 'य' खड़े होते हैं। राय गिनने पर मालूम पड़ता है कि 'अ' को ३०० मत, 'ब' को २५० मत, 'स' को २०० मत, 'द' को १५० मत और 'य' को १०० मत मिलते हैं। ऐसी अवस्था में 'अ' को सफल उम्मीदवार घोषित कर दिया जायगा यद्यपि उसे १००० में से केवल ३०० मत ही प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार ७०० राय बेकार चली जाती है और इन राय देनेवालों को किसी प्रकार का भी प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं होता।

(३) इन प्रथाओं के अधीन जिन अधिकारियों के हाथ में निर्वाचन-क्षेत्र बनाने का अधिकार प्राप्त होता है, बहुत अधिक ताकत आ जाती है। यह लोग यदि चाहें तो अल्प-संख्यक जातियों के प्रतिनिधित्व को बिल्कुल समाप्त कर सकते हैं। अंग्रेजी में इस पद्धति को *Gerrymandering* कहा जाता है।

§ ३. अल्पसंख्यक जातियों के प्रतिनिधित्व का प्रश्न

हम ऊपर देख चुके हैं कि "एक तथा बहुसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र प्रथा" के अधीन अल्प-संख्यक जातियों को देश की विधान सभा में उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाता। यह प्रतिनिधित्व अल्पसंख्यक जातियों के धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक अधिकारों एवं हितों की रक्षा के लिए आवश्यक है। प्रत्येक देश की विधान-सभा को उसकी जनता का सच्चा प्रतिनिधित्व करना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि राज्य के अन्तर्गत रहनेवाले सभी दलों, जातियों एवं हितों को, उनकी गणना के हिसाब से, प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाय।

अल्पसंख्यक जातियों एवं हितों को वर्तमान राज्यों में प्रतिनिधित्व देने के अनेक उपाय काम में लाये जाते हैं। इन उपायों में निम्नलिखित अधिक प्रसिद्ध हैं :—

१. आनुपातिक निर्वाचन प्रथा (Proportional Representation or Hare's Plan)

२. सूची-प्रथा या दलों के आधार पर आनुपातिक निर्वाचन-प्रथा (*General List System*)

३. सीमित मत-प्रथा (Limited Vote System)

४. एकत्रित मतदान-प्रथा (Cumulative Vote System)

५. पृथक् निर्वाचन-प्रथा (Separate Electorate System)

६. सुरक्षित स्थान-युक्त संयुक्त निर्वाचन-प्रणाली (Joint Electorate with Reservation of Seats)

अब हम इन प्रथाओं का अलग-अलग विस्तार से उल्लेख करेंगे।

आनुपातिक निर्वाचन-प्रथा

(Proportional Representation System)

इस प्रथा का सर्वप्रथम प्रवर्तक इंगलैंड का एक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ टामस हेयर (Thomas Hare) था। इस कारण से ही इस प्रथा को Hare's Scheme भी कहा जाता है। इस प्रथा का सर्वप्रथम प्रयोग डेनमार्क में किया गया था। आजकल यह प्रथा अत्यन्त लोकप्रिय हो गई है और किसी न किसी रूप में इसका प्रयोग प्रायः प्रत्येक देश म ही किया जाता है। इस प्रथा के अधीन देश को बहुसंख्याधारी निर्वाचन-क्षेत्रों में विभाजित किया जाता है। प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र से कम से कम तीन प्रतिनिधि चुने जाते हैं, परन्तु मतदाताओं को केवल एक ही मत देने का अधिकार दिया जाता है।

इस चुनाव-प्रणाली का विस्तृत वर्णन इस प्रकार है। मान लीजिए, किसी एक क्षेत्र से ५ सदस्य चुने जाते हैं। इस क्षेत्र में जितने चाहे उम्मीदवार खड़े हो सकते हैं। परन्तु प्रत्येक मतदाता को केवल एक ही राय देने का अधिकार होगा। हाँ, एक बात अवश्य है कि मतदाता राय देते समय मत-पत्र पर, उम्मीदवारों के नामों के सामने १, २, ३, ४, ५, इत्यादि संख्या लिख सकता है। इन संख्याओं के लिखने का अर्थ यह होता है कि मतदाता सबसे अधिक उस उम्मीदवार को चाहता है जिसके नाम के सामने वह (१) का अंक लिखता है परन्तु मतदाता दूसरे नामों के सामने (२) (३) (४) इत्यादि अंक लिखकर यह प्रदर्शित करता है कि यदि उसका (१) नम्बरवाला उम्मीदवार न चुना जा सके या उसे आवश्यकता से अधिक राय मिल गई हैं, तो उसका मत उस उम्मीदवार के नाम में परिवर्तित कर दिया जाय जिसके नाम के सामने उसने (२) लिखा है और यदि उसको भी इस मत की आवश्यकता नहीं तो वह मत उस उम्मीदवार के नाम में बदल दिया जाय जिसके सामने उसने (३) लिखा है, आदि। वोट पड़ चुकने के बाद अशुद्ध वोट छाँटकर अलग कर दिये जाते हैं और शुद्ध वोटों की संख्या गिन ली जाती है। इस संख्या को चुने जानेवाले सदस्यों की संख्या में १ जोड़कर उससे विभाजित करते हैं; भागफल 'चुनाव अंक' (Electoral Quota) कहलाता है। यदि भागफल पूर्ण संख्या न हो तो उसे पूरी कर लेते हैं जैसे ५० + १/८ को ५१ मान लेते हैं। इसके बाद प्रत्येक उम्मीदवार के सर्वप्रथम चुनाव (First Choice) वाले मत छाँट लिये जाते हैं। जिस उम्मीदवार को 'चुनाव-अंक' के बराबर वोट मिल जाते हैं उसे निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है। अब यदि किसी उम्मीदवार के पक्ष में प्रथम चुनाव वाले 'चुनाव अंक' से अधिक वोट मिले हों तो उसके फाजिल वोट ऊपर लिखी हुई (२) संख्या के अनुसार बाकी उम्मीदवारों के नाम बांट दिये जाते हैं। इसके बाद मत फिर गिने जाते हैं और अब यदि किसी के वोटों की संख्या चुनाव-अंक के बराबर आ गई है तो उसे भी निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है। यदि इस प्रकार उम्मीदवारों की निश्चित संख्या चुन ली जाती है तो ठीक है, अन्यथा ऐसा किया जाता है कि जिस उम्मीदवार को सबसे कम वोट मिलते हैं उसे असफल घोषित करके

उसके वोट (२) सख्या के अनुसार अन्य उम्मीदवारो में बाँट दिये जाते है। इस प्रकार जब तक उम्मीदवारो की निश्चित सख्या नही चुन ली जाती तब तक इसी क्रम को दोहराया जाता है। निम्नलिखित उदाहरण मे यह निर्वाचन-पद्धति बिल्कुल स्पष्ट हो जायगी।

मान लीजिए, किसी निर्वाचन-क्षेत्र से पाँच सदस्य चुने जाने है और उस क्षेत्र से ९ उम्मीदवार खडे होते हैं। अब यह भी मान लो कि इस क्षेत्र मे १२० मतदाताओ ने वोट दिये जिसमें से ४ अशुद्ध निकल आए, बाकी ११६ शुद्ध वोट पडे। अब सबसे पहले निर्वाचन अक निकाला गया जो कि $\frac{११६}{१+५}$ अर्थात् १९$\frac{२}{६}$ या २० हुआ। वोट जिस प्रकार आये वह अगले पृष्ठ पर दी गई तालिका में दिये गये है।

सबसे पहले प्रत्येक उम्मीदवार के प्रथम चुनाववाले वोट छाँटे गये। इस गणना का परिणाम उपर्युक्त तालिका की पहली पक्ति मे लिखा है। इसे देखने पर मालूम होता है कि केवल 'य' को निर्वाचन-अक से अधिक वोट मिले हैं। बाकी सभी वोट कम हैं। अब 'य' को तुरन्त निर्वाचित घोषित कर दिया गया, परन्तु अभी चार सदस्य चुनने शेष रहे। 'य' के बाकी १० फाजिल वोट न० (२) उम्मीदवारो के नाम बदल दिये गये। यहाँ प्रश्न उठता है कि 'य' के ३० वोटो से कौन-से १० परिवर्तित किये जायँ। इसके लिए दो तरीके काम में लाये जाते हैं—*या तो सब वोटो को एक ढेरी में खूब उलट-पुलट कर उसमें से कोई* १० वोट निकाल लिये जाते हैं या फिर सब वोटो में से पहला, तीसरा, पाँचवाँ इत्यादि वोट ले लिये जाते हैं। यही नियम आगे भी माना जाता है। 'य' के दस वोटो के परिवर्तन से जो परिणाम हुआ वह दूसरे पृष्ठ की तालिका की दूसरी पक्ति में लिखा है। जिनको इस परिवर्तन मे कुछ भी नही मिला उनके नाम के आगे यह चिह्न (×) लगा दिया गया है। पक्ति न० ३ में इस परिवर्तन का परिणाम दिया गया है, इसे देखने से मालूम पडता है कि 'व' जिसे १० वोट पहले मिल चुके थे उसे तीन और मिल गये, और इस प्रकार वह भी निर्वाचित हो गया। अब देखा गया कि फाजिल वोट किसी के नही रहे, इसलिए जिसके सबसे कम वोट थे, अर्थात् 'स' के दोनो वोट, दूसरे को दे दिये गये। उसका परिणाम पक्ति न० ५ मे दिया गया है। जब इससे भी कुछ लाभ न हुआ तो 'क' के ८ वोट दूसरो को बाँट दिये गये। इसका परिणाम पक्ति न० ७ में दिया गया है। इस परिवर्तन से भी किसी चुनाव का अक पूरा नही हुआ, इसलिए 'च' के वोट भी दूसरो को बाँट दिये गये। इससे 'अ' का चुनाव-अक पूरा हो गया और वह भी निर्वाचित घोषित कर दिया गया। परन्तु अभी भी २ सदस्य चुनने बाकी रह गए; इसलिये 'ह' के वोट भी दूसरो को बांट दिये गये। इसका फल यह हुआ कि 'ब' और 'ल' भी निर्वाचित हो गये। अब पाँचो सदस्य निर्वाचित हो गये और चुनाव समाप्त हो गया। कभी-कभी इन परिवर्तनो में ऐसा होता है कि परिवर्तित होनेवाले वोटो पर (२) ऐसे उम्मीदवारो के नाम के सामने लिखा होता है जो या तो निर्वाचित हो चुके है या असफल घोषित कर दिये गये हैं। इस दशा में यह वोट बेकार हो जाते है।

उपर्युक्त निर्वाचन-पद्धति का हमारे देश में भी प्रचार है। इसी पद्धति के अनुसार विधान परिषद, एव राज्य सभा के सदस्यों का चुनाव होता है।

उम्मीदवारों के नाम	प्रथम चुनाव-वाले वोटों की गणना	य के फाजिल वोटों का परिवर्तन	परिणाम	स के वोटों का परिवर्तन	परिणाम	क के वोटों का परिवर्तन	परिणाम	च के वोटों का परिवर्तन	परिणाम	ह के वोटों का परिवर्तन	अन्तिम परिणाम	
१ श	१२	+१	१३	+१	१४	×	१४	+६	२०	×	२०	निर्वाचित
२ ब	१३	+१	१४	×	१४	+५	१९	×	१९	+१	२०	निर्वाचित
३ स	२	×	२	—२	×	×	×	×	×	×	×	
४ द	१७	+३	२०	×	२०	×	२०	×	२०	×	२०	निर्वाचित
५ य	३०	—१०	२०	×	२०	×	२०	×	२०	×	२०	निर्वाचित
६ ह	१५	×	१५	×	१५	×	१५	+१	१६	—१६	×	
७ ल	१५	+१	१६	×	१६	+१	१७	+१	१८	+२	२०	निर्वाचित
८ क	४	+४	८	×	८	—८	×	×	×	×	×	
९ च	८	×	८	×	८	×	८	—८	×	×	×	
बेकार वोट	×	×	×	१	१	+२	३	×	३	+१३	१६	—
शुद्ध वोटों की कुल संख्या	१६	×	११६	×	११६	×	११६	×	११६	×	११६	—

* यह तालिका Hogg and Halet की Proportional Representation नामक पुस्तक से, जिसका उल्लेख महादेव प्रसाद शर्मा ने अपनी पुस्तक Elements of Civics में किया है, ली गयी है।

प्रथा से लाभ तथा हानि

लाभ—(१) इस प्रथा के अन्तर्गत सब दलों को विधान सभा में आनुपातिक प्रतिनिधित्व मिलता है। (२) कोई भी मत व्यर्थ नहीं जाता। (३) राष्ट्रीय ख्याति के व्यक्ति पहले चुने जाते है और इससे विधान सभा का धरातल ऊँचा उठ जाता है। (४) इससे राज्यीय विधान सभा में किसी एक पार्टी का आधिपत्य नहीं रहता।

हानि—(१) यह बड़ी पेचीदी प्रथा है और सर्वसाधारण की समझ से बाहर है। (२) यह धारा-सभा में बहुत से अल्पमत दलों के प्रतिनिधित्व को प्रोत्साहन देती है जिससे सरकार अस्थायी हो जाती है। (३) यह बहुमत दल को इस बात का अधिकार प्रदान नहीं करती कि वह छोटे दलों के सदस्यों को अपनी ओर मिला सकें, (४) यह प्रथा उपचुनाव के समय लागू नहीं हो सकती।

सूची-प्रथा (List System)

इस प्रथा के अनुसार सारा देश एक ही निर्वाचन-क्षेत्र माना जाता है। देश के चुनाव व्यक्तिगत रूप से नहीं, वरन् दलबन्दी के आधार पर लड़े जाते हैं। राय देते समय मतदाता एक दल के सारे ही उम्मीदवारों को राय देते है। वह ऐसा नहीं कर सकते कि आधी राय एक दल के पक्ष में और बाकी राय दूसरे दल के पक्ष में दें। विभिन्न दलों के पक्ष में आयी हुई तमाम राय चुनाव के समाप्त होने के पश्चात् गिन ली जाती है और फिर इन मतों के अनुपात से विभिन्न राजनीतिक दलों को उतने ही स्थान दे दिये जाते है। उदाहरण के लिए मान लीजिये किसी देश में 'अ', 'ब' और 'स' तीन दल है। इन दलों के चुनाव में इस प्रकार वोट मिलते है:—

'अ' को ५,०००, 'ब' को ४,००० और 'स' को १०००। यदि उस देश की धारा-सभा में चुने जानेवाले उम्मीदवारों की कुल संख्या १०० है तो 'अ' को ५० स्थान, 'ब' को ४० और 'स' को १० स्थान प्राप्त होंगे। इन स्थानों से उन उम्मीदवारों को निर्वाचित घोषित किया जाता है जिनके नाम पार्टियों की फेहरिस्त में सबसे ऊपर होते हैं।

प्रथा के लाभ तथा हानि

इस प्रथा से यह लाभ है: (१) यह अत्यन्त सरल है, (२) कम खर्चीली है तथा (३) देश की दलबन्दी प्रथा को स्वीकार करती है और अलग-अलग व्यक्तियों को चुनाव में खड़े होने से रोकती है। परन्तु इस प्रथा का सबसे बड़ा दोष यह है कि (१) बड़े देश में अव्यावहारिक साबित होती है, (२) इसमें निर्वाचक और निर्वाचित में किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित नहीं होने पाता, तथा (३) इसके अतिरिक्त इस प्रथा से निर्वाचित सदस्य किसी भी क्षेत्र-विशेष के प्रति अपनी जिम्मेदारी नहीं समझते।

सीमित मत-प्रथा (Limited Vote System)

इस प्रथा के अन्तर्गत देश बहुत-से सदस्यों वाले निर्वाचन-क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र से कम से कम ३ उम्मीदवार चुने जाते हैं। प्रत्येक मतदाता को उम्मीद-

वारों की निश्चित संख्या से कुछ कम राय देने का अधिकार दिया जाता है। उदाहरणार्थ यदि किसी निर्वाचन-क्षेत्र से तीन उम्मीदवार चुने जाते हैं तो लोगों को केवल दो राय देने का अधिकार होगा जिससे कम से कम एक सदस्य अल्पसंख्यक जाति का भी चुना जा सके।

एकत्रित मतदान प्रथा (Cumulative Vote System)

इस प्रथा के अन्तर्गत भी बहुनिर्वाचन क्षेत्र होते हैं। प्रत्येक मतदाता को उतने ही मत देने का अधिकार दिया जाता है जितने कि किसी क्षेत्र से उम्मीदवार चुने जाने होते हैं। परन्तु इसके साथ ही मतदाताओं को यह भी अधिकार रहता है कि यदि वे चाहें तो अपने सारे या कुछ कम वोट एक ही उम्मीदवार को दे सकते हैं। इस प्रथा द्वारा अल्पसंख्यक जातियों को इस बात का अवसर मिल जाता है कि वे अपने सारे मत एक ही उम्मीदवार के हक में डालकर उसे निर्वाचित करा लें।

इस प्रथा में दोष यह है कि प्रख्यात उम्मीदवार कभी-कभी आवश्यकता से अधिक मत प्राप्त कर लेते हैं और इससे बहुत से मत बेकार चले जाते हैं। इसके अतिरिक्त इस प्रथा के अन्तर्गत कभी-कभी अल्पसंख्यक दल अनुपात से भी अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त कर लेते हैं।

पृथक् निर्वाचन पद्धति (Separate Electorate System)

अँग्रेजों के काल में निर्वाचन की यह पद्धति हिन्दुस्तान में प्रचलित थी। इस प्रणाली के अन्तर्गत विभिन्न जातियों के मतदाताओं की अलग-अलग सूचियाँ बनाई जाती हैं। निर्वाचन-क्षेत्र धार्मिक विश्वास के आधार पर बनाये जाते हैं। अर्थात् हिन्दुओं के लिए अलग, मुसलमानों के लिए अलग, सिक्खों के लिए अलग। धारा-सभा में विभिन्न जातियों के सदस्यों की पहले से ही संख्या निश्चित कर दी जाती है। चुनाव में एक जाति के लोग दूसरी जाति के उम्मीदवार के लिए वोट नहीं दे सकते, अर्थात् हिन्दू हिन्दुओं के लिए, मुसलमान मुसलमानों के लिए, सिक्ख सिक्खों के लिए राय देते हैं।

दोष—यह प्रथा अत्यन्त दोषपूर्ण है। (१) यह सभी उत्तम राजनीतिक सिद्धान्तों के विरुद्ध है। (२) यह राष्ट्रहीनता और पृथकत्व की भावना जागृत करती है। इसी प्रणाली के कारण आज भारतवर्ष दो टुकड़ों में बँट गया है। (३) यह प्रणाली केवल चुनाव के ही क्षेत्र तक सीमित नहीं रहती, वरन् नौकरियों, व्यापार और लाभ के दूसरे स्थानों में भी पैर फैलाने लगती है। (४) यह एक संक्रामक बीमारी की तरह बढ़ती है। यदि एक जाति को पृथक् चुनाव का अधिकार दे दिया जाय तो दूसरी सभी जातियाँ वैसा ही अधिकार माँगने लगती हैं। (५) इससे सहयोग, प्रेम तथा सहानुभूति की भावना नष्ट होकर विभिन्न जातियों के बीच वैमनस्य पैदा हो जाता है। (६) इससे साम्प्रदायिकता का विष फैलता है और राजनीतिक नेता लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए जातीयता की तरंगों में बह जाते हैं। (७) धारा-सभा में पृथक् निर्वाचन के सिद्धान्त पर चुने हुए सदस्य, राष्ट्रीय हित की बात नहीं सोचते वरन् संकुचित जातीय हितों की रक्षा करना अपना पेशा बना लेते हैं। (८)

इस प्रथा से कभी भी देश में एक उत्कट राष्ट्रीय भावना का जन्म नहीं होता। (९) यह प्रथा बिल्कुल अराष्ट्रीय और प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। (१०) यह आर्थिक तथा राजनीतिक कार्यक्रम के आधार पर दलबन्दी को असम्भव बना देती है।

निष्कर्ष—इस प्रकार हम देखते हैं कि पृथक् निर्वाचन-पद्धति राष्ट्रीय हित के लिए अत्यन्त घातक है। हमारे स्वतन्त्र भारत की प्रथम राष्ट्रीय सरकार ने इसीलिए सबसे पहले इस विषैली प्रथा का अन्त करने का निश्चय किया है।

सुरक्षित स्थानयुक्त संयुक्त निर्वाचन-प्रणाली
(Joint Electorate with Reservation of Seats)

इस प्रथा के अन्तर्गत विधान सभा में अल्पसंख्यक जातियों के स्थान संविधान द्वारा निश्चित कर दिये जाते हैं। परन्तु विभिन्न जातियों के सदस्यों के लिए पृथक् निर्वाचन-क्षेत्र नियत नहीं किये जाते। इस प्रकार यह प्रथा अल्पसंख्यक जातियों के अधिकारों की रक्षा करने के अतिरिक्त पृथक् निर्वाचन प्रणाली के सब दोषों को दूर कर देती है। इस प्रथा में हिन्दू मुसलमानों को भी तथा मुसलमान हिन्दुओं को भी अपने मत देते हैं। केवल वही सदस्य विधान सभा में जाते हैं जिन्हें सब जातियों का विश्वास प्राप्त हो। इस प्रकार इस प्रथा से राष्ट्रीय एकता और सामाजिक दृढ़ता की नींव पड़ती है।

अल्पसंख्यक जातियों के हित की रक्षा के लिए एक अन्य साधन भी कभी-कभी काम में लाया जाता है और वह यह है कि संविधान में एक ऐसी शर्त रखी जाती है जिससे विभिन्न जातियों के प्रचलित अधिकारों और रीति-रिवाजों के विरुद्ध विधान सभा में उस समय तक कोई कानून नहीं पास किया जा सकता, जब तक विधान सभा में उस जाति के दो-तिहाई सदस्य उसे स्वीकार न कर लें। भारत के नए संविधान में, हरिजनों तथा पिछड़े हुए कबीलों को छोड़कर बाकी अल्पसंख्यक जातियों के लिये पृथक् निर्वाचन तथा सुरक्षित स्थान की प्रथा का अन्त कर दिया गया है। प्रजातन्त्र शासन वास्तविक सफलता को उसी समय प्राप्त होता है जब जनता में एकता हो और उसके विभिन्न अंग अपने विशिष्ट अधिकारों की मांग न करें, अपने आप को एक अविच्छिन्न राष्ट्र का अंग मानें।

प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष चुनाव (Direct vs Indirect Election)

निर्वाचन-पद्धति के विषय में दो तरीकों का वर्णन कर देना भी यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। इनमें से एक तरीके को प्रत्यक्ष चुनाव-प्रथा तथा दूसरे को अप्रत्यक्ष चुनाव-प्रथा कहा जाता है।

प्रत्यक्ष चुनाव-प्रथा—यह वह प्रथा है जिसमें मतदाता प्रत्यक्ष रूप से अपने प्रतिनिधियों को चुनते हैं। यह तरीका प्राय सभी देशों में प्रचलित है। मताधिकारी ही अपनी इच्छानुसार उम्मीदवारों को वोट देते हैं और जिन्हें अधिक वोट मिलते हैं वे प्रतिनिधि चुन लिये जाते हैं।

अप्रत्यक्ष चुनाव—इस तरीके के अन्तर्गत मतदाता धारा-सभा के लिए प्रतिनिधियों को प्रत्यक्ष रूप से नहीं चुनते बल्कि एक माध्यमिक संस्था के द्वारा चुनते हैं। इस निर्वाचन-

प्रणाली में दो बार चुनाव होता है, एक बार माध्यमिक संस्था के लिए जिसके ५०, ६० या १०० सदस्य होते हैं और फिर विधान-सभा के लिए जिसके सदस्यों का चुनाव माध्यमिक संस्था के ५०, ६० या १०० सदस्य करते हैं। रूस में यह प्रथा प्रचलित है। हमारे देश की राज्य परिषद् के सदस्य भी इसी प्रणाली से राज्य की विधान सभाओं द्वारा चुने जाते हैं। अमेरिका तथा भारत में राष्ट्रपति का चुनाव भी इसी प्रणाली से होता है।

गुण और दोष—प्रत्यक्ष चुनाव-प्रथा के गुण यह हैं कि इसके अन्तर्गत जनता का विधान सभा में अधिक विश्वास रहता है। प्रतिनिधि अपने आपको मतदाताओं के प्रति उत्तरदायी समझते हैं तथा इससे जनता का राजनीतिक ज्ञान बढ़ता है। इस प्रथा के दोष यह हैं कि मतदाताओं में इतनी योग्यता नहीं होती कि वे ठीक प्रकार से अपने शासकों का चुनाव कर सकें। वास्तव में मतदाताओं में जनता के वास्तविक हितों को समझनेवाले लोग बहुत कम होते हैं। इसलिए यदि सब मतदाता मिलकर कुछ थोड़े से ऐसे आदमियों को चुन लें जिन्हें अच्छे-बुरे की पहचान हो, तो इससे विधान सभा के सदस्यों का चुनाव अधिक सुचारु रूप से हो सकता है। परन्तु इस प्रथा में दोष यह है कि इससे जनता में राजनीतिक जागृति नहीं हो पाती और वह चुनाव में उस संलग्नता के साथ भाग नहीं लेते जैसा कि प्रत्यक्ष चुनाव में लेते हैं। इसके अतिरिक्त यह चुनाव-प्रणाली अप्रजातंत्रात्मक है क्योंकि इसके अन्तर्गत प्रतिनिधियों का चुनाव केवल थोड़े से ही लोगों के हाथ में रहता है। घूसखोरी के लिए भी इस प्रथा में काफी गुंजाइश रहती है क्योंकि धारा-सभा के सदस्यों का अन्तिम चुनाव थोड़े से ही लोगों के हाथ में होता है।

प्रतिनिधि तथा उसके निर्वाचकों का परस्पर सम्बन्ध

प्रश्न उठता है कि चुनाव के पश्चात् प्रतिनिधि का अपने निर्वाचकों के प्रति क्या कर्तव्य शेष रह जाता है। प्राय: ऐसा देखने में आता है कि चुनाव के पश्चात् प्रतिनिधि अपने निर्वाचकों की ओर से बिल्कुल बेखबर हो जाते हैं और केवल दूसरे चुनाव के समय ही उनके पास दोबारा राय माँगने के लिए आते हैं। वास्तव में यह व्यवहार अत्यन्त निन्दनीय है। प्रतिनिधियों का कर्तव्य है कि वह अपने निर्वाचकों के साथ बराबर संपर्क बनाये रखें। उनके दुख और मुसीबत की कहानी सुनें तथा जहाँ तक भी बन पड़े उनकी सेवा करने का प्रयत्न करें। विधान-मंडल के सम्मुख जो भी प्रश्न आते हैं उनके विषय में भी उन्हें अपने निर्वाचकों से परामर्श करते रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त उनका कर्तव्य है कि वह उस कार्यक्रम और नीति को कार्य रूप में परिणत करने का प्रयत्न करें जिसके आधार पर उन्हें उनके निर्वाचकों ने धारा-सभा का सदस्य चुना है। अपने निर्वाचन-क्षेत्र का दौरा करना तथा मतदाताओं को उपस्थित राजनीतिक गुत्थियों से अवगत कराना भी उनका परम कर्तव्य है। एक और बात, जिसकी चर्चा यहाँ हम आवश्यक समझते हैं यह है कि प्रतिनिधि को अपने स्थानीय हितों की रक्षा के लिए कभी भी राष्ट्रीय हितों का बलिदान नहीं करना चाहिए। राष्ट्रीय हितों में स्थानीय हित स्वभावतया सन्निहित होते हैं।

आदर्श प्रतिनिधि-प्रथा (Ideal Representative System)

प्रजातन्त्रीय संगठन के उपर्युक्त वर्णन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी भी देश की आदर्श प्रतिनिधि-प्रथा में निम्नलिखित बातें अवश्य होनी चाहिए —

१. सर्वमताधिकार (Universal Franchise)

२. प्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रथा (Direct System of Election)

३ गुप्त मतदान प्रथा (Ballot System of Voting)

४. निर्वाचन के समय अनैतिक तथा अवाञ्छनीय कार्यों की रोकथाम (Prevention of Malpractices at the time of Election)

५ निर्वाचक और निर्वाचित मे निरन्तर सपर्क (Constant Contact between the Representative and the Electorate)

६. अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा (Protection of Minorities)

७ पृथक् निर्वाचन-पद्धति तथा बहुमत का अन्त (Abolition of Separate Electorates and the Plural Voting)

योग्यता प्रश्न

१. महिला मताधिकार के पक्ष और विपक्ष की युक्तियों का वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९३०, १९४२)

२. आप वयस्क मताधिकार से क्या समझते हैं ? इसके गुण और दोष पर प्रकाश डालिये। (यू० पी०, १९३२, १९४६)

३. अल्पमत क्या है ? प्रजातांत्रिक व्यवस्थापिकाओं में प्रचलित कुछ ढंगों का वर्णन कीजिये।

४. जातीय प्रतिनिधित्व का क्या अर्थ है ? भारतवर्ष को दृष्टिकोण में रख कर इस प्रश्न पर प्रकाश डालिये और इसके कुछ उपाय बतलाइये।

५. प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष निर्वाचन के तुलनात्मक लाभ और हानियाँ क्या हैं ? इनका वर्णन कीजिये।

६. किसी विधान सभा में प्रतिनिधियों के निर्वाचित होने के विभिन्न तरीकों का वर्णन कीजिये और उनके गुण और दोषों पर प्रकाश डालिये। (यू० पी०, १९३३)

७. आदर्श निर्वाचन-पद्धति क्या हो सकती है ? मतदाता शासकों पर किस प्रकार नियन्त्रण रखते हैं ? (यू० पी०, १९४४)

८. अल्पसंख्यक जातियों के प्रतिनिधित्व का आप क्या आशय समझते हैं ? क्या भारत के लिए आप संयुक्त निर्वाचन प्रणाली उचित समझते हैं ? (यू० पी०; १९४८, पंजाब, १९५२)

९. मताधिकार पाने के लिए क्या लक्षण होने चाहिएं ? क्या आपकी राय में किसी निरक्षर मनुष्य को चुनने का अधिकार मिलना चाहिए ? अपने उत्तर के कारण लिखिये। (यू० पी०, १९५०)

१०. मताधिकार और प्रत्यक्ष चुनाव पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखो। (यू० पी०, १९५२)

११. साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखो। (यू० पी०, १९५३)

१२. सर्वसाधारण मताधिकार (Universal Suffrage) का अर्थ समझाइये और उसके पक्ष और विपक्ष में दिये गये तर्कों का उल्लेख कीजिये। (यू० पी०, १९५५; पंजाब, १९५५)

१३. प्रजातन्त्र की परिभाषा दीजिए। उसके गुण और दोषों का वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९५६)

१४. सार्वलौकिक वयस्क मताधिकार पर एक निबन्ध लिखिये। क्या भारतवर्ष के लिए यह प्रणाली सर्वोत्तम है ? (यू० पी०, १९५७)

अध्याय १९

राजनीतिक दल

(Political Parties)

परिभाषा—राजनीतिक दल किसी राज्य के अन्तर्गत मनुष्यों के उस संगठित समूह को कहते हैं जो किसी राजनीतिक उद्देश्य अथवा आर्थिक लक्ष्य की पूर्ति के लिए शांतिमय तथा वैध (Legal) साधनों से, किसी देश के मतदाताओं (Electorate) के बहुमत को अपने पक्ष में करके, राज्य की शासन शक्ति को अपने हाथ में लेना चाहता हो।[1] किसी राजनीतिक दल के लिए, इस प्रकार, तीन बातों की विशेष रूप से आवश्यकता रहती है —

(१) किसी राजनीतिक अथवा आर्थिक सिद्धान्त में विश्वास, (२) अनुशासनपूर्ण संगठन, और (३) देश की कार्यपालिका (Executive) पर वैध तथा शांतिपूर्ण उपायों से जनता के बहुमत को अपने पक्ष में करके, कब्जा करने की इच्छा। गैटिल (Gettle)ने इसी कारण राजनीतिक दल की इस प्रकार व्याख्या की है कि यह कुछ लोगों का ऐसा संगठन है जो एक विचार रखते हैं तथा जो अपने अनुयायियों के मत के बल पर, सरकार की मशीन पर अपना कब्जा जमाकर, उस कार्यक्रम और नीति को कार्यान्वित करना चाहते हैं जिसमें उनका विश्वास है। कुछ दूसरे राजनीतिक लेखकों ने इसकी परिभाषा दूसरे प्रकार से की है। उदाहरणार्थ गिल्क्राइस्ट (Gilchrist) लिखता है, "राजनीतिक दल कुछ लोगों का वह संगठन है जिनका एक विचार और एक उद्देश्य होता है।" लीकाक (Leacock) लिखता है कि "राजनीतिक दल से हमारा तात्पर्य उस संगठन से है जो राजनीति के एक सिद्धान्त पर सहमत होते हैं।" एक तीसरे राजनीतिज्ञ लिखते हैं, "राजनीतिक दल व्यक्तियों के उस समुदाय को कहते हैं जिसका दृष्टिकोण वर्तमान राजनीतिक प्रश्नों पर एक होता है तथा जो इस बात की चिन्ता में रहते हैं कि सरकार किस प्रकार उनकी इच्छानुसार काम करे।" मनरो के अनुसार, "राजनीतिक दल उन व्यक्तियों का समूह है जो सार्वजनिक समस्याओं पर एक मत रखते हैं।"

गुट्ट (Factions)—यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि राजनीतिक दलों के अलावा कुछ देशों में ऐसे मनुष्यों के गुट्ट भी होते हैं जो किसी राजनीतिक कार्यक्रम में विश्वास नहीं रखते वरन् जो अपनी स्वार्थसिद्धि तथा व्यक्तिगत अधिकार की प्राप्ति के

---

1. A Political party consists of a group of Citizens more or less organised who act as a political unit and who, by the use of their voting power aim to control the Government and carry out their general policies. (Gettle.)

लिए आपस में मिल जाते हैं और फिर बल प्रयोग, लड़ाई, दंगा, गुण्डागर्दी आदि साधनों को काम में लाकर अपनी उद्देश्यपूर्ति करना चाहते हैं। ऐसे समूहों को किसी प्रकार भी राजनीतिक दल नहीं कहा जा सकता। उनको गुट्ट कहना अधिक न्याय-संगत जान पड़ता है। एक लेखक ने राजनीतिक दल और गुट्ट में इस प्रकार भेद किया है:— राजनीतिक दल वोटों के बहुमत द्वारा काम करते हैं, परन्तु गुट्ट सिरों को फोड़कर काम करते हैं। (A political party acts by counting heads, while a faction does so by breaking heads.)

ऐतिहासिक दृष्टि से गुटबन्दियाँ संसार में राजनीति के साथ सदा से चली आई हैं। पुराने राजतन्त्र शासनों में भी गुटबन्दियाँ थीं, परन्तु राजनीतिक पार्टियाँ अभी कोई दो शताब्दियों से ही देखने में आई हैं। राजनीतिक दलों का विकास प्रजातन्त्र शासनों के आविष्कार के साथ हुआ है, क्योंकि प्रजातन्त्र राज्य की व्यवस्था राजनीतिक दलों के अभाव में सम्भव नहीं।

राजनीतिक दलों के निर्माण का आधार (Basis of the formation of Political Parties)

राजनीतिक दल राजनीतिक समस्याओं के विषय में जनता में भिन्न-भिन्न राय पाये जाने के कारण बन जाते हैं। जो लोग इन समस्याओं पर एक ही प्रकार से विचार करते हैं, तथा उनको सुलझाने के लिए एक से ही निश्चित कार्यक्रमों में विश्वास रखते हैं, वह राजनीतिक दल बना लेते हैं। अक्सर राजनीतिक दलों के पीछे कुछ बड़े-बड़े प्रतिष्ठित व्यक्ति होते हैं। इन व्यक्तियों में श्रद्धा रखनेवाले मनुष्य, उनके साथ लग जाते हैं, और फिर वह सब मिलकर आकर्षक कार्यक्रम जनता के सामने रखते हैं। प्रत्येक राजनीतिक दल अपनी ओर अधिक से अधिक मतदाताओं को खींचने की कोशिश करता है और इसके लिए वह नये-नये नारे, नये-नये चित्ताकर्षक कार्यक्रम जनता के सामने रखता है। यहाँ यह समझ लेना उचित होगा कि राजनीतिक दलों की सदस्यता या नीति के विषय में कोई निश्चित या स्थायी सिद्धान्त नहीं होता। समय की आवश्यकता तथा परिस्थिति के अनुसार राजनीतिक दलों का कार्यक्रम भी बदलता रहता है और उनकी सदस्यता भी। प्रायः प्रत्येक देश में ऐसा देखने में आता है कि आज जो व्यक्ति एक दल के साथ है कल वही अपने दल को छोड़कर, दूसरे में शामिल हो जाते हैं। मतदाताओं की अधिकतर संख्या उस दल के साथ अपनी सहानुभूति रखना पसन्द करती है जिसके हाथ में राज्य-सत्ता हो। हारे हुए दल के साथ ऐसे ही लोग रहते हैं जिनका उस दल के कार्यक्रम में दृढ़ विश्वास होता है।

आधुनिक काल में अधिकतर राजनीतिक दल निम्नलिखित सिद्धान्तों पर संगठित किये जाते हैं :—

(१) **राजनीतिक सिद्धान्त**—स्वतन्त्र राष्ट्रों में देश के राजनीतिक संगठन के विषय में जनता की अलग-अलग राय होती है। कुछ लोग प्रजातंत्रात्मक संगठन में विश्वास करते हैं तो कुछ राजतंत्र में, कुछ लोग कुलीनतंत्र में विश्वास रखते हैं तो कुछ तानाशाही

शासन में, कुछ लोग फासिस्ट ढंग की सरकार में विश्वास रखते हैं तो कुछ धर्मतंत्र (Theocracy) में। इन भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों में विश्वास करनेवाले आदमी अपना एक अलग संगठन बना लेते हैं और फिर अपने मत का जनता में प्रचार करते हैं। गुलाम देशों में स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए भी राजनीतिक दल बनाये जाते हैं।

(२) आर्थिक सिद्धान्त—कुछ लोग जो समाज के एक ही प्रकार के आर्थिक संगठन में विश्वास रखते हैं अथवा जो जनता की आर्थिक दशा सुधारने के लिए समान साधनों का प्रयोग करना चाहते हैं, अथवा जो एक ही पेशा करते हैं—एक ही प्रकार का संगठन बना लेते हैं। इन संगठनों के उदाहरण में हम विभिन्न देशों के समाजवादी दल, कम्युनिस्ट पार्टी, लेबर पार्टी, जमींदार एसोसिएशन इत्यादि दलों के नाम ले सकते हैं। वर्तमान काल में आर्थिक सिद्धान्तों के आधार पर राजनीतिक दल बहुत लोकप्रिय हैं।

(३) प्राकृतिक मतभेद—(Temperamental Differences)—संसार के सभी देशों में मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक व सामाजिक समस्याओं के विषय में जनता में चार प्रकार के दृष्टिकोण होते हैं। सबसे पहले कुछ ऐसे लोग होते हैं जो प्राचीन काल की व्यवस्था को ही आदर्श मानते हैं और वर्तमान तथा भविष्य को असन्तोष की दृष्टि से देखते हैं। इस प्रकार के विचारों के मनुष्यों को हम प्रतिक्रियावादी (Reactionaries) कह सकते हैं क्योंकि यह लोग पीछे की ओर देखते हैं। दूसरी प्रकार के मनुष्य वह होते हैं जो वर्तमान व्यवस्था के प्रति संतुष्ट रहते हैं तथा उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन या सुधार नहीं चाहते; ऐसी मनोवृत्ति प्रायः सम्पन्न और धनी लोगों में पाई जाती है। राजनीति में इन्हें कन्जरवेटिव (Conservative) या अनुदार कहा जाता है क्योंकि ये सुधार-विरोधी और वर्तमान व्यवस्था के पक्षपाती होते हैं। तीसरी प्रकार के मनुष्य समाज में वह हैं जो वर्तमान व्यवस्था की बुराइयों को समझते हैं एवं उसमें परिवर्तन और सुधार चाहते हैं, किन्तु धीरे-धीरे और वैधानिक उपायों से; ऐसे लोग (Liberal) या उदार कहे जाते हैं। अन्त में प्रत्येक समाज में कुछ लोग ऐसे होते हैं जो वर्तमान व्यवस्था से इतनी घृणा करते हैं कि उसको नष्ट-भ्रष्ट करके उसके स्थान पर नई सभ्यता का निर्माण करना चाहते हैं, इन लोगों को उग्र (Extremist or Radical) कहा जाता है। लोगों के इन स्वाभाविक मतभेदों के कारण भिन्न-भिन्न देशों में कन्जरवेटिव, लिबरल तथा रेडिकल पार्टियाँ बनाई जाती हैं। कुछ देशों में प्रतिक्रियावादी दलों को दक्षिण पक्ष (Rightist Party), अनुदार और उदार दलों को मध्य पक्ष (Centre Party), तथा उग्र दलों को वाम पक्ष (Leftist Party) के नाम भी दिये जाते हैं।

कुछ पिछड़े हुए देशों में जातीय, धार्मिक तथा भाषा सम्बन्धी विभिन्नताओं के आधार पर भी दलों की व्यवस्था की जाती है। कभी-कभी किसी देश में बिना किसी राजनीतिक या आर्थिक कार्यक्रम के भी बड़े राजनीतिक नेता में आस्था होने के कारण भी राजनीतिक दलों का निर्माण हो जाता है।

इंगलैण्ड के दल—इंगलैण्ड में मुख्यतः तीन दल हैं:—(१) कन्जरवेटिव (Canservative), (२) लिबरल (Liberal) और (३) मजदूर (Labour)। इनमें से पहले दो दलों का निर्माण स्वाभाविक मतभेद के कारण हुआ और तीसरे दल का आर्थिक कार्यक्रम के सिद्धान्त पर। इंगलैण्ड के १९४६ के आम चुनाव तथा उसके पश्चात् से लिबरल पार्टी की भारी हार होती रही है। इस कारण आजकल इंगलैण्ड में केवल दो ही पार्टियाँ अधिक प्रभावशाली रह गयी हैं।

अमेरिका के दल—अमेरिका में मुख्यतः दो पार्टियाँ हैं—(१) डेमोक्रेट्स और (२) रिपब्लिकन। इन पार्टियों के कार्य-क्रम में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों ही दल पूंजीवाद के समर्थक हैं। अन्तर केवल इतना है कि रिपब्लिकन पार्टी डेमोक्रेटिक पार्टी के मुकाबले में कुछ अधिक प्रतिक्रियावादी है तथा विदेश नीति के क्षेत्र में डेमोक्रेटिक पार्टी अधिक उदारता का मार्ग अपनाती है।

फ्रांस के दल—फ्रांस के राजनीतिक इतिहास का यह सबसे बड़ा दुर्भाग्य रहा है कि वहाँ इतने राजनीतिक दल हैं कि उस देश में स्थायी सरकार कभी नहीं बनने पाई है। वहाँ मन्त्रिमंडलों की तबदीली आये दिन की बात है। फ्रांस के प्रमुख राजनीतिक दलों में हम कम्युनिस्ट पार्टी, सोशलिस्ट पार्टी, सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी, कैथोलिक पार्टी, रेडिकल पार्टी और जनरल देगाल की पार्टी के नाम ले सकते हैं।

भारत के दल—हमारे देश को स्वतन्त्र हुए अभी थोड़ा ही समय हुआ है। इसलिए यहाँ राजनीतिक दलों की व्यवस्था उन आर्थिक तथा राजनीतिक सिद्धान्तों के आधार पर नहीं की गई है, जिन पर पाश्चात्य देशों के दल संगठित हैं। अभी कुछ दिन पहले तक हमारे देश की पार्टियाँ धार्मिक तथा जातीय भेदभावों पर अवलम्बित थीं। मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा, अकाली दल, दलित जातीय संघ आदि इसी के उदाहरण हैं। केवल राष्ट्रीय कांग्रेस ही हमारे देश की एक ऐसी पार्टी है जो राजनीतिक कार्यक्रम के आधार पर अवलम्बित है। धार्मिक दलों का प्रभुत्व हमारे देश में शासन की पृथक् निर्वाचन पद्धति (Separate Electorates) के कारण हुआ। इन दलों ने साम्प्रदायिकता का वह बीज बोया कि हमारे देश के दो टुकड़े होकर ही रहे। महात्मा गांधी की मृत्यु के पश्चात् से हमारे देश की राजनीति में एक जबर्दस्त तब्दीली आई है। जनता अपने सबसे अमूल्य रत्न को खोकर साम्प्रदायिकता के क्षेत्र से दूर हटने लगी है। सन् १९५२ व १९५७ के आम चुनावों में उसने साम्प्रदायिक दलों की करारी हार देकर अपनी राजनीतिक चेतना का पूरा प्रमाण दिया है।

आजकल हमारे देश की सबसे संगठित और शक्तिशाली पार्टी कांग्रेस ही है। केरल को छोड़कर देश के तमाम राज्यों तथा केन्द्रीय सरकार पर इसी का प्रभुत्व है।

अब कुछ काल से प्रजा-समाजवादी एवं साम्यवादी दलों का प्रभाव भी हमारे देश में बढ़ रहा है। साम्यवादी दल का सबसे अधिक जोर दक्षिण में है। पिछले दो आम चुनावों में कांग्रेस के पश्चात् इसी दल के उम्मीदवार सबसे अधिक विधान सभाओं में चुने गये।

कांग्रेस, प्रजा-सोशलिस्ट पार्टी और कम्युनिस्ट पार्टी के अतिरिक्त हमारे देश में कुछ और छोटे-छोटे राजनीतिक दल भी हैं। इनमें जन संघ, हिन्दू महासभा, अकाली दल, परिगणित जाति संघ मुख्य हैं।

राजनीतिक दलों के कार्य (Functions of Political Parties)

प्रजातन्त्र शासन की सफलता के लिए राजनीतिक दलों की आवश्यकता—

माना जाए। प्रजातन्त्र शासन का अर्थ दलगत सरकार नहीं होता। उसका अर्थ है 'समस्त जनता की सरकार'। कोई दल कभी भी समस्त जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करता। कभी-कभी तो जो दल शासनारूढ़ होता है वह जनता के केवल एक अल्पसंख्यक वर्ग का ही प्रतिनिधि होता है। बहुदलीय देशों में यह बात विशेष रूप से देखने को मिलती है। फिर क्या यह कहा जाता है कि प्रजातन्त्र शासन राजनीतिक दलों के संगठन के बिना सम्भव नहीं है?

उपरोक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि सैद्धान्तिक रूप से यह बात ठीक है कि प्रजातन्त्र का अर्थ समस्त जनता का शासन है, परन्तु आजकल के राज्यों में यह सम्भव नहीं कि समस्त जनता राज-काज के कामों में सीधा भाग ले सके। इसलिए प्रतिनिधियों के चुनाव द्वारा प्रजातन्त्र शासन-व्यवस्था चलायी जाती है। अब प्रश्न उठता है कि यह किस प्रकार पता लगाया जाय कि किसी सार्वजनिक प्रश्न पर जनता की क्या राय है तथा वह किन उद्देश्यों के आधार पर नीति का निर्माण करना चाहती है? किसी देश में ऐसा कभी नहीं होता

रखते हैं।

द्विदलीय तथा बहुदलीय प्रणाली (Two Party vs. Multiple Party System)

किसी देश में बहुत से राजनीतिक दल हो सकते हैं तथा किसी में कम। अधिक राजनीतिक दलों का यह अर्थ नहीं होता कि उस देश में राजनीतिक स्वतन्त्रता अधिक है या जिस देश में थोड़े दल हैं, वहाँ के लोग कम बुद्धिमान् हैं। सार्वजनिक महत्त्व के प्रश्नों पर विस्तृत हित की दृष्टि से यह आवश्यक है कि जनता छोटे-छोटे मतभेदों को भुलाकर मौलिक प्रश्नों के सम्बन्ध में एक ही राय रखे। बहुत से दलों के संगठन का यह अर्थ होता है कि जनता राष्ट्रीय हित के मामलों में विशाल दृष्टिकोण से काम नहीं लेती और छोटे-छोटे मतभेदों के कारण अलग राजनीतिक दल बना लेती है जिससे राष्ट्रीय हित को हानि पहुँचती है। विदित है कि राजनीतिक दलों का संगठन क्षुद्र जातीय, धार्मिक अथवा व्यक्तिगत स्वार्थों के आधार पर नहीं होना चाहिए। देश-हित की दृष्टि से कुछ मौलिक समस्याओं के आधार पर ही राजनीतिक दलों का निर्माण होना चाहिए। बहुत से दलों के संगठन से यह भी पता नहीं चलता कि अधिकांश जनता किस दल विशेष के कार्यक्रम को पसंद करती है। ऐसी दशा में एक स्थायी सरकार की स्थापना भी नहीं हो सकती। इसलिए ऐसे राज्यों में जहाँ जनता की राजनीतिक चेतना काफी जाग्रत है, अधिक राजनीतिक दलों के संगठन को अच्छा नहीं माना जाता। प्रजातन्त्र की सफलता के लिए जनता में इस गुण की भी आवश्यकता है कि वह छोटे-छोटे मतभेदों को भुलाकर राष्ट्रीय हित के प्रश्नों पर व्यापक दृष्टिकोण से विचार करे। इसीलिए देखा जाता है कि प्रायः सभी राजनीतिक दल अपने देश की विदेश नीति का समर्थन करते हैं; केवल आंतरिक प्रबन्ध की मौलिक समस्याओं के सम्बन्ध में उनमें मतभेद होता है। हमारे देश में भी पिछले दिनों में बहुत से छोटे-छोटे राजनीतिक दल मिलकर एक हो गये हैं। किसान मजदूर प्रजा पार्टी, समाजवादी दल, अग्रगामी दल, क्रान्तिकारी समाजवादी दल इत्यादि का विलयन होकर एक संगठित प्रजा-समाजवादी दल बन गया है। दूसरे वामपक्षी तथा दक्षिण-पक्षी दलों में भी यही प्रवृत्ति पाई जाती है।

द्विदल और बहुदल प्रणाली के गुण व दोष (Merits and Demerits of Two Party and Multiple Party System)

गुण—अधिकतर राजनीतिक विद्वान् दो दलों के संगठन को ही श्रेष्ठ मानते हैं। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) दो दलों की प्रणाली के अन्तर्गत दृढ़ और स्थायी सरकार बनने की अधिक संभावना रहती है। सरकार उस दल की बनती है जिसका विधान सभा में बहुमत हो। बहुत-से दलों के होने से सरकार की स्थिति डाँवाडोल रहती है, और मंत्रिमंडल आये दिन बदलते रहते हैं।

(२) द्विदल प्रणाली की सरकार जनता की अधिक विश्वासपात्र होती है। वह जनता के बहुमत का प्रतिनिधित्व करती है। बहुत-से दलों के होने से जनमत का ठीक पता नहीं चलता और ऐसे दल की सरकार भी बन सकती है जिसके कार्यक्रम को बहुत थोड़े लोग पसंद करते हों।

(३) द्विदल प्रणाली के अंतर्गत सरकार अपने बहुमत की सहायता से निश्चित होकर अपने कार्यक्रम पर अमल कर सकती है। उसे इस बात का भय नही रहता कि कुछ सदस्य उसकी नीति से असंतुष्ट होकर सरकार को राय देना छोड देंगे और इस प्रकार उसकी हार हो जायगी। बहुदल प्रणाली में ऐसी ही बात अक्सर होती रहती है। यही कारण है कि फ्रांस में कोई भी सरकार एकाध साल से अधिक नहीं टिकती।

(४) द्विदल प्रणाली से एक शक्तिशाली तथा सुसंगठित विरोधी दल का भी निर्माण हो जाता है। यह दल सरकार की नीतियों की निरंतर आलोचना करके उसे निरंकुशता के मार्ग से रोकता है। बहुदलीय देशों में विरोधी पक्ष की शक्तियाँ बिखरी हुई रहती हैं और सारे राजनीतिक दल मिलकर सरकार का विरोध नही करते।

(५) द्विदलीय प्रणाली में जनता छोटे-छोटे मतभेदों को भुलाकर राष्ट्रीय महत्त्व के प्रश्नों पर व्यापक दृष्टिकोण से विचार करने की क्षमता प्राप्त करती है। इस प्रणाली के अंतर्गत किसी गलत कार्य के लिए उत्तरदायित्व का निश्चित करना भी सरल रहता है।

दोष—द्विदल प्रणाली की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना भी की जाती है —

(१) गोल्डविन स्मिथ का कहना है कि द्विदल प्रणाली अस्वाभाविक है। राजनीतिक दलों का निर्माण स्वाभाविक मतभेदों के आधार पर होता है। मानव स्वभाव को केवल दो भागों में बाँटना किसी भी प्रकार न्यायसंगत नहीं हो सकता।

(२) द्विदलीय प्रणाली के अन्तर्गत सरकार अपने बहुमत की शक्ति से देश पर निरंकुश शासन करती है। ऐसी अवस्था उन देशों में अधिक मिलती है जहाँ विरोधी दल अशक्त हो। इससे अल्पसंख्यक वर्गों के हितों का ह्रास होता है।

(३) द्विदल प्रथा के अन्तर्गत बहुमत दल के कुछ बड़े-बड़े नेताओं को छोड़कर शेष सदस्यों का काम विधान सभा के अधिवेशनों में केवल इतना रह जाता है कि वह किसी प्रश्न पर राय माँगे जाने की स्थिति में अपने दल के पक्ष में हाथ उठा दें। उन्हे दल के नियन्त्रण के नाम पर अपने विचारों को व्यक्त करने की आजादी नही मिलती और वह अपने विचारों द्वारा देश का हित साधन नही कर सकते। ऐसी स्थिति में विधान सभा की महत्ता भी घट जाती है और वह मन्त्रियों के निश्चय पर मोहर लगाने के अतिरिक्त और कोई काम नही करती।

निष्कर्ष—परन्तु इन दोषों के रहते हुए भी अधिकतर राजनीतिक विद्वान् द्विदलीय प्रणाली को ही श्रेष्ठ बताते हैं। इस प्रणाली के दोषों को दूर करने के लिए विधान सभा में अनेक समितियाँ (Parliamentary Committees) बनाई जाती हैं जिनमे भाग लेनेवाले सदस्य सरकार की नीति की खुली आलोचना कर सकते हैं। दल की अपनी बैठक में भी सदस्यों को इस बात का अधिकार दिया जाता है कि वह सरकारी नीतियों की खुले रूप में आलोचना कर सकें।

दलों के मुख्य कार्य—उपरोक्त व्याख्या से स्पष्ट हो गया होगा कि प्रतिनिधि शासन-प्रणाली के अन्तर्गत राजनीतिक दलों का निर्माण क्यों आवश्यक है। सार्वजनिक प्रश्नों पर जनता की राय जानने का कोई दूसरा उपाय अभी तक ज्ञात नही हुआ है। राजनीतिक

दल चुनाव के समय जनता को यह बताते हैं कि उनका क्या कार्यक्रम तथा उद्देश्य है; यदि उसके उम्मीदवारों को बहुसंख्या में निर्वाचित करके विधान सभा में भेजा गया तो वे किस नीति का पालन करेंगे ? जनता जिस राजनीतिक दल के कार्यक्रम को पसन्द करती है उसी के उम्मीदवारों को राय देती है और इस प्रकार एक ऐसी सरकार का निर्माण हो जाता है जो जनता की राय का प्रतिनिधित्व कर सके।

राजनीतिक दलों के कार्य—मुख्य रूप से राजनीतिक दल दो कार्य करते हैं :—(१) जनता में अपने कार्यक्रम और नीति का प्रचार, और (२) चुनावों में भाग लेना। प्रथम कार्य के अन्तर्गत राजनीतिक दल जनता में अपनी लोकप्रियता बढ़ाने के लिए अखबार निकालते हैं, सभाएँ करते हैं, राजनीतिक साहित्य छापते हैं तथा रचनात्मक कार्यक्रम द्वारा अपने निर्वाचकों की सेवा करने का प्रयत्न करते हैं। इन कार्यों द्वारा दलों का मुख्य उद्देश्य यह होता है कि आम चुनाव के समय जनता उनके प्रतिनिधियों को राय दे। दूसरे कार्य के अन्तर्गत राजनीतिक दल विधान सभा के चुनावों में भाग लेकर देश की सरकार पर अपना प्रभुत्व प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। चुनावों को लड़ने के सम्बन्ध में उन्हें मुख्यतः निम्नलिखित कार्य करने पड़ते हैं :—

(१) वोटरों को अधिकाधिक संख्या में अपने दल का सदस्य बनाना और वोटरों की सूची (Electoral Register) में उनका नाम लिखवाना, जिससे वे अगले चुनावों में भाग ले सकें।

(२) जिन पदों के लिए निर्वाचन होना है उनके लिए योग्य उम्मीदवार खड़े करना, तथा उनका वोटरों से परिचय कराना।

(३) अखबारों, नोटिसों, व्याख्यानों, सभाओं तथा प्रदर्शनों द्वारा अपने प्रतिनिधियों को चुनाव में जिताने के लिए आन्दोलन करना।

(४) दूसरे दलों के सिद्धान्तों की आलोचना करना जिससे जनता उनके ही दलों के प्रतिनिधियों को राय देकर विधान सभा का सदस्य निर्वाचित करे।

(५) चुनाव लड़ना, वोटरों से अपने उम्मीदवारों के लिए राय माँगना, अपने पक्ष के वोटरों के गाड़ी या मोटरों में बिठाकर मतदान-स्थल पर ले जाना।

(६) यदि चुनाव में बहुमत प्राप्त हो तो देश का शासन चलाना, अन्यथा विधानमण्डल में विरोधी दल का निर्माण करके सरकार के कार्यों की आलोचना द्वारा उसे सतर्क रखना।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली के संचालन में राजनीतिक दलों की ही सहायता से काम चलता है। इन दलों के बिना न मन्त्रिमण्डल ही बन सकता है, न चुनाव ही लड़े जा सकते हैं, न प्रतिनिधियों को ही ठीक प्रकार से चुना जा सकता है, न विरोधी दल ही बन सकता है और न जनता की राजनीतिक शिक्षा ही हो सकती है।

राजनीतिक दलों से लाभ (Advantages of Political Parties)

(१) प्रजातन्त्र के संचालन के लिए राजनीतिक दलों का होना परमावश्यक ही नहीं, वरन् अनिवार्य है। जनता को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करने का कार्य राजनीतिक दल ही

करते हैं। यदि ये दल न हों तो देश में संगठित बहुमत का निर्माण नहीं हो सकता और इसके न होने से प्रजातन्त्र शासन का चलना ही असम्भव हो सकता है।

(२) राजनीतिक पार्टियों के आधार पर ही किसी देश के मन्त्रिमण्डल में जनता की इच्छानुसार परिवर्तन सम्भव होते हैं। ज्यों ही विधान सभा में किसी मन्त्रिमण्डल की हार हो जाती है, उसके स्थान में तुरन्त ही दूसरे मन्त्रिमण्डल का निर्माण हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में विरोधी दल मन्त्रिपद ग्रहण कर लेता है और पहले मन्त्रिमण्डल के सदस्य विरोधी दल का स्थान ग्रहण कर लेते हैं।

(३) अध्यक्षात्मक शासन में राजनीतिक दल, कार्यपालिका और विधानमण्डल के बीच मेल बनाये रखते हैं। इन दलों के अभाव में अध्यक्षात्मक शासन कभी सुचारु रूप से नहीं चल सकता। राजनीतिक दल, ऐसी सरकार में कार्यपालिका और विधान सभा, दोनों के सदस्यों पर प्रभाव रखते हैं और इस प्रकार उनके बीच होनेवाले गत्यावरोध को रोकते हैं।

(४) राजनीतिक दल निर्वाचकों को शिक्षित, अनुशासित तथा सक्षम बनाने के कार्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग लेते हैं। वह राजनीतिक साहित्य, समाचारपत्रों तथा सभाओं के द्वारा जनता को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करते हैं तथा उसे देश की समस्याओं से अवगत कराकर सार्वजनिक विषयों के प्रति उसकी रुचि बढ़ाते हैं।

(५) निर्वाचकों की सेवा तथा उनमें अनुशासन का भाव निर्माण करने के लिए राजनीतिक दल कभी-कभी स्वयंसेवक दलों का भी निर्माण करते हैं।

(६) वे देश के सामने उपस्थित विभिन्न विषयों का गम्भीर अध्ययन करने के लिए कभी-कभी अन्वेषण-संस्थाएँ (Research Institution) खोलते हैं तथा विशेषज्ञों की कमेटियाँ नियुक्त करते हैं और इस प्रकार देश की समस्याओं को समझने तथा उन्हें हल करने का प्रयत्न करते हैं।

(७) कभी-कभी राजनीतिक दल सामाजिक सुधार के कार्यों में भी भाग लेते हैं। हमारे देश में कांग्रेस ने हरिजन-उद्धार, स्त्री-शिक्षा तथा जाँत-पाँत और ऊँच-नीच के भेद-भावों को मिटाने का जो प्रयत्न किया है, वह अत्यन्त ही सराहनीय है।

(८) राजनीतिक दल जनता के छोटे-छोटे मतभेदों को दूर कर उनमें समान हित की प्राप्ति के लिए भावना उत्पन्न करते हैं।

राजनीतिक दलों के दोष (Disadvantages of Political Parties)

राजनीतिक दलों में अनेक दोष भी होते हैं। उनमें से कुछ का वर्णन हम नीचे करते हैं —

(१) दलप्रथा सच्चे प्रजातन्त्रीय सिद्धान्त के विरुद्ध है क्योंकि इसमें दल के अनुशासन के नाम पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण किया जाता है। एक बार दल द्वारा किसी विषय पर निर्णय हो जाने के पश्चात् सब सदस्यों को उस फैसले को मानना पड़ता है। यदि दल के कुछ सदस्य उस निर्णय को बिल्कुल नापसन्द भी करते हों, तो भी वह उसके विरोध में अपनी आवाज नहीं उठा सकते।

(२) राजनीतिक दलों का नेतृत्व कुछ ऐसे लोगों के हाथों में चला जाता है जो सिद्धान्त-हीन होते हैं तथा चुनाव लड़ने में उचित और अनुचित उपायों में भेद नहीं करते।

(३) दल के अन्दर कुछ ऐसे व्यक्तियों का गुट बन जाता है जिनके हाथ में सारी शक्ति केन्द्रित हो जाती है और फिर उनको उनके स्थान से नहीं हटाया जा सकता। दलबन्दी की इन्हीं बुराइयों के कारण राज्य के सर्वश्रेष्ठ नागरिक अपने आपको इस दूषित वातावरण से बिल्कुल अलग रखते हैं।

(४) राजनीतिक दलों के कारण जिन मन्त्रिमंडलों का निर्माण होता है उसमें कुछ ऐसे व्यक्ति भी आसनारूढ़ हो जाते हैं जिनमें शासन-सम्बन्धी कोई भी योग्यता नहीं होती।

(५) दलों के कारण पक्षपात, रिश्वत, बेईमानी तथा अन्य ऐसी ही दूसरी बुराइयों का बाजार गर्म हो जाता है। कभी-कभी दलों के नेता चुनाव के समय, लोगों को अपनी पार्टी की ओर से चुनाव में खड़े करने का प्रलोभन देकर, बहुत बड़ी रिश्वत खाते हैं। इसके अतिरिक्त एक दल की सरकार बनने के पश्चात् दल के नेता इस बात का प्रयत्न करते हैं कि उन्हीं की पार्टी के सदस्य विभिन्न राजनीतिक स्थानों पर नौकरियाँ प्राप्त करें। इससे बहुत से योग्य व्यक्ति नौकरी से निकाल दिये जाते हैं। अमेरिका का Spoils System इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है।

(६) दलों के कारण राष्ट्र परस्पर विरोधी समूहों में विभाजित हो जाते हैं। दल-प्रथा मनुष्यों में देशभक्ति के स्थान पर दल-भक्ति के भावों का संचार करती है। दल के सदस्य अपनी पार्टी के हित के सामने राष्ट्र के हित को अत्यन्त हीन समझते हैं।

(७) प्रायः सभी दल अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जनता में गलत बातों का प्रचार करते हैं और इसके कारण जनता के भोले-भाले नागरिकों को इस बात का पता नहीं चलता कि वास्तव में सच्चाई क्या है।

(८) दलबन्दी प्रथा में खुशामद और जी-हुजूरी का बोल-बाला होता है। केवल ऐसे ही व्यक्ति पार्टी नेताओं (Party Bosses) की निगाह में चढ़ सकते हैं जो सदा उनकी खुशामद में लगे रहें।

(९) सभी राजनीतिक दल आर्थिक या सामाजिक सिद्धान्तों पर नहीं बनाये जाते; कितने ही दल केवल व्यक्तिगत वैमनस्य के कारण संगठित कर लिये जाते हैं।

(१०) दल-प्रथा का प्रभाव केवल विधान सभा के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहता, बल्कि म्युनिसिपल बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड तथा ग्राम-पंचायतों के क्षेत्र में भी—जहाँ केवल स्थानीय प्रश्नों पर ही विचार किया जाता है—फैल जाता है। इससे जनता का दैनिक नागरिक जीवन भी दूषित हो जाता है।

(११) जिस देश में बहुत से दल विधान सभा में होते हैं वहाँ स्थायी सरकार नहीं बन पाती। फ्रांस में इसी कारण जल्दी-जल्दी मन्त्रिमण्डल बदलते रहते हैं।

(१२) दल-प्रथा के कारण मन्त्रिमण्डल में केवल एक ही पार्टी के नेताओं को शामिल किया जाता है। विरोधी दल के योग्य व्यक्ति राष्ट्र के निर्माण-कार्य में भाग नहीं ले सकते।

(१३) दल के नेता ऐसी योजनाओं को विधान सभा के सम्मुख पेश करते हैं जिनसे जनता की वास्तविक भलाई तो चाहे हो या न हो परन्तु जिनसे उनके अशिक्षित निर्वाचक प्रसन्न हो जायें और आगामी चुनाव में उनको फिर राय दे सकें।

(१४) दलबन्दी की प्रथा से मनुष्य का नैतिक पतन हो जाता है। वह सार्वजनिक प्रश्नों पर निष्पक्ष दृष्टि से विचार नहीं करता, वरन् अपने दल के दृष्टिकोण से विचार करता है।

दोषों को दूर करने के उपाय--उपर्युक्त वर्णन से पता लगता कि दलबन्दी की प्रथा अत्यन्त ही दोषपूर्ण है। परन्तु यह समझ में नहीं आता कि दलों को समाप्त करके प्रजातन्त्रात्मक सरकार किस प्रकार चलाई जा सकती है। दलबन्दी की प्रथा की बुराई तो बहुत से राजनीतिज्ञों ने की है परन्तु इनमें से किसी ने भी यह बताने का प्रयत्न नहीं किया कि इसके बिना वर्तमान सरकारों का संगठन किस प्रकार चलाया जा सकता है।

हमारी सम्मति में दलबन्दी प्रथा को खत्म करने की आवश्यकता नहीं, उसकी बुराइयों को दूर करने की आवश्यकता है। ये बुराइयाँ शिक्षित, चैतन्य, सुदृढ, न्यायपूर्ण और दूरदर्शी जनमत के निर्माण द्वारा ही दूर की जा सकती हैं। राजनीतिक दृष्टि से जागरूक जनता ही दलबन्दी के दोषों का अन्त कर सकती है। हमारे लिए केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि हम राजनीतिक दलों की बुराइयाँ करते रहें, बल्कि यह भी आवश्यक है कि हम अपने जीवन को संयमी, अनुशासित और नैतिक बनायें। जनता के नैतिक धरातल का प्रतिबिम्ब ही राजनीतिक पार्टियों में पाया जाता है। इसलिए यदि हम स्वयं जागरूक बनें तथा जनता को शिक्षित बनायें, उसको नैतिकता का पाठ पढ़ायें, उसे राजनीतिक शिक्षा प्रदान करें, उसे भले-बुरे का ध्यान करायें, सार्वजनिक प्रश्नों के प्रति उसकी रुचि बढ़ाएँ, तभी हम प्रजातन्त्रात्मक शासन के दोषों को दूर कर सकते हैं।

राजनीतिक दलों की सफलता की शर्तें (Conditions for the Success of Political Parties)

प्रजातन्त्र राज्य में जनता को शिक्षित बनाने के अतिरिक्त राजनीतिक दलों को भी उचित नियमों के अनुसार व्यवस्थित किया जाना चाहिए।

(१) सर्वप्रथम, राजनीतिक दलों को राजनीतिक या आर्थिक सिद्धान्तों के आधार पर संगठित करना चाहिए, साम्प्रदायिक, जातीय, भाषा या किसी वर्ग-विशेष के स्वार्थ के आधार पर नहीं। जिन देशों में राजनीतिक दल किसी उसूल पर नहीं, वरन् कुछ लोगों की स्वार्थसिद्धि के आधार पर बनाये जाते हैं वहाँ प्रजातन्त्र राज्य सफल नहीं हो सकता।

(२) राजनीतिक दलों के ऊपर से किसी एक मनुष्य या गुट का प्रभुत्व कम करने के लिए यह आवश्यक है कि उनके विधान में इस प्रकार की शर्तें रक्खी जायें जिनके कारण कोई एक मनुष्य किसी पद पर दो या तीन वर्ष से अधिक न रह सके।

(३) देश में राजनीतिक दलों की संख्या बहुत अधिक नहीं होनी चाहिए, जिससे कि सरकार का काम स्थायी रूप से चल सके। अधिक राजनीतिक दलों के कारण विधान

सभा के सदस्य देश की भलाई के काम करने के बजाय मंत्रिमंडलों के तोड़ने-फोड़ने के कार्य में लगे रहते हैं।

योग्यता प्रश्न

१. पाश्चात्य देशों में राजनीतिक दलों की व्यवस्था कौन से सिद्धान्तों पर की गई है ? क्या भारतीय दल इसी प्रकार के सिद्धान्त पर विभाजित किये गये हैं ? दलप्रथा के क्या-क्या लाभ हैं ? (यू० पी०, १९३५)

२. दल-व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्तों को समझाइये और दलों के कार्य और प्रभाव का वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९३६)

३. राजनीतिक दल की व्याख्या कीजिए। दल-प्रथा वरदान नहीं वरन् शाप है, क्या आप इस मत से सहमत हैं ?

४. राजनीतिक दल सार्वजनिक मत को शिक्षित बनाने में, शासन की व्यवस्था करने में कहाँ तक उपयोगी सिद्ध होते हैं ? (यू० पी०, १९४०)

५. दल-शासन का क्या अर्थ है ? इसके गुण और दोष समझाइये। (यू० पी०, १९४२)

६. राजनीतिक दल का क्या अर्थ है ? यह दल जनता को शिक्षित बनाने तथा शासन को चलाने में किस प्रकार सहायता देते है ? (यू० पी०, १९४४, १९४९, १९५५; पंजाब, १९५२, १९५५)

७. राज्य के संचालन में और नागरिक को राजनीतिक शिक्षा देने में राजनीतिक दल कहाँ तक सहायक होते हैं ? (यू० पी०, १९५४; पंजाब, १९५४)

८. "दलप्रणाली में दोष होते हुए भी प्रजातन्त्र के फूल में काँटों के समान हमें इसे सहन करना होगा।" क्या प्रजातन्त्र में दल प्रणाली इतनी आवश्यक है ? इसकी सार्थकता तथा गुण और दोषों का वर्णन कीजिए। (यू० पी०, १९५७)

अध्याय २०

जनमत

(Public Opinion)

जनमत का महत्व (Importance of Public Opinion)

प्रजातंत्र का अर्थ जनता का शासन है। इसलिए प्रजातन्त्र में जनमत की विशेष महत्ता है। आधुनिक युग में, जहाँ राज्य के कार्य इतने व्यापक हो गए हैं कि वे नागरिक-जीवन की प्रत्येक अवस्था को ही प्रभावित करते हैं, शासन के कार्यों को नियमित करने और सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ बनाने के लिए प्रगतिशील जनमत की महत्ता और अधिक बढ गई है। संक्षेप में हम जनमत के महत्व को इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं :—

(१) सामाजिक जीवन का नियन्त्रण—जनमत, सामाजिक जीवन के विभिन्न संगठनों के कार्यों और आचारो को नियन्त्रित करने के लिए आवश्यक है। मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते अपने पडोसियो के प्रति उदासीन नही रह सकता, और विशेषकर उन लोगों के विचारों के प्रति जिनका उसके दैनिक जीवन से घनिष्ठ सम्पर्क है। जनमत विभिन्न संस्थाओ के लोगों को सार्वजनिक हित के विरुद्ध काम करने से रोकता है। वह संस्थाओं को इस प्रकार काम करने के लिए विवश करता है कि जिससे मानव-व्यक्तित्व की अधिकाधिक उन्नति हो सके।

(२) सरकार का नियन्त्रण—जनमत सरकार के कामो का इस उद्देश्य से निरीक्षण करता है जिससे वह नागरिकों के अधिकाधिक हित के लिए कार्य कर सके।

(३) अधिकारों का संरक्षण—स्वस्थ जनमत शासन को उन स्वार्थी तथा पदलोलुप व्यक्तियों के हाथो में जाने से रोकता है जो राज्य के यन्त्र को अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए काम में लाना चाहते हैं। इस प्रकार वह नागरिको के अधिकार व स्वतंत्रता की रक्षा करता है। जनमत ऐसा साधन है जिसके द्वारा अधिकांश लोगों के विचार, राज्य के सर्वोच्च कर्मचारियों तक पहुँचाये जा सकते हैं। प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में शासन को नियन्त्रित रखने के लिए यह सबसे शक्तिशाली यन्त्र है। यह शासकों को इस प्रकार कार्य करने के लिए विवश करता है जिससे वे जनता के अधिकाधिक हित के लिए काम कर सकें।

वर्तमान राज्य विधान सभा में विरोधी दल के सदस्यों की आलोचना की इतनी परवाह नही करते, जितनी उस जनमत की जिसका भान उन्हें सार्वजनिक सभाओं, नेताओं के भाषणों, समाचार-पत्रों तथा उपचुनाव के परिणामों से होता है। सत्ताप्राप्त राजनीतिक दल उपचुनाव में अपने विरोधियों की जीत से इतने भयभीत हो जाते हैं कि तुरन्त ही वे अपनी नीति में परिवर्तन करके जनता को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न करते हैं।

प्रजातन्त्र और जाग्रत जनमत (Democracy and Vigilant Public Opinion)

प्रजातंत्र शासन की सफलता के लिए उदासीन नागरिकों की नहीं, वरन् जाग्रत, चैतन्य, कर्तव्यशील तथा बुद्धिमान् नागरिकों की आवश्यकता होती है। ऐसे ही नागरिक सच्चे जनमत का निर्माण कर सकते हैं तथा सरकार को उसके कर्तव्य के प्रति सचेष्ट रख सकते हैं। ऐसे नागरिकों का यह भी धर्म है कि वह अपनी सरकार को उन बातों के लिए प्रशंसा करें जिनके द्वारा उसका हित-साधन होता है। कुछ लोग सरकार की निरन्तर आलोचना करते रहना अपना पेशा-सा बना लेते हैं; यह बात उचित नहीं। आलोचना केवल ऐसी होनी चाहिए जिससे शासक अपनी त्रुटियों का अनुभव कर सकें तथा अपनी नीति में सुधार कर सकें। आलोचना रचनात्मक होनी चाहिए, खण्डनात्मक नहीं।

तानाशाही और जनमत (Dictatorship and Public Opinion)

तानाशाही शासन की वह व्यवस्था है जो जनमत के आधार पर संगठित नहीं की जाती, वरन् जनमत को अपने अनुरूप बनाने का प्रयत्न करती है। इस सरकार में जनमत का शासन पर नियंत्रण नहीं रहता, वरन् शासन का जनमत पर अधिकार रहता है। सरकार जनता के समस्त यन्त्रों, समाचार-पत्रों, रेडियो, मंच, शिक्षा संस्थाओं, राजनीतिक साहित्य, सिनेमा, चित्रकला इत्यादि सभी प्रचार-साधनों को अपने नियंत्रण में रखती है। तानाशाही शासन में भाषण की स्वतंत्रता नहीं होती; जनता अपनी इच्छानुसार संस्थाओं का संगठन भी नहीं कर सकती। देश के सारे प्रचार-साधन सरकार की नीति का ही ढोल पीटते हैं। विचारों की स्वतंत्रता के लिए तानाशाही शासन में कोई स्थान नहीं होता। यहाँ तक कि देश की शिक्षा प्रणाली तथा सांस्कृतिक संस्थाओं का प्रयोग भी सरकार की नीति का ही समर्थन करने के लिए किया जाता है।

तानाशाही शासन में केवल एक ही राजनीतिक दल का अस्तित्व रह सकता है, अर्थात् तानाशाही दल का। शेष सब दल भंग कर दिये जाते हैं और उनके नेताओं को जेल की चहारदीवारियों में बन्द कर दिया जाता है। शासन के प्रति किये गये प्रत्येक विरोध का सख्ती के साथ दमन किया जाता है, और आलोचकों को बन्दीगृहों में डालकर या फाँसी के तख्तों पर चढ़ाकर उनका मुँह सदा के लिए बन्द कर दिया जाता है। तानाशाही शासन में पुलिस, सेना और गुप्तचरों का शासन रहता है। जनता इतनी डरी हुई होती है कि वह निर्भीकतापूर्वक अपने विचारों को दूसरों पर प्रकट नहीं कर सकती।

तानाशाही के उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इस प्रकार के शासन में जनमत जैसी कोई चीज नहीं होती। जनमत के नाम से केवल तानाशाह की नीति का ही ढोल पीटा जाता है। इस प्रकार के शासन की सफलता केवल क्षणिक होती है। जनता को ज्यों ही अवसर मिलता है वह अपने शासकों के विरुद्ध उठ खड़ी होती है और इस प्रकार के शासन का अन्त करके प्रजातन्त्रीय शासन की व्यवस्था कायम कर देती है।

जनमत क्या है (What is Public Opinion)

जनमत की परिभाषा सरल नहीं है। साधारण बोलचाल में जनमत का आशय लोग

उस मत से समझते हैं जो लोग सार्वजनिक प्रश्नो के सम्बन्ध में कायम कर लेते हैं। परन्तु वास्तव में सार्वजनिक महत्व के किसी भी प्रश्न पर सब लोगों की कभी भी एक राय नही होती। भिन्न-भिन्न मनुष्य भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से सार्वजनिक प्रश्नों पर विचार करते हैं। इनमें से कुछ अपने व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से उस प्रश्न को देखते हैं, कुछ अपनी जाति और कुछ अपने धर्महित के दृष्टिकोणों से। अधिकतर मनुष्य ऐसे प्रश्नों पर अपनी कोई स्वतन्त्र राय नहीं रखते। वह किसी समाचार-पत्र या पुस्तक को पढकर या किसी नेता का भाषण सुनकर, या किसी सभा-सोसायटी में बड़े व्यक्तियों की बातें सुनकर अपनी राय कायम कर लेते हैं; और फिर बाहर जनता मे उस मत का इस प्रकार प्रचार करते हैं जैसे वह उनकी अपनी स्वतन्त्र राय हो। इस प्रकार प्रत्येक समाज में केवल थोडे से ही ऐसे लोग होते हैं, जो स्वतन्त्ररूप से सार्वजनिक प्रश्नो पर विचार करने की क्षमता रखते हैं। ऐसे व्यक्ति भी निष्पक्ष भाव से सार्वजनिक प्रश्नों पर विचार नही करते, वे भी अपना मत स्थिर करने में स्वार्थी भावनाओं से प्रभावित होते हैं।

तो प्रश्न उठता है कि वास्तविक जनमत का क्या अर्थ है? ब्राइस ने अनेक मतों पर विचार करने के पश्चात् जनमत के सही आशय के सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं—'**वास्तविक जनमत वह मत है जो विवेक और स्वार्थरहित बुद्धि के आधार पर अवलंबित हो और जो किसी जाति या वर्ग विशेष का नहीं वरन् सारे समाज की हित-कामना से प्रभावित हो।**'[1] इस प्रकार जनमत में निम्न तत्वों का होना आवश्यक है —

(१) **सार्वजनिक हित की कामना**—वास्तविक जनमत वही है जो किसी एक वर्ग की हित-साधना नहीं करता, वरन् समस्त समाज की हित-साधना करता है।

(२) **विवेकशील तथा स्वार्थरहित मत**—केवल ऐसे ही व्यक्ति जनमत को व्यक्त कर सकते हैं जिन्हें अच्छे और बुरे का पूरा ज्ञान हो, तथा जो स्वार्थ-सिद्धि की भावना से पूर्णत रिक्त हों। जनमत के लिए यह आवश्यक नही कि वह बहुमत द्वारा समर्थित हो। कुछ थोडे से विवेकशील तथा बुद्धिमान सर्वजन हितैषी नेता भी सही जनमत को व्यक्त कर सकते हैं। हमारे देश के स्वतन्त्रता सग्राम काल में कितने ही ऐसे अवसर आए जब महात्मा गाधी ने सार्वजनिक प्रश्नों के सम्बन्ध में एक राय व्यक्त की, और देश की अधिकतर जनता ने उसे बुरा समझा, परन्तु अन्त में यही सिद्ध हुआ कि भविष्यद्रष्टा महात्मा गाधी की राय ही जनता के स्थायी हित की दृष्टि से सही थी, दूसरी बहुमत द्वारा व्यक्त राय केवल क्षणिक भावना पर आधारित थी। चौराचौरी काड के पश्चात् महात्मा गाधी द्वारा सत्याग्रह का स्थगन तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के लिए उनके द्वारा किए गए अनेक उपवास इसके उदाहरण हैं।

---

1 True public opinion is an opinion based on reason which aims at the welfare of the whole community and not of any particular section of it.

(३) **नैतिकता तथा न्याय पर आधारित मत**—जनमत की श्रेष्ठता के लिए यह भी आवश्यक है कि वह नैतिकता तथा न्याय के उच्च आदर्शों पर आधारित हो। स्पष्ट है कि कोई भी मत जिसका आधार सर्वजन कल्याण होगा, किसी अन्य भावना पर आधारित नहीं हो सकता।

(४) **अल्पसंख्यक जातियों के हित की रक्षा**—सच्चा जनमत ऐसी राय नहीं हो सकती जिसमें अल्पसंख्यक जातियों के हितों का कोई ध्यान न रक्खा जाय। ऐसी राय बहुमत हो सकती है, परन्तु जनमत नहीं। जनमत सब के कल्याण पर आधारित मत होता है।

यदि जनमत का उपरोक्त आशय है तो दूसरा प्रश्न उठता है कि ऐसे जनमत का पता किस प्रकार लगाया जाय। ब्राइस का कथन है कि अखबारों से जनमत का पता नहीं लगाया जा सकता क्योंकि अखबारों का संचालन कुछ स्वार्थी पूंजीपतियों द्वारा किया जाता है। सार्वजनिक सभाओं द्वारा भी जनमत का पता नहीं लग सकता क्योंकि घनी आबादी वाले क्षेत्रों में किसी भी प्रभावशाली वक्ता द्वारा भारी भीड़ इकट्ठी की जा सकती है। चुनावों से भी जनमत का पता नहीं चलता क्योंकि चुनावों की सफलता उम्मीदवारों की धृष्टता, प्रचारकला तथा कूटनीति पर आधारित होती है, सचाई पर नहीं।

इसलिए ब्राइस के मतानुसार किसी समाज में केवल ऐसे ही लोग जनमत को व्यक्त कर सकते हैं जो विचारशील हैं, बुद्धिमान हैं तथा उचित-अनुचित में भेद कर सकते हैं।

यदि ऐसे लोगों में मतभेद है तो इन व्यक्तियों के बहुमत द्वारा अनुमोदित राय सच्चा जनमत कहलायेगी। किसी देश में ऐसे व्यक्तियों की संख्या एक से लेकर करोड़ों तक हो सकती है। ऐसी संख्या जितनी भी अधिक होगी जनमत उतना ही सुदृढ़, शक्तिशाली तथा प्रभावकारी होगा।

सही जनमत तैयार करने के रास्ते में रुकावटें (Hindrances to the Creation of Sound Public Opinion)

देश में विचारशील और निष्पक्ष व्यक्तियों को पैदा करने के लिये विशेष वातावरण की आवश्यकता होती है। इस वातावरण को उत्पन्न करने में समाचारपत्र और पुस्तकें, राजनीतिक दल, सभा और व्याख्यान तथा शिक्षा एवं धर्म सम्बन्धी संस्थाएँ महत्त्वपूर्ण भाग लेती हैं। यदि यह सारे प्रचार के साधन नैतिकता के आधार पर अपने कर्तव्य का पालन करें तो सही जनमत का आसानी से निर्माण हो सकता है। परन्तु यदि यही प्रचार के साधन नैतिकता का आश्रय छोड़कर असत्य और धूर्तता की शरण लें, तो देश में सच्चा जनमत कभी भी नहीं बन सकता। वर्तमान राज्यों में निम्नलिखित रुकावटें सच्चे जनमत के निर्माण में आम तौर पर पेश आती हैं :—

(१) समाचारपत्रों द्वारा झूठा, शरारत भरा और भ्रमोत्पादक प्रचार।
(२) सार्वजनिक प्रश्नों के प्रति स्वार्थपूर्ण साम्प्रदायिक एवं संकुचित दृष्टिकोण।
(३) नागरिक जागरूकता का अभाव एवं सामाजिक प्रश्नों के प्रति घोर उदासीनता।

(४) देश के राजनीतिक दलों का आर्थिक व राजनीतिक सिद्धान्तों को छोड़ कर साम्प्रदायिक, धार्मिक, जातीय तथा व्यक्तिगत स्वार्थों के आधार पर निर्माण।

(५) राजनीतिक साहित्य व शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकों के द्वारा रूढ़िवादी व संकुचित विचारों का प्रचार।

सही जनमत बनाने तथा उसके व्यक्त करने की शर्तें (Conditions for the expression and formulation of sound public opinion)

सच्चे जनमत के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि हम उन तमाम बाधाओं को दूर कर सकें, जिनका वर्णन अभी हमने ऊपर किया है, इसके साथ ही इस बात की आवश्यकता है कि सच्चे जनमत के निर्माण के लिए निम्नलिखित अवस्थाएँ उत्पन्न की जायें —

(१) शिक्षित जनता—अशिक्षा सामाजिक जीवन की सबसे बड़ी शत्रु है। उचित और पर्याप्त शिक्षा के अभाव में मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता। वह शिक्षा के बिना कोरा भावुक प्राणी रहता है और तर्क से काम नहीं ले सकता।

(२) आदर्श शिक्षा-प्रणाली—किसी देश की शिक्षा-प्रणाली वहां की जनता की बुद्धि और स्वभाव के अनुकूल होनी चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य नागरिकों के चरित्र का उत्थान तथा जनता में राजनीतिक चेतना उत्पन्न करना होना चाहिए। शिक्षा प्रदान करने में छोटे और बड़े, ऊँच और नीच का भेदभाव नहीं होना चाहिए। सबको समान रूप से आदर्श नागरिक की शिक्षा मिलनी चाहिए।

(३) निर्धनता का अन्त—सच्चे जनमत के निर्माण के लिए यह भी आवश्यक है कि देश से गरीबी और भुखमरी का अन्त होना चाहिए। ऐसे देश में जहाँ की अधिकांश जनता को एक वक्त पेट भर खाना भी न मिलता हो, जहाँ के मजदूरों को पेट के धन्धे से ही फुर्सत न मिलती हो, जहाँ के किसानों को सदा ही अकाल का भय बना रहता हो, यह कैसे आशा की जा सकती है कि जनता सार्वजनिक प्रश्नों पर निष्पक्ष रूप से विचार कर सकेगी। ऐसे देश में केवल धनिक लोगों का मत ही जनमत कहलायेगा।

(४) साम्प्रदायिकता का अन्त—सच्चे जनमत के निर्माण के लिए यह भी आवश्यक है कि जनता अपने जीवन से संकुचित तथा साम्प्रदायिक भावों को निकाल कर बाहर कर दे। जनता में राष्ट्रीय प्रश्नों पर एक व्यापक दृष्टिकोण से अध्ययन करने की क्षमता होनी चाहिए।

(५) निष्पक्ष समाचार-पत्र—असत्य, भ्रमपूर्ण खबरों को उड़ाने वाले अखबार और धार्मिक, जातीय एवं साम्प्रदायिक भावनाओं से ओत-प्रोत सम्पादक सच्चे जनमत के निर्माण में भारी बाधक सिद्ध होते हैं। प्रजातन्त्रीय देशों में ऐसा भी देखने में आता है कि बड़े-बड़े पूँजीपति बहुत से अखबारों को खरीद कर अपने अधीन कर लेते हैं, और फिर उनके द्वारा अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए झूठा प्रचार करते हैं। एक सच्चे जनमत के निर्माण के लिए ऐसे पत्रों का भी बन्द होना आवश्यक है।

(६) राजनीतिक दलों का आर्थिक एवं राजनीतिक सिद्धान्तों पर निर्माण—

प्रजातन्त्रीय देशों में राजनीतिक दलों का निर्माण, धार्मिक, जातीय अथवा साम्प्रदायिक सिद्धान्तों पर कदापि नहीं होना चाहिये, वरन् शुद्ध आर्थिक और राजनीतिक सिद्धान्तों पर होना चाहिए।

जनमत बनाने व व्यक्त करने के साधन (Instruments for the formulation and Expression of public opinion)

हम ऊपर बता चुके हैं कि लोकमत स्वयं नहीं बनता बल्कि बनाया जाता है। उसके बनाने और व्यक्त करने के ९ मुख्य साधन हैं :—

(१) समाचार-पत्र, (२) सार्वजनिक सभा, (३) राजनीतिक दल, (४) राजनीतिक साहित्य, (५) रेडियो और सिनेमा, (६) शिक्षा सम्बन्धी संस्थाएँ, (७) चुनाव, (८) धार्मिक संगठन और (९) अफवाह।

(१) समाचार पत्र—समाचार-पत्रों का लोकमत पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। अधिकतर जनता समाचार-पत्रों को पढ़कर ही सार्वजनिक घटनाओं के विषय में अपनी राय निर्धारित करती है। समाचार-पत्र आधुनिक सभ्यता के प्रधान अंग हैं। वे प्रजातंत्र के धर्मग्रंथ हैं। स्वतन्त्र, निष्पक्ष और न्यायपूर्ण पत्र किसी भी देश के लिए गौरव का कारण हो सकते हैं। वे हमें राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं से अवगत कराते हैं, तथा शासन का जनमत के साथ संपर्क बनाये रखने में सहायता प्रदान करते हैं। वे शासन के कार्यों की स्वतन्त्रता और निर्भीकतापूर्वक आलोचना करके जनमत का नेतृत्व करते हैं। इसलिए यह नितांत आवश्यक है कि समाचार-पत्रों को शासन अथवा जाति अथवा धर्म या संप्रदाय एवं पूंजीपतियों के अधिकार से मुक्त रखा जाय। ऐसे स्वतन्त्र पत्र ही जनता का नेतृत्व कर सकते हैं।

जहाँ अच्छे समाचार-पत्र जनता की सेवा करते हैं वहाँ सिद्धान्तहीन पत्र अपने झूठे, शरारतभरे तथा घृणास्पद प्रचार से जनमत को दूषित भी कर देते हैं। आज हमारे देश में कितने ही ऐसे पत्र हैं जो हिंसा का प्रचार तथा उत्तेजनात्मक समाचार का प्रकाशन ही अपना पेशा बनाये हुए हैं। ऐसे पत्र आधुनिक सभ्यता के लिए भारी कलंक हैं। प्रत्येक देश की सरकार का कर्त्तव्य है कि वह ऐसे पत्रों के प्रकाशन को रोके और जनता को उनके कुप्रभाव से बचाये।

(२) सार्वजनिक सभाएँ—सभा और व्याख्यानों द्वारा देश के बड़े-बड़े नेता जनता के सामने जाकर सार्वजनिक प्रश्नों पर अपना मत प्रकट करते हैं। इन सभाओं से सार्वजनिक कष्टों को व्यक्त करने तथा शासन के कार्यों की आलोचना का भी अवसर मिलता है। इस प्रकार लोकमत के शिक्षण तथा निर्माण में सार्वजनिक सभाएँ भी महत्त्वपूर्ण भाग लेती हैं।

(३) राजनीतिक दल—राजनीतिक दल भी सार्वजनिक प्रचार के सबल साधन हैं। राजनीतिक दलों के नेता अपनी वक्तृत्वशक्ति द्वारा लोगों को प्रभावित करते हैं और जनता में राजनीतिक शिक्षा फैलाते हैं। इस प्रकार वह भी प्रगतिशील जनमत के निर्माण में सहायक सिद्ध होते हैं।

(४) **राजनीतिक साहित्य**—यह भी ज्ञान-प्रचार और मत प्रकट करने का एक शक्तिशाली साधन है। राजनीतिक पुस्तकें विद्वान् लेखकों द्वारा लिखी जाती हैं और स्वभावतः वे महान् आदर की दृष्टि से पढ़ी जाती हैं।

(५) **रेडियो और सिनेमा**—रेडियो और सिनेमा मनोरंजन के साथ-साथ प्रचार का कार्य भी करते हैं। इनके द्वारा अंकित प्रभाव बहुत स्थायी होता है। इसके अतिरिक्त रेडियो और सिनेमा का प्रचार-क्षेत्र बहुत विस्तृत होता है। परन्तु समाचार-पत्रों के समान, खराब हाथों में पड़ने से, प्रचार के यह साधन भी जनता की अत्यन्त हानि कर सकते हैं।

(६) **शिक्षा सम्बन्धी संस्थाएँ**—यह संस्थाएँ देश के भावी नागरिक तैयार करती हैं, तथा राष्ट्र के चरित्र-निर्माण में सहायता पहुँचाती हैं। परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि स्कूल में पढ़ाई जाने वाली पुस्तकें ऐसी होनी चाहिए जो विद्यार्थियों के हृदय पर सच्ची नागरिकता की छाप लगा सकें।

(७) **चुनाव**—देश के जनमत को प्रकट करने का चुनाव भी महत्वपूर्ण साधन है। इनके द्वारा विभिन्न राजनीतिक दलों को जनता के सामने अपने कार्यक्रम और नीति को रखने का मौका मिलता है। जनता जिस दल के कार्य-क्रम को पसन्द करती है, उसी के पक्ष में राय देती है।

(८) **धार्मिक संगठन**—धर्म ने सदा से ही मनुष्यों के मस्तिष्क पर एक जबर्दस्त प्रभाव डाला है। पिछड़े हुए देशों में इसका प्रभाव बहुत अधिक होता है। इसलिए धार्मिक संस्थाएँ जनमत के निर्माण में प्रमुख भाग लेती हैं। परन्तु सही जनमत के निर्माण के लिए आवश्यक है कि धार्मिक संस्थाएँ अपने संकुचित दृष्टिकोण से ही राजनीतिक प्रश्नों पर विचार न करें बल्कि एक उदार दृष्टिकोण से इन प्रश्नों का अध्ययन करें। आजकल विशेषकर हमारे देश में, कितनी ही धार्मिक संस्थाएँ 'धर्म खतरे में है' का नारा लगाकर भोले-भाले भावुक लोगों को पथभ्रष्ट कर देती हैं।

(९) **अफवाहें**—प्रचार के साधनों में अफवाहों का भी काफी महत्वपूर्ण साधन है। बहुत बार जिम्मेदार व्यक्ति भी सचाई का पता लगाने के लिए जान-बूझकर अफवाहें फैलाते हैं। पत्रकार इन खबरों को फीलर (Feeler) के नाम से पुकारते हैं। उदाहरणार्थ सन् १९४२ में गांधीजी की गिरफ्तारी के पश्चात् सरकार ने यह नहीं बताया कि उन्हें कहाँ रक्खा गया है। इस पर समाचार पत्रों में उनकी बीमारी तथा अनशन के बारे में तरह-तरह की अफवाहें छपने लगी। सरकार को स्थिति स्पष्ट करने के लिए कहना पड़ा कि गांधी जी अमुक स्थान पर हैं तथा उनका स्वास्थ्य ठीक है।

बहुत बार अफवाहों का प्रयोग जनता को आतंकित करने के लिए भी किया जाता है। हिटलर और उसके साथी इस कला में बहुत कुशल थे। अपनी जनता को साथी सरकारों के विरुद्ध भड़काने के लिए वह तरह-तरह की झूठी अफवाहों का सहारा लेते थे।

अफवाहों के द्वारा कुशल राजनीतिज्ञ बहुत बार चुनावों में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त कर लेते हैं। ठीक राय पड़ने के अवसर पर ऐसी झूठी खबरें उड़ा दी जाती हैं कि विरोधी

उम्मीदवार को राय पड़नी बन्द हो जाय। दिल्ली में एक बार चुनाव के अवसर पर यह अफवाह फैला दी गई कि प्रतिद्वन्द्वी उम्मीदवार मतदाता को रिश्वत देते हुए गिरफ्तार कर लिया गया। परिणाम यह हुआ कि उसे मत मिलने बन्द हो गये।

झूठी अफवाहों के फैलाने पर इसीलिए सरकार को कड़ी रोक लगानी चाहिए। इससे राष्ट्र का बहुत अहित भी हो सकता है।

योग्यता-प्रश्न

१. आधुनिक राज्य में जनमत कौन-सा कार्य अदा करता है? जनमत किस तरह निर्मित और व्यक्त किया जाता है? स्वस्थ जनमत के निर्माण और प्रकट करने में जो बातें बाधकस्वरूप सिद्ध होती हैं उन पर प्रकाश डालिए। (यू० पी०, १९३६)

२. प्रजातांत्रिक राज्यों में जनमत जिन मार्गों द्वारा प्रकट किया जाता है उनका वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९४०)

३. सुदृढ़ जनमत निर्माण करने में स्वतन्त्र समाचार-पत्र और ईमानदार समाचार-पत्र की आवश्यकता पर प्रकाश डालिये।

४. जनमत के अर्थ पर प्रकाश डालिये। किसी भी देश में सुदृढ़ जनमत निर्माण करने में कौन-सी बाधाएँ उत्पन्न होती हैं?

५. जनमत क्या है? किसी भी देश में सुदृढ़ जनमत के निर्माण करने में कौन-सी शर्तें जरूरी हैं? ये शर्तें भारतवर्ष में कहाँ तक पाई जाती हैं? (यू० पी०, १९४५; पंजाब १९५१)

६. जनमत से आप क्या समझते हैं? यह किस प्रकार व्यक्त किया जाता है? (यू० पी०, १९४८, १९५१)

७. लोकमत किसे कहते हैं? श्रेष्ठ लोकमत के निर्माण के लिए किन-किन बातों का होना आवश्यक है? (यू० पी०, १९५५; पंजाब, १९५५)

स्थानीय स्वराज्य (Local self-Government)

लोकतंत्र का सर्वोत्तम शिक्षणालय और उसकी सफलता का मुख्य आधार स्थानीय स्वायत्त शासन की प्रणाली है।

—लार्ड ब्राइस

स्थानीय स्वराज्य का अर्थ म्यूनिसिपल बोर्ड, जिला बोर्ड, ग्राम पंचायत, इम्प्रूवमेन्ट ट्रस्ट, पोर्ट ट्रस्ट इत्यादि उन संस्थाओं से होता है जिन्हें स्थानीय मामलों में, जैसे शिक्षा का प्रबन्ध, सफाई, स्वास्थ्य-रक्षा, पानी, रोशनी, सड़कों तथा नाली इत्यादि के इंतजाम का अधिकार स्वयं होता है। स्वायत्त शासन की संस्थाएँ संसार के प्रायः सभी देशों में पाई जाती हैं। उपयोगिता, कुशलता, मितव्ययता तथा नागरिक शिक्षा के दृष्टिकोण से इन संस्थाओं का अस्तित्व अत्यन्त ही आवश्यक समझा जाता है।

स्थानीय स्वराज्य की उपयोगिता

(१) सुविधाजनक प्रबन्ध (Administrative Convenience)—आधुनिक राज्यों का आकार इतना बड़ा होता है कि देश की केन्द्रीय सरकार अथवा प्रान्तीय सरकारें अपने हाथों में केवल अन्तर्राष्ट्रीय, सम्बन्ध, शान्ति और व्यवस्था, मुद्रा, बैंक तथा उद्योग-धन्धों की उन्नति इत्यादि महत्त्वपूर्ण विषयों का प्रबन्ध ही ले सकती हैं। हमारे घरों के सामने वाली सड़कों व नालियों की सफाई, रोशनी व पानी का प्रबन्ध, अस्पताल और दवाखानों का इन्तजाम, जच्चाघर और दाइयों का प्रबन्ध, टूटे-फूटे मकानों और सड़कों के गड्ढों की मरम्मत, पार्क और खेलने इत्यादि के स्थानों का प्रबन्ध—यह कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनके सम्बन्ध में दूर पर रहने वाली केन्द्रीय या प्रान्तीय सरकारें ठीक जानकारी नहीं रख सकतीं और इस कारण इन विषयों का प्रबन्ध सफलतापूर्वक तथा हर स्थान की सुविधा के अनुसार नहीं कर सकतीं। इन विषयों का उचित प्रबन्ध तो किसी विशेष स्थान के निवासी ही कर सकते हैं। क्योंकि इनके कुप्रबन्ध से उन्हें ही दिक्कतों का सामना करना पड़ता है। इसलिए स्वायत्त शासन की सर्वप्रथम उपयोगिता जनता की प्रतिदिन की आवश्यकताओं का उत्तम और सुविधाजनक प्रबन्ध है।

(२) शासन की कुशलता (Efficiency)—स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं से केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों का कार्यभार बहुत कम हो जाता है। छोटे-छोटे मामलों की देखभाल से छुटकारा पाकर, वे अपनी शक्ति देश के बड़े-बड़े और महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को हल करने में लगा सकती हैं। इस कार्य-विभाजन से सरकार के काम की कुशलता (Efficiency) बढ़ जाती है और वह तेजी से अपने काम को सम्पन्न कर सकती है।

(३) मितव्ययता (Economy)—स्थानीय संस्थाओं से सरकार के खर्चे में भी बचत हो जाती है। यदि ये संस्थाएँ न होतीं तो सरकार को अनेक कर्मचारियों को नियुक्त करके स्थानीय विषयों का प्रबन्ध करना पड़ता। स्थानीय संस्थाओं के सदस्य बिना किसी वेतन के ही काम करते हैं और इस प्रकार देश की सरकार के खर्चे में बचत हो जाती है।

(४) व्यावसायिक कार्य (Municipal Trading)—स्थानीय संस्थाओं को अनेक व्यावसायिक कार्य भी करने पड़ते हैं जिनसे न केवल जनता को ही सुविधा होती है, वरन् उनको स्वयं भी आर्थिक लाभ होता है और अनेक लोगों को बड़े-बड़े व्यवसायों के प्रबन्ध का अनुभव हो जाता है। प्रायः प्रत्येक देश में ही बड़े नगरों की म्युनिसिपलिटियां पानी (Water Works), बिजली, ट्राम्वे, बस, ट्राली, बाजारों तथा कुछ कारखानों का प्रबन्ध करती हैं। यह व्यवसाय ऐसे हैं कि इन्हें केन्द्रीय सरकार ठीक प्रकार से नहीं चला सकती और जनता की सुविधा तथा बचत के दृष्टिकोण से इनको व्यक्तिगत हाथ में भी नहीं दिया जा सकता। इससे प्रायः प्रत्येक देश में ही ऐसे व्यवसायों का प्रबन्ध स्थानीय संस्थाओं को ही दिया जाता है। पाश्चात्य देशों में तो स्थानीय संस्थाएँ और भी अनेक व्यावसायिक कार्य करती हैं। वह अपनी ओर से सिनेमाओं, थियेटरों, नृत्य-घर, स्केटिंग हाल (Skating Hall), स्नानगृह, गोशाला, भोजनालय, रेस्टोरेंट तथा होटलों इत्यादि का भी प्रबन्ध करती हैं। इससे जनता को हर प्रकार की सुविधाएँ बहुत सस्ती कीमत में ही मिल जाती हैं।

(५) नागरिक शिक्षा (Civic Education)—स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं के पक्ष में सबसे जबरदस्त दलील उनका शिक्षा सम्बन्धी मूल्य है। वह नागरिक तथा राजनीतिक शिक्षा का एक प्रधान साधन है। वह नागरिकों में उन गुणों तथा भावों का संचार करती है जिन पर किसी देश की प्रजातन्त्रीय संस्थाओं की सफलता निर्भर है। वह जनता में प्रेम, सहयोग, सेवा तथा बलिदान के भाव और सार्वजनिक प्रश्नों के प्रति रुचि पैदा करती है।

स्थानीय प्रश्न अर्थात् सफाई का प्रबन्ध, यातायात के साधनों की सुविधा, बगीचों तथा आमोद-प्रमोद के स्थानों का प्रबन्ध इत्यादि—यह कुछ ऐसे विषय हैं जिनमें किसी स्थान की जनता, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के मुकाबले में, अधिक दिलचस्पी लेती है, क्योंकि इनके सुप्रबन्ध पर ही उसके दैनिक जीवन का सुख तथा अच्छाई निर्भर करती है। स्थानीय संस्थाओं के द्वारा मनुष्यों की एक बड़ी संख्या राजनीतिक अनुभव और शिक्षा प्राप्त कर लेती है। ऐसे मनुष्य आगे चलकर देश के राजनीतिक क्षेत्र में अधिक अच्छा काम कर सकते हैं। इसलिए कुछ विद्वानों का कथन है कि स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएँ राष्ट्रीय स्वराज्य की जड़ हैं।

प्रजातन्त्र की सफलता के लिए स्थानीय संस्थाएँ सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य करती हैं। इन संस्थाओं के द्वारा जनता में सार्वजनिक कार्यों के प्रति रुचि पैदा होती है। वह अपने स्वार्थ की बातों से परे हटकर समान हित के कार्यों में भाग लेने लगती है। नागरिक न्याय-प्रिय, नम्र तथा शीलवान बन जाते हैं। वे आपस में मिल-जुलकर विचार करने लगते हैं।

डी टोकेविले (De Tocqueville) का कहना है कि नागरिकों की स्थानीय संस्थाओं में स्वतन्त्र राष्ट्रों की शक्ति सन्निहित रहती है। जिस प्रकार प्राथमिक शिक्षा के लिए विज्ञान की शिक्षा आवश्यक है, ठीक उसी प्रकार स्वाधीनता के लिए नागरिकों की सभाएँ आवश्यक हैं। स्वतन्त्र राष्ट्र सरकार का संगठन तो कर सकता है परन्तु स्थानीय संस्थाओं के बिना, उसमें एक सुसंस्कृत राष्ट्र की भावनाएँ जागृत नहीं हो सकती।[1]

स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें (Conditions for the success of Local Self Government)

कुछ देशों में, विशेषकर भारतवर्ष में ऐसा देखने में आया है, कि स्थानीय संस्थाएँ अधिक सफल नहीं हो पाई हैं। जनता की सेवा करने के बजाय वे उनके दु.ख तथा मुसीबत का कारण बन गई हैं। इन संस्थाओं ने दलबन्दी, बेईमानी, जालसाजी, रिश्वत तथा झूठ का प्रचार किया है। इन संस्थाओं के सदस्य जनता के हित की इतनी परवाह नहीं करते जितनी कि अपनी स्वार्थसिद्धि की। इन्हीं सब दोषों के कारण कुछ लोगों ने कहना आरम्भ कर दिया है कि 'स्थानीय संस्थाएँ कुप्रबंध तथा सार्वजनिक हित के कामों की अवहेलना' का दूसरा नाम है।

स्वायत्त शासन संस्थाओं की असफलता के अनेक कारण हैं और इनमें सबसे बड़ा यह है कि कुछ देशों में इनकी सफलता के लिए आवश्यक वातावरण वर्तमान नहीं है। स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएँ केवल उस दशा में सफल हो सकती हैं जब उन मनुष्यों में, जिनके ऊपर शासन करती है, निम्नलिखित गुण हों —

(१) जनता में नैतिक सदाचार, ईमानदारी तथा सहयोग का उच्च आदर्श और सार्वजनिक कर्तव्यों के प्रति उत्तरदायित्व की भावना—यदि किसी देश की जनता समान हित के कार्यों के प्रति उदासीन रहती है, या सुस्त, स्वार्थी और अभिमानी है तो स्वायत्त संस्थाएँ सफल नहीं हो सकती। जनता को चाहिए कि वह सहयोग और समझौते का मूल्य तथा सार्वजनिक प्रश्नों पर एक दूसरे के विचारों की इज्जत करना सीखे। उनमें अपने पड़ोसियों के हित की उन्नति के लिए सेवा की भावना विद्यमान होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त, उनमें उच्च व्यापक हित साधना के लिए छोटे स्वार्थों का बलिदान करने की क्षमता होनी चाहिए। स्थानीय हितों की प्राप्ति के लिए उसे राष्ट्रीय हितों के प्रति अन्धा न बन जाना चाहिए। उसमें सार्वजनिक प्रश्नों पर स्वतन्त्र रूप से निर्णय करने की योग्यता होनी चाहिये।

---

१ Local Assemblies of citizens constitute the strength of free nations. Town meetings are to liberty what primary schools are to science; they teach men how to use and enjoy it. A nation may establish a system of free government, but without the spirit of municipal institutions, it cannot have the spirit of liberty." (De Tocqueville)

(२) स्थानीय संस्थाओं की सफलता के लिए दूसरी आवश्यक शर्त यह है कि देश में **लोक-चैतन्य और सजीव जनमत का निर्माण होना चाहिये।** जनता को चाहिये कि वह म्युनिसिपल संस्थाओं के कामों की सदा रचनात्मक आलोचना करती रहे, जिससे कि ये लोग सार्वजनिक हित के कार्यों के प्रति उदासीन न हो जायँ। इसी उद्देश्य से प्रत्येक देश में मतदाताओं की परिषदें (Voters' Council) बननी चाहिए जिससे कि वह स्वतन्त्र रूप से सार्वजनिक प्रश्नों पर विचार कर सकें और म्युनिसिपल सदस्यों को जनता के मत का बोध करा सकें।

(३) **चुनावों के समय निर्वाचकों को चाहिये कि वह अपने प्रतिनिधियों को मत देते समय उनकी योग्यता और सार्वजनिक सेवा का ध्यान रक्खें** और जातीय या पारिवारिक बन्धनों की भावनाओं से प्रभावित न हों।

(४) केन्द्रीय सरकार को भी चाहिए कि वह **स्थानीय संस्थाओं** के काम में अधिक **हस्तक्षेप न करे।** हस्तक्षेप केवल उसी दशा में किया जाना चाहिए जब कि स्थानीय संस्था का प्रबन्ध इतना दूषित हो जाय कि उसको सुधारने का और कोई उपाय शेष न रह जाय।

स्थानीय स्वराज्य की संस्थाएँ

किसी भी देश की स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं का अध्ययन करने से पता चलेगा कि यह संस्थाएँ कई प्रकार की होती हैं। उदाहरणार्थ, प्रत्येक गाँव में ग्राम पंचायतें, छोटे-छोटे कस्बों में टाउन एरिया कमेटी (Town Area Committee), शहरों में म्युनिसिपल बोर्ड तथा बड़े नगरों में कारपोरेशन और इम्प्रूवमेन्ट ट्रस्ट (Corporation and Improvement Trust) होते हैं। अलग-अलग देशों में इन संस्थाओं को भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है। जैसे इंगलैंड में ग्राम पंचायतों को पैरिश (Parish), म्युनिसिपल कमेटियों को काउन्टी (County) तथा कारपोरेशन्स को बरोज (Boroughs) कहा जाता है।

अधिकार-विभाजन का सिद्धान्त (Separation of powers)

प्रश्न उठता है कि केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकार तथा विभिन्न स्थानीय संस्थाओं में किस प्रकार अधिकार-विभाजन किया जाता है। इसका उत्तर यह है कि जो विषय राष्ट्रीय महत्त्व के होते हैं, जैसे—फौज का प्रबन्ध, रक्षा, हवाई सेना तथा समुद्री बेड़े का प्रबन्ध, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, आयात-निर्यातकर, आयकर, मुद्रा तथा केन्द्रीय बैंक का प्रबन्ध इत्यादि केन्द्रीय सरकार के हाथ में सौंपे जाते हैं। जो विषय प्रांतीय महत्त्व के होते हैं, जैसे शांति और व्यवस्था, कृषि तथा उद्योगधन्धों की उन्नति, शिक्षा का प्रबन्ध, सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा जेलों इत्यादि का इन्तजाम, वे प्रांतीय सरकारों को दिये जाते हैं। ऐसे विषय जैसे सड़कों, गलियों तथा नालियों की सफाई तथा रोशनी का प्रबन्ध, संक्रामक बीमारियों की रोकथाम, अस्पताल और औषधालयों का प्रबन्ध, आने-जाने के साधन इत्यादि स्थानीय संस्थाओं को दिये जाते हैं। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि अधिकार-विभाजन का कोई फौलादी नियम नहीं होता। सरकार के विभिन्न अंग एक दूसरे से

बिल्कुल अलग रहकर काम नही करते, वरन् एक दूसरे के सहयोग से काम करते हैं। प्रत्येक सार्वजनिक कार्य का प्रभाव बहुत दूर तक पड़ता है। यदि किसी स्थानीय सस्था द्वारा शिक्षा अथवा स्वास्थ्य का ठीक प्रबन्ध नही किया जाता तो इससे केवल एक स्थान में रहने वाले लोगों को ही असुविधा नही होती वरन् इसका प्रभाव देश के दूसरे भागों तथा नागरिकों पर भी पड़ता है। इसलिए प्राय प्रत्येक देश में ही केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय तथा स्थानीय संस्थाओं के कामों की देखभाल करना अपना कर्तव्य समझती हैं।

स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं के मुख्य कार्य (*Functions of Local Bodies*)

स्थानीय सस्थाओं के कार्यों को हम निम्न प्रकार से विवेचन कर सकते हैं —

(१) स्वास्थ्य रक्षा—स्वास्थ्य-रक्षा दो प्रकार से होती है। एक, रोग की उत्पत्ति के कारणों को दूर करके और दूसरे, रोग उत्पन्न होने पर उसकी चिकित्सा द्वारा। रोग फैलने के भी अनेक कारण होते हैं, जैसे—गन्दगी, अस्वच्छ जल का पीना, वायु में रोगों के कीटाणुओं की उपस्थिति आदि। स्थानीय सस्थाएँ रोग के इन कारणों को दूर करने के लिए अनेक उपाय करती हैं, जैसे—सड़कों और नालियों की सफाई, शुद्ध जल का प्रबन्ध, चेचक, प्लेग, हैजे आदि के टीकों का इन्तजाम, सड़ी-गली खाने की चीजों को बिक्री को रोकना गन्दे मकानों व मुहल्लों को तोड़ कर, उनके स्थान पर खुले और स्वास्थ्यप्रद मकान बनवाना आदि। वे रोगियों की चिकित्सा के लिए अस्पताल और औषधालय इत्यादि भी स्थापित करती हैं।

(२) प्रारम्भिक शिक्षा—बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा के लिए पाठशालाएँ, नरसरी स्कूल, मोन्टेसरी स्कूल इत्यादि खोलना, स्थानीय सस्थाओं का मुख्य कार्य है। पुस्तकालय और वाचनालय इत्यादि का प्रबन्ध भी इन्हीं सस्थाओं द्वारा किया जाता है जिससे कि वयस्क जनता की शिक्षा में सहायता मिल सके।

(३) यातायात के साधनों का प्रबन्ध—स्थानीय सस्थाएँ लोगों को इधर-उधर लाने-ले जाने के लिए सड़कों, ट्राम्वे, बस तथा स्थानीय रेलों आदि का प्रबन्ध भी करती है।

(४) आकस्मिक आपत्तियों से रक्षा—अँधेरी सड़कों पर गिर पड़ना, दो मोटरों में टक्कर हो जाना तथा आग इत्यादि का लगना आकस्मिक दुर्घटनाएँ हैं। इनसे जनता की रक्षा के लिए स्थानीय सस्थाएँ रोशनी का प्रबन्ध करती हैं, गाड़ियों आदि के चलने के लिए नियम बनाती हैं, मेलों और तमाशों में विशेष प्रबन्ध करती हैं और आग बुझानेवाले इंजिन आदि का इन्तजाम करती हैं।

(५) जनता के मनोरंजन का प्रबन्ध—स्थानीय सस्थाएँ जनता के मनोरंजन के लिए अनेक साधनों—सिनेमा, थियेटर, दगल, सर्कस, पार्कों, स्नानगृहों, तैरने के तालाबों इत्यादि का इन्तजाम करती हैं।

(६) म्युनिसिपल व्यापार—जैसे पहले भी बतलाया जा चुका है, स्थानीय सस्थाएँ, जनता की सुविधा और स्वयं के आर्थिक लाभ के लिए बिजली और पानी, किराये की ट्राम व मोटरों, बाग व नरसरी तथा कुछ छोटे-छोटे कारखानों के चलाने का प्रबन्ध करती हैं।

हमारे देश में स्थानीय संस्थाएँ, दूसरे देशों की अपेक्षा कम व्यापारिक काम करती हैं। दूसरे देशों में तो बैंकों का प्रबन्ध, टाकी, सिनेमा, नृत्य-घर, होटलों, रेस्टोरेन्ट, डेयरी तथा इसी प्रकार के दूसरे कामों को भी स्थानीय संस्थाएँ ही करती हैं।

(७) **विविध कार्य**—इनके अतिरिक्त स्थानीय संस्थाएँ और भी दूसरे काम करती हैं। जैसे बड़े नगरों को उन्नत और सुन्दर बनाना आदि। गाँव की संस्थाएँ जैसे डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, इलाका बोर्ड, ग्राम पंचायतें इत्यादि कुछ और काम भी करती हैं, जैसे वृक्षों का लगाना, नदियों के घाटों पर नाव आदि का प्रबन्ध करना, मवेशीखानों और पशुओं की चिकित्सा का प्रबन्ध करना, कृषि की उन्नति और अकालों की रोक-थाम का प्रबन्ध करना इत्यादि। ग्राम पंचायतें इसके अतिरिक्त गाँव के लोगों के बीच मुकदमों का फैसला भी करती हैं।

स्थानीय संस्थाओं की आमदनी के साधन

स्थानीय संस्थाओं की आमदनी के मुख्य साधन निम्नलिखित हैं :—

(१) हाउस टैक्स, (२) बाहर से आने वाले माल पर चुंगी, (३) हैसियत और सम्पत्ति टैक्स, (४) म्युनिसिपल व्यापार से आमदनी, (नल, बिजली, ट्राम, मोटर, बस इत्यादि से) (५) स्कूलों की फीस, सफाई कर (Conservancy Tax) इत्यादि ? (६) म्युनिसिपल सम्पत्ति—बाजारों, दूकानों इत्यादि का किराया, (७) लायसेन्स की फीस (किराये पर चलनेवाली सवारियों आदि से) और (८) प्रान्तीय सरकार से आर्थिक सहायता।

भारतवर्ष की स्थानीय स्वराज्य संस्थाएँ

हमारे देश में स्थानीय स्वराज्य संस्थाएँ अधिक उन्नत अवस्था में नहीं हैं। अधिकांश म्युनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड दलबन्दियों के शिकार हैं। आये दिन चेयरमैनों पर अविश्वास के प्रस्ताव पास होते रहते हैं, जिससे वे निश्चिन्त होकर प्रबन्ध कार्य में भाग नहीं ले पाते। स्थानीय संस्थाओं का मुख्य काम म्युनिसिपल कर्मचारियों को रखना और निकालना रह गया है। म्युनिसिपल तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के सदस्य अपने मित्रों और सम्बन्धियों को नौकरियों पर लगाने का प्रयत्न करते हैं और इस बात का ध्यान नहीं करते कि इससे स्थानीय संस्थाओं की निपुणता पर क्या असर पड़ेगा। भारतवर्ष के अनेक बोर्डों में आये दिन गबन के केस होते रहते हैं। इन सब दोषों का मूल कारण यह है कि चुनाव के समय निर्वाचक योग्य व्यक्तियों को राय नहीं देते वरन् अपने रिश्तेदारों, सम्बन्धियों या जाति बंधुओं को ही मत देते हैं। इसका दूसरा कारण यह है कि हमारे देश की जनता अशिक्षित है।

इन सब बुराइयों को दूर करने के लिए आवश्यक है कि जनता को शिक्षित बनाया जाय तथा उनमें नागरिक शिक्षा का प्रचार किया जाय जिससे लोगों का चरित्र बल बढ़े।

योग्यता-प्रश्न

१. 'स्वायत्त शासन स्वराज्य की जड़ है', इस कथन पर प्रकाश डालिये। (यू० पी०, १९३३)

२. म्युनिस्पिल और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को कौन-कौन से काम सौंपने चाहिये और क्यों ? (यू० पी०, १९३३)

३. शासन के कार्य और अधिकार किन सिद्धान्तो के आधार पर, केन्द्रीय शासन, प्रान्तीय शासन और स्थानीय संस्थाओं में विभाजित किये जाते हैं ? (यू० पी०, १९३४)

४. आप केन्द्रीय शासन और स्थानीय शासन को किस तरह अलग करेंगे ? किन कारणों से आप स्वायत्तशासन के अस्तित्व को उचित समझते हैं ? (यू० पी०, १९३५)

५. आधुनिक राज्य में स्वायत्तशासन के महत्व को भारतवर्ष का खास हवाला देते हुए समझाइये। (यू० पी०, १९३८, १९४६, १९४९)

६. म्युनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के काम में सार्वजनिक दिलचस्पी पैदा करने के लिए आप कौन-से उपाय ठीक समझते हैं और क्यों ?

७. किसी भी शासन को अच्छा होने के लिए उसे अपनी प्रजा के मत की कदर करनी चाहिए इसकी प्राप्ति का सबसे अच्छा तरीका स्वायत्त शासन को यथासम्भव प्रोत्साहित करना है। इस पर प्रकाश डालिये। (यू० पी०, १९४०)

८. केन्द्रीय शासन को स्थानीय सस्थाओं पर कहाँ तक और क्यो नियंत्रण रखना चाहिये ? (यू० पी०, १९४५)

९. यदि तुम्हें किसी क्रिकेट मैच के लिए कैप्टन का तथा म्युनिसिपल कमेटी के लिए प्रधान का चुनाव करना पड़े तो तुम कौन से गुण इन व्यक्तियों में तलाश करोगे ? (यू० पी०, १९४९)

१०. यदि आप किसी नगरपालिका के सदस्य चुन लिये जायें तो किन सुधारो की सूचना देना चाहेंगे ? (यू० पी०, १९५०; पंजाब, १९५१)

११. स्थानीय संस्थाओं के क्या-क्या मुख्य कर्तव्य हैं ? समझाकर लिखिये। (यू० पी०, १९५२)

१२. ग्राम पंचायतो पर संक्षिप्त नोट लिखो। (यू० पी०, १९५२)

१३. 'स्थानीय सस्थाएँ लोकतन्त्र की नीव हैं, इस कथन का विवेचन करो और भारत में स्वस्थ नागरिक जीवन की पुष्टि के लिए स्थानीय संस्थाओं की महत्ता स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करो। (यू० पी०, १९५३; पंजाब, १९५३)

भी इसी प्रकार कुछ मनुष्यों के एक साथ रहने की क्रियात्मक भावना को राष्ट्रीयता का नाम देता है।

ऊपर दी हुई परिभाषाओं से राष्ट्रीयता का ठीक-ठीक अर्थ समझ में नहीं आता। वास्तव में राष्ट्रीयता कोई स्थूल वस्तु नहीं जिसे देखा या महसूस किया जा सके। राष्ट्रीयता आत्मिक भावना का नाम है। इस भावना के अंतर्गत बहुत से मनुष्य एक साथ रहने और समान उद्देश्यों की पूर्ति के लिए काम करने की इच्छा प्रकट करते हैं। यह मनुष्य आपस में तो एक होते हैं, परन्तु दूसरों से विभिन्नता का भाव रखते हैं।

इतिहास—राष्ट्रीयता की भावना का जन्म यूरोप में उन्नीसवीं सदी में हुआ। फ्रांस की राज्यक्रांति ने संसार में इस भावना का बीज बोया। इससे पूर्व किसी देश की जनता अपनी भक्ति का प्रदर्शन राजा के प्रति करती थी, देश के प्रति नहीं, फ्रांस की क्रान्ति ने संसार को समानता, स्वतन्त्रता और भ्रातृभाव का पाठ पढ़ाया। प्रत्येक देश अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने की दुहाई देने लगा, जनता के हृदय में राज्य-भक्ति के स्थान पर देश-भक्ति का संचार हुआ। प्रत्येक ऐसे मनुष्यों का समूह, जिसकी अपनी पृथक् संस्कृति, सभ्यता, भाषा, धर्म तथा इतिहास था, अपने लिए अलग स्वतन्त्र राष्ट्र स्थापित करने का स्वप्न देखने लगा। सन् १९१४ के महायुद्ध ने इस भावना को और अधिक प्रोत्साहन दिया और अमरीका के प्रेसीडेण्ट विलसन ने राष्ट्रों के लिए आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को मान कर इस भावना को आध्यात्मिक स्वरूप दे दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीयता का भाव अभी केवल एक ही सदी पुराना है। इस भावना ने संसार की सेवा भी की है और हानि भी। राष्ट्रीयता का भाव मनुष्य में नया गौरव, नया आत्म-सम्मान और उत्कट देश-भक्ति का संचार करता है, यह मनुष्य के अपने परिवार अथवा जाति अथवा धर्म अथवा प्रान्त के प्रति प्रेम को एक विस्तृत स्वरूप देकर देश के प्रति प्रेम में बदल देता है। परन्तु इस सीमा पर पहुँचने के पश्चात् प्रेम का बहता हुआ स्रोत एकदम रुक जाता है और सारे मनुष्य-समाज के प्रति प्रेम में परिवर्तित होने के बजाय, देश की संकुचित सीमा में उलझकर रह जाता है। इस दृष्टिकोण से राष्ट्रीयता का भाव एक निकृष्ट भाव है और इसके उग्ररूप से संसार में कलह, लड़ाई-झगड़े, खून-खराबी और साम्राज्यवाद का जन्म हुआ है।

राष्ट्र क्या है (What is Nation)—राष्ट्रीयता की भावना किसी एक राष्ट्र के नागरिकों में ही विद्यमान रहती है। इसलिए राष्ट्रीयता का और अधिक विश्लेषण करने के पहले आवश्यक है कि हम राष्ट्र का सही अर्थ समझने का प्रयत्न करें।

राष्ट्रीयता एक भावना का नाम है और राष्ट्र ऐसे मनुष्यों के समूह का जो एक साथ रहते हों अथवा एक साथ रहने की उत्कट इच्छा रखते हों, और जो अपने आप तो माला के दानों के समान एक होकर रहते हों, परन्तु दूसरे मनुष्यों के समुदाय से बिलकुल भिन्नता का अनुभव करते हों। राष्ट्र में इस प्रकार निम्नलिखित तत्वों का होना आवश्यक है :—

(१) राष्ट्र मनुष्यों का समुदाय है। किसी राष्ट्र में मनुष्यों की कितनी संख्या होनी चाहिये—यह कहना कठिन है। राष्ट्र छोटे भी हो सकते हैं और बहुत बड़े भी; परन्तु किसी नगर या गाँव में बसने वाले लोगों को हम राष्ट्र नहीं कह सकते। राष्ट्र कहलाने के लिए जनसंख्या इतनी अवश्य होनी चाहिये कि वह बहुत से देहातों और नगरों में फैली हुई हो।

(२) मनुष्यों के प्रत्येक समुदाय को हम राष्ट्र नहीं कह सकते। केवल वही समुदाय राष्ट्र कहे जा सकते हैं जिनमें समान संस्कृति, इतिहास, समान भाषा, समान आदर्श, समान धार्मिक भावना, समान उद्देश्य अथवा जीवन के प्रति समान दृष्टिकोण के कारण एकता और आत्मीयता का भाव हो। इस प्रकार राष्ट्र की सबसे बड़ी पहचान **एकता की भावना** है। मनुष्यों का केवल वही समुदाय राष्ट्र कहा जा सकता है जो एकता के सूत्र में बँधा हो और जो संसार के दूसरे इसी प्रकार के समुदायों से अपनी अलग संस्कृति, भाषा, आचार-व्यवहार, भौगोलिक स्थिति इत्यादि के कारण विभिन्नता का भाव रखता हो।

मनुष्यों के किसी समुदाय को एकता के सूत्र में बाँधने के अनेक साधन हो सकते हैं। **समान संस्कृति, समान जातीय भावना, समान इतिहास, समान भाषा, समान आदर्श, समान धर्म, समान देश, किसी शत्रु के विरुद्ध लड़ने की समान भावना, समान रीति-रिवाज, राजनीतिक एकता** इत्यादि—ये ऐसी धारणाएँ हैं जो मनुष्यों के किसी समुदाय में एकता का भाव-निर्माण कर देती हैं। इस प्रकार की भावना एक दिन में पैदा नहीं होती, न जाने कितने वर्षों तथा कितनी सदियों के बाद एक ही साथ रहनेवाले मनुष्यों में इस प्रकार की भावना का जन्म होता है, परन्तु एक बार ऐसी भावना का निर्माण होने के बाद, यह आसानी से नहीं मिटती। इसके पश्चात् यदि एक ही राष्ट्र के लोग अलग-अलग दूर-दूर देशों में भी रहने लगें, तो भी उनमें से राष्ट्रीयता के भाव का लोप नहीं होता, दूर देशों में रहते हुए भी वह अपने आपको अपने पूर्वजों के देश का ही नागरिक मानते हैं और उस देश के लोगों से मिलने पर अनोखी आत्मीयता का अनुभव करते हैं।

ऊपर दिये हुए राष्ट्रीयता की भावना के कारणों में से किसी एक या अधिक कारणों के अभाव से राष्ट्रीयता का लोप नहीं हो जाता, उदाहरणार्थ यदि एक ही देश के रहनेवाले लोग भिन्न-भिन्न धर्मों में विश्वास रखते हैं, या अलग-अलग भाषा बोलते हैं, या अलग-अलग रीति-रिवाजों का पालन करते हैं तो इतना सब कुछ होने पर भी, यदि उनमें किन्हीं दूसरे कारणों से एकता की भावना बनी रहती है तो वह राष्ट्र बन सकते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि एकता उत्पन्न करने के जितने भी अधिक कारण किसी मनुष्यों के समुदाय में विद्यमान होंगे, राष्ट्रीयता की भावना उतनी ही अधिक उत्कट तथा तीव्र होगी। अब हम राष्ट्रीयता के इन विभिन्न अंगों का विस्तार से विवेचन करेंगे।

राष्ट्रीय भावना के पोषक तत्व (Factors in Nation Building)

(१) **धर्म**—मनुष्यों के किसी समुदाय में एकता तथा आत्मीयता का भाव निर्माण करने में धर्म बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। धर्म में विश्वास करने वाले लोग एक से ही

देवी-देवता, रीति-रिवाज, उत्सव तथा खान-पान और रहन-सहन के तरीको मे विश्वास करने लग जाते है और इससे उनकी अलग संस्कृति बन जाती है। ऐसे लोगों में एकता तथा आत्मीयता का भाव आसानी से निर्माण हो जाता है, परन्तु वर्तमान समाज मे प्रगतिशील मनुष्य, धर्म को एक व्यक्तिगत भावना समझते है, वह विभिन्न धर्मों के मनुष्यों के साथ रहकर भी एकता का अनुभव करते है। इगलेड मे प्रोटेस्टेन्ट और कैथोलिक दो अलग धर्मों में विश्वास करने वाले लोग एक साथ ही मिलकर रहते है और अपने-आपको एक राष्ट्र का सदस्य समझते है परन्तु प्रतिक्रियावादी अथवा पिछडे हुए लोगो मे धर्मों की विभिन्नता, अभी भी राष्ट्रीयता के निर्माण मे बाधक सिद्ध होती है। भारतवर्ष में हिन्दू और मुसलमान, सदियो तक एक साथ रहते हुए और एक-सी वेश-भूषा, भाषा, रीति-रिवाज इत्यादि होने पर भी, साम्प्रदायिकता के प्रचार के कारण, अपने-आपको दो पृथक् राष्ट्रों का सदस्य मानने लगे। आयरलैंड मे प्रोटेस्टेन्ट और कैथोलिक धर्मावलम्बियो में मतभेद के कारण देश के दो टुकडे हो गये। हालैण्ड और बेल्जियम देशों का सगठन भी धार्मिक विभिन्नता के कारण टूट गया। इस प्रकार हम देखते है कि धर्म राष्ट्रीयता के निर्माण मे बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

(२) जाति (Race)—राष्ट्र के निर्माण में जातीय समानता भी समुचित स्थान रखती है। एक ही जाति के लोगो का समान सामाजिक सगठन होता है, उनके रीति-रिवाज भी समान ही होते है, इससे राष्ट्रीय भावना के निर्माण में सहायता मिलती है। परन्तु आधुनिक काल में, ससार में शायद ही कोई ऐसा देश हो, जहाँ एक ही जाति के लोग रहते हो। इगलैंड में नार्मन, सैक्सन, लैटिन वशो के लोग रहते हैं, अमेरिका में यूरोप की सारी ही जातियो के मनुष्य रहते हैं। ससार मे विशुद्ध जातियाँ बहुत कम पाई जाती हैं, इस कारण वर्तमान काल में, जातीय समानता, राष्ट्रीय भावना के निर्माण में एक आवश्यक अग नही मानी जाती।

(३) भाषा—राष्ट्रीयता के निर्माण में भाषा की समानता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। समान भाषा राष्ट्रीय साहित्य को जन्म देकर राष्ट्रीयता के भाव को अधिक चैतन्य और उत्कट बनाती है। इससे राष्ट्र के सदस्यों का पारस्परिक सम्बन्ध अधिक घनिष्ट हो जाता है। परन्तु भाषा की समानता भी राष्ट्र-निर्माण के लिए अनिवार्य नही। कैनाडा और स्विट्जरलैण्ड में लोग विभिन्न भाषाएँ बोलते है। इन भाषाओं के अलग-अलग साहित्य है, फिर भी इन देशों के लोग अपने-आपको एक ही राष्ट्र का सदस्य समझते है। भाषा की असमानता से भी दो भिन्न-भिन्न मनुष्यों के समुदाय एक राष्ट्र बन जाते है। इंगलैंड और अमेरिका निवासी एक ही भाषा बोलते है, परन्तु फिर भी वह दो भिन्न-भिन्न राष्ट्रो मे विभाजित है। इस प्रकार हम देखते है कि भाषा की समानता से राष्ट्रीय भावना के निर्माण में तो सहायता मिलती है, परन्तु यह तत्व भी किसी राष्ट्र की उत्पत्ति के लिए अनिवार्य नही।

(४) समान देश—राष्ट्रीय भावना की जागृति के लिए मनुष्यों का किसी एक

निश्चित देश में रहना भी आवश्यक है। बहुत काल तक एक ही वातावरण, जलवायु तथा देश में रहने के कारण व्यक्तियों के समुदाय में आत्मीयता तथा एकता का भाव निर्माण हो जाता है, यही भाव राष्ट्र के निर्माण में सहायक सिद्ध होता है। परन्तु एक बार राष्ट्रीयता का भाव निर्माण होने के पश्चात् फिर यह आवश्यक नहीं कि सभी मनुष्य एक ही स्थान या प्रदेश में रहें। आजकल जर्मन, अमेरिकन तथा अंग्रेज दुनिया के भिन्न-भिन्न देशों में रहते हैं, परन्तु फिर भी वह अपने-आपको अपनी पितृभूमि को ही राष्ट्रीय मानते हैं।

(५) **समान ऐतिहासिक स्मृतियाँ**—समान रूप से प्राप्त की गई विजय और यातनाओं की स्मृतियों से भी राष्ट्रीय भावना का निर्माण हो जाता है। इस कार्य में राष्ट्रीय कविताएँ, गाथाएँ तथा गीत बहुत महत्वपूर्ण भाग लेते हैं, गुलाम देश में विदेशी शासन से मुक्ति प्राप्त करने के लिए लड़े गये स्वतंत्रता-संग्राम से भी राष्ट्रीय भावना का निर्माण होता है। यूरोप में कितने ही राष्ट्रों का जन्म इसी भावना के कारण हुआ है।

(६) **समान शासन**—एक ही शासन के अधीन बहुत काल तक रहने से भी राष्ट्रीय भावना की वृद्धि होती है। कैनाडा में फ्रांसीसी और अँगरेज सदियों से एक ही सरकार के अधीन रहते हैं, इससे आज वह अपने आपको फ्रांसीसी और अँगरेज समझने के बजाय कैनाडा-निवासी ही समझते हैं।

(७) **समान उद्देश्य**—एक साथ रहनेवाले जनसमूह में, जीवन के प्रति समान दृष्टिकोण तथा समान उद्देश्य के भाव निर्माण हो जाते हैं। उसके रीति-रिवाज, रहन-सहन के तरीके तथा स्वभाव भी एक-से ही बन जाते हैं। इस प्रकार छोटे-छोटे स्थानीय मतभेद दूर हो जाते हैं और जन-समाज राष्ट्रीय समूह बन जाता है।

(८) **युद्ध**—किसी प्रसिद्ध लेखक का कथन है, "राष्ट्रों का जन्म युद्ध-क्षेत्र में होता है।" इस कहावत का आशय है कि किसी समान शत्रु के विरुद्ध बहुत समय तक युद्ध लड़ने से पारस्परिक प्रेम तथा सहयोग का भाव निर्माण हो जाता है। युद्ध-क्षेत्र में उत्पन्न हुई मित्रता बहुत काल तक नहीं मिटती। यही मित्रता राष्ट्रीयता का सार है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्र-निर्माण के कार्य में एक नहीं, वरन् अनेक तत्व काम में आते हैं। ऊपर दिये गये तत्व राष्ट्रीय भावना के निर्माण में सहायक सिद्ध होते हैं। इन तत्वों में से जितने भी अधिक तत्व किसी जन-समुदाय के जीवन में विद्यमान होंगे, राष्ट्र उतना ही अधिक शक्तिशाली तथा संगठित होगा। परन्तु यहाँ पर यह समझ लेना आवश्यक है कि ऊपर दिये हुए तत्वों में से कोई भी तत्व राष्ट्रीय भावना की जागृति के लिए अनिवार्य नहीं। यह तत्व राष्ट्र-निर्माण के कार्य में सहायता देते हैं, परन्तु उसके अंगभूत नहीं। उपरोक्त तत्वों में से किन्हीं एक से अधिक तत्वों का होना राष्ट्रीयता के निर्माण के लिए आवश्यक है परन्तु किसी विशेष तत्व का होना नहीं।

राष्ट्रीय भावना के विकास में बाधक तत्व (Hindrances to National consciousness)

जिस प्रकार मनुष्य के किसी समुदाय में बहुत से तत्व राष्ट्रीय भावना का निर्माण

करने में सहायता देते है, उसी प्रकार बहुत से तत्व उसके विकास में बाधक भी सिद्ध होते है। ऐसे तत्वो का सक्षिप्त विवरण हम इस प्रकार दे सकते हैं :—

(१) अशिक्षा—राष्ट्रीय चेतना के विकास में शिक्षा का प्रमुख स्थान है। अशिक्षित जनता राष्ट्रीय जीवन की महत्ता को नही समझ पाती।

(२) आपसी संपर्क के साधनो का अभाव—राष्ट्रीय चेतना के लिए जनता के बीच घनिष्ठ सम्पर्क एव विचारो के आदान-प्रदान की आवश्यकता होती है। इसके लिए आवश्यक है कि देश में यातायात के आधुनिक साधन—रेल, मोटर, हवाई जहाज, डाक, तार, बेतार का तार इत्यादि सुविधाएँ हो। समाचार-पत्र, राजनीतिक साहित्य, रेडियो, राजनीतिक दल इत्यादि भी राष्ट्रीय भावना को जाग्रत करने में पूरी सहायता देते हैं। इन साधनो के अभाव से राष्ट्रीय भावना के विकास में बाधा उत्पन्न होती है।

(३) संकीर्ण व्यक्तिवाद—जिस देश के नागरिक अपने सकुचित व्यक्तिगत हितो की पूर्ति मे लगे रहते है और उनके पीछे राष्ट्रीय हित को भी हेय समझते है, वहाँ राष्ट्रीय भावना का सम्यक् विकास नही हो सकता। राष्ट्रीय चेतना के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति अपने सकुचित हित को राष्ट्रीय हित की वेदी पर बलिदान करने के लिए सदा उद्यत रहे।

(४) साम्प्रदायिक भावना—सच्चा धर्म राष्ट्रीयता के विकास में सहायक है परन्तु इसका विकृत रूप उसके मार्ग की सबसे बडी बाधा है। भारतवर्ष के अदर इसी सकुचित साम्प्रदायिक भावना के कारण हमारे देश के दो टुकडे हुए तथा अन्त में राष्ट्र को अपनी सबसे महान विभूति, महात्मा गाधी के जीवन की बलि देनी पडी।

(५) जातीयता—साम्प्रदायिक भावना की भाँति जातीयता का उग्र रूप भी राष्ट्रीयता के विकास में बाधक तत्व है। अपनी जाति के हित की बातें सोचना कोई बुरी बात नही, परन्तु दूसरी जाति के लोगों के साथ अन्याय करना तथा राष्ट्रीय प्रश्नो पर विचार करते समय भी सकुचित जातीय हित की दृष्टि से सोचना बहुत बुरी भावना है और इससे राष्ट्र का घोर अहित होता है।

(६) प्रान्तीयता—प्रान्त राष्ट्रीय जीवन का एक अग मात्र है। इसलिए राष्ट्रीय समस्याओ पर विचार करते समय हमे अपने प्रदेश या छोटे से प्रान्त के हितो की ही बात नही सोचनी चाहिए। भारत जैसे विशाल देश में इस सकुचित भावना से और भी अधिक सतर्क रहने की आवश्यकता है।

(७) भाषावाद—प्रातीयता की भावना के समान ही अपनी भाषा के प्रति इतना मोह कि उसके समक्ष हम दूसरी भाषाओ की समृद्धि की आकाक्षा न करें तथा उनके विकास के मार्ग में रोड़े अटकाएँ, राष्ट्रीय हित के विरुद्ध है। भारतवर्ष में हिन्दी और दूसरी क्षेत्रीय भाषाओ के प्रश्न पर जिस सकीर्ण दृष्टि से विचार किया जा रहा है तथा इसमे देश की एकता को जो खतरा उत्पन्न हो गया है, वह सर्वविदित है। हमें राष्ट्रीय भावना को प्रखर बनाने के लिए एक समान भाषा की जरूरत है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम देश की दूसरी भाषाओ की उन्नति की बात न सोचे।

(८) विदेशी राष्ट्रों के प्रति भक्ति—विदेशी शिक्षा, रहन-सहन या धर्म के प्रति आस्था होने के कारण बहुत बार अनेक लोगों में ऐसी भावनाएँ निर्माण हो जाती हैं कि वह अपनी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति से घृणा करने लगते हैं तथा दूसरे राष्ट्र की सब बातों को आदर्श मान बैठते हैं। दूसरे देशों की अच्छी बातों से शिक्षा ग्रहण करना कोई बुरी बात नहीं, परन्तु उनकी सहायता से अपने राष्ट्रीय चरित्र को ऊँचा उठाने की आवश्यकता होती है, अपनी संस्कृति के प्रति घृणा के भाव का निर्माण नहीं। भारतवर्ष में हमारे मुसलमान भाइयों को चाहिए कि वह पाकिस्तान से प्रेरणा न लें और इस देश को ही अपनी जन्म और कर्मभूमि समझ कर उसके प्रति ही पूरी आस्था रखें। साम्यवादियों से भी इसी प्रकार की मांग की जाती है कि वह रूस के प्रति इतने वफादार न हों कि अपने राष्ट्र के प्रति ही देशद्रोह कर बैठें।

किसी भी देश को जो अपने नागरिकों में एक उच्च राष्ट्रीय भावना का संचार करना चाहता है। इन सभी दोषों से दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिए।

भारतवर्ष एक राष्ट्र है अथवा नहीं (Is India a Nation ?)

भारतवर्ष में अनेक जातियों, धर्मों तथा सम्प्रदायों के लोग निवास करते हैं, देश में भिन्न-भिन्न प्रकार की भाषाएँ बोली जाती हैं, जनता के रहन-सहन, रीति-रिवाजों तथा खान-पान के तरीकों में भारी मतभेद है। प्रश्न उठता है कि इन सब चीजों के होते हुए भी भारत एक राष्ट्र है अथवा नहीं ?

भारत की जनता के दो मुख्य अंग हिन्दू और मुसलमान हैं। भाषा, वेष, खान-पान तथा रीति-रिवाजों में थोड़ी-बहुत भिन्नता होने पर भी देश के सारे हिन्दुओं में एक आत्मीयता का भाव विद्यमान है। सब हिन्दू राम और कृष्ण की पूजा करते हैं, गंगा और यमुना को पवित्र मानते हैं, गाय को माता का प्रतीक समझते हैं, वेद और धर्मशास्त्रों के प्रति श्रद्धा रखते हैं तथा एक से ही उत्सव तथा त्योहारों में भाग लेते हैं।

भारत के मुसलमान इसके विपरीत, हिन्दुओं से बिल्कुल अलग रीति-रिवाज, रहन-सहन, खान-पान, उत्सव और मेले, धर्मशास्त्र और ग्रंथ, शादी और विवाह, जन्म और मरण के नियमों में विश्वास करते हैं। इसलिए कुछ राजनैतिक लेखकों का कहना है कि भारत में हिन्दू और मुसलमान दो पृथक्-पृथक् राष्ट्र हैं। इसी भावना के अन्तर्गत भारत के कुछ प्रमुख मुसलमान नेताओं ने पाकिस्तान की माँग की नींव रखी। उन्होंने कहा 'भारत में मुसलमान एक अल्पसंख्यक वर्ग नहीं वरन् एक राष्ट्र है,' इसलिए उन्हें 'आत्म-निर्णय' का अधिकार मिलना चाहिए अर्थात् उनका अपना एक अलग स्वतंत्र राज्य स्थापित होना चाहिए। दुर्भाग्यवश, हमारे देश के कुछ हिन्दू नेता विदेशियों तथा मुसलमानों के फैलाये हुए, इस साम्प्रदायिकता के जाल में फँस गये और उन्होंने भी हिन्दुओं को मुसलमानों से एक पृथक् राष्ट्र कहना आरम्भ कर दिया। देश में साम्प्रदायिकता की आग बढ़ती गई, हिन्दू और मुसलमानों के झगड़े आये दिन होने लगे और अन्त में अँग्रेजी कूटनीतिज्ञता के कारण भारत के दो टुकड़े कर दिये गये। हमारे देश में हिन्दू और मुसलमानों को दो पृथक् राष्ट्रों का सदस्य स्वीकार कर लिया गया।

परन्तु जब पाकिस्तान का स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गया, तो देश के समझदार हिन्दू और मुसलमान नेताओं ने सोचना आरम्भ किया कि क्या वास्तव में हिन्दू और मुसलमान दो पृथक् राष्ट्रों के सदस्य है ?

पाकिस्तान की माँग, मुसलमानों के धनी तथा मध्य वर्ग के लोगों की माँग थी। देश की गरीब तथा त्रस्त मुसलिम जनता से इस माँग का कोई सम्बन्ध नही था; परन्तु साम्प्रदायिकता के विषैले तथा निरन्तर प्रचार ने इन लोगों की मति भी बदल दी और वह भी पाकिस्तान की माँग में अपना सहयोग देने लगे। परन्तु जब पाकिस्तान बन गया और गरीब मुसलमान जनता दोनों राज्यों में साम्प्रदायिक नेताओं के कोप का भाजन बनी, तो इन लोगों की आँखें खुली और वह कहने लगे कि 'मुसलमान हिन्दुओं से अलग राष्ट्र नही वह तो उनके भाई हैं।'

भारत के ९५ प्रतिशत मुसलमान हिन्दू धर्म को ही छोड़कर मुसलमान बने हैं। उनके पूर्वज, किसी न किसी समय, हिन्दू धर्म में ही विश्वास करते थे। आज भी गाँवों में रहनेवाले मुसलमान हिन्दुओं जैसा ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं। वह एक-सी ही पोशाक पहनते हैं, एक-से ही मकानों मे रहते है तथा एक-से ही रीति-रिवाजों में विश्वास करते है। धर्म की भिन्नता से मनुष्य की राष्ट्रीयता नही बदल जाती। धर्म एक व्यक्तिगत भावना का नाम है, राष्ट्र एक सामूहिक शक्ति का। संसार के प्रत्येक देश में भिन्न-भिन्न धर्मों के लोग रहते हैं। परन्तु फिर भी वह अपने आपको एक ही राष्ट्र का सदस्य समझते है। भारतवर्ष में भी हिन्दू और मुसलमान एक ही राष्ट्र के सदस्य हैं। विदेशी शासकों की फूट डालने की नीति तथा कुछ साम्प्रदायिक नेताओं के विष-वमन के कारण हिन्दू और मुसलमानों में झगड़े होने लगे थे, परन्तु स्वतन्त्र भारत में यह सब नही होता। आजाद हिन्दुस्तान का प्रत्येक नागरिक अपने आपको पहले भारतवासी तथा उसके पश्चात् हिन्दू और मुसलमान समझता है। इसलिए यह कहना ठीक होगा कि भारत एक राष्ट्र है और उस देश मे रहनेवाली समस्त जनता सांस्कृतिक एकता के सूत्र में बँधी हुई है।

राष्ट्रीय भावना के गुण (Merits of Nationalism)

राष्ट्रीयता आधुनिक युग की महत्त्वपूर्ण भावना है। इसके गुणों का संक्षिप्त विवेचन हम इस प्रकार कर सकते है :—

(१) **विस्तृत दृष्टिकोण**—राष्ट्रीय भावना से जनता का दृष्टिकोण विस्तृत होता है। लोग अपने संकुचित स्वार्थों को छोड़कर, राष्ट्रीय समस्याओं पर विशाल हृदय से विचार करने लगते है।

(२) **देश-प्रेम की भावना**—इस भावना से जनता में अपने देश के प्रति उत्कट प्रेम तथा भक्ति की भावना उत्पन्न होती है। अनेक नागरिक इसी भावना के कारण अपने देश-हित के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को उद्यत हो जाते है।

(३) **एकता का निर्माण**—इस भावना के कारण जनता के सारे सदस्य अपने धर्म, जाति, विश्वास तथा प्रांतादि के भेद-भाव भुला कर एक ही सूत्र में बँध जाते हैं।

(४) चरित्र गठन—इस भावना से नागरिकों का चरित्र ऊँचा उठता है, कारण वह विस्तृत हितों के लिए अपने संकुचित हितों को बलिदान करना सीख जाते हैं।

(५) सांस्कृतिक विकास—देश-प्रेम के कारण ही प्रत्येक देश की पृथक् संस्कृति की रक्षा तथा उसका विकास होता है। इससे सारे संसार की सभ्यता तथा ज्ञान की वृद्धि होती है।

(६) आर्थिक उत्थान—अपने राष्ट्र को सुखी और समृद्ध बनाने के लिए नागरिक अधिक से अधिक परिश्रम करके अपने देश के आर्थिक साधनों का विकास करते हैं तथा उसे स्वावलंबी बनाने का प्रयत्न करते हैं। इससे गरीबी दूर होती है तथा जनता का जीवन स्तर ऊँचा उठता है।

राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के सिद्धान्त का महत्त्व (Importance of the principle of National Self-Determination)

राष्ट्रीय भावना के उपरोक्त सभी गुणों का सहारा लेकर बहुत से राजनीतिज्ञ कहते हैं कि प्रत्येक राष्ट्र को अपना अलग-अलग राज्य स्थापित करने का अधिकार होना चाहिए। इस मत के पक्ष में जो दलीलें दी जाती हैं, वह इस प्रकार हैं :—

(१) संस्कृति, साहित्य व भाषा की रक्षा—संसार में प्रत्येक राष्ट्र की अपनी अलग संस्कृति, अलग साहित्य, अलग भाषा तथा अलग जनश्रुतियाँ होती हैं। कोई राष्ट्र इन हितों की केवल उसी समय रक्षा कर सकता है जब वह स्वतन्त्र हो अर्थात् जब उसे सार्वभौमिकता प्राप्त हो। दूसरा राष्ट्र, चाहे वह कितना ही अधिक सभ्य अथवा ईमानदार क्यों न हो, इन हितों की रक्षा नहीं कर सकता।

(२) शांति, स्वतंत्रता, समानता की रक्षा—'स्वाधीनता' तथा 'समानता' के सिद्धान्त संसार में केवल उसी समय कायम रह सकते हैं जब प्रत्येक राष्ट्र को आत्मनिर्णय का अधिकार प्राप्त हो। जब तक दुनिया में एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को अपने अधीन गुलाम बनाकर रखता है, तब तक दुनिया में न शान्ति रह सकती है, न लड़ाई और झगड़े दूर हो सकते हैं और न समानता का सिद्धान्त ही कायम रह सकता है। व्यक्ति की भाँति प्रत्येक राष्ट्र भी अपनी उन्नति के लिए स्वतंत्रता का अधिकार प्राप्त करना चाहता है। जिस प्रकार एक गुलाम मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता ठीक उसी प्रकार कोई राष्ट्र भी अपनी स्वाधीनता खोकर किसी भी प्रकार की आर्थिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक उन्नति नहीं कर सकता।

(३) युद्ध के भय से रक्षा—संसार की संस्कृति, सभ्यता तथा शांति केवल उसी समय कायम रह सकती है जब दुनिया का प्रत्येक देश आजाद हो। दुनिया में कुछ देशों की दूसरे देशों पर शासन करने की भावना से ही युद्ध होते हैं, जिससे संसार की उन्नति और संस्कृति खतरे में पड़ जाती है। शासित देश भी अपने विजेता देश के विरुद्ध सदा विद्रोह करने के लिए उद्यत रहता है और इससे भी संसार की शांति को सदा खतरा बना रहता है।

(४) सभ्यता व ज्ञान की उन्नति—प्रत्येक राष्ट्र अपनी विशेष प्रतिभा द्वारा संसार की सभ्यता और संस्कृति को बहुत सहायता पहुँचा सकता है। पराधीनता में देश की उन्नति रुक जाती है और फलस्वरूप संसार के ज्ञान तथा संस्कृति के भंडार को भारी क्षति पहुँचती है।

(५) राष्ट्रीय भावना की पुष्टि—अन्त में एक स्वतन्त्र राष्ट्र में नागरिकों की अपने देश तथा राज्य के प्रति भक्ति की भावनाएँ अधिक विकसित होती है। वह समझने लगते हैं कि शासन उनका है और वह शासन के हैं। दूसरे शब्दों में वह शासन को अपने सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा आर्थिक हितों का संरक्षक समझने लगते हैं और इस कारण वह अपने देश पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को उद्यत रहते है।

राष्ट्रीय भावना के दोष

राष्ट्रीय भावना की सब लोगों ने एक-सी ही प्रशंसा की हो, ऐसी बात नहीं है; इस भावना के आलोचकों की भी कमी नहीं है। संक्षेप में इन आलोचनाओं का सार हम इस प्रकार दे सकते हैं —

(१) संकुचित भावना—जिस प्रकार साम्प्रदायिकता और प्रांतीयता की भावनाएँ राष्ट्रीयता की शत्रु है, ठीक उसी प्रकार अंध राष्ट्रीयता की भावना भी अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण तथा विश्व-प्रेम की विरोधी है। हमारे प्रेम का बहता हुआ स्रोत जो व्यक्तिगत हित, परिवार, पड़ोस, नगर, जाति, सम्प्रदाय तथा प्रदेश के स्वार्थ का मोह त्याग कर देश-प्रेम में बदल जाता है, वह राष्ट्र की सीमाओं से टकरा कर वहीं रुक जाता है और सारे संसार की जनता अर्थात् मानवता के प्रति प्रेम में परिणत नहीं होता। इसलिए हम कह सकते हैं कि राष्ट्रीयता की भावना मानवता के प्रति प्रेम की पृष्ठभूमि में अत्यन्त संकुचित विचार धारा है।

(२) झूठा अभिमान—राष्ट्रीयता की भावना झूठे अभिमान तथा दंभ पर आधारित है। राष्ट्रवादी समझता है कि वह दूसरों से ऊँचा, अधिक सभ्य, अधिक क्रियाशील, अधिक नैतिक तथा रक्त में अधिक विशुद्ध है। इस भावना से मानव-समाज अनेक परस्पर विरोधी और कटु विभागों में बँट जाता है मनुष्यों का दृष्टिकोण और सहानुभूति संकीर्ण हो जाती है। उनमें मिथ्या गौरव और अहंकार के भाव आ जाते हैं।

(३) पृथक्त्व की भावना—राष्ट्रीय भावना से लोगों में राजनीतिक पृथकत्व की भावना बढ़ जाती है। संसार के समस्त देश एक ही विश्व सरकार के नीचे संगठित नहीं हो पाते।

(४) न्याय का अनादर—राष्ट्रवादी दूसरे देशों की उचित माँगों पर भी विचार करने के लिए उद्यत नहीं होते। उनमें झूठा स्वाभिमान आ जाता है जिससे वह दूसरे राष्ट्रों की सब माँगों को गलत तथा अपनी माँगों को सदा सही समझने लगते है।

(५) छोटे-छोटे राज्यों का संगठन—एक राष्ट्र एक राज्य के सिद्धान्त का यह अर्थ होता है कि सारा संसार छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो जाता है। आजकल के युग में

छोटे राज्य न अपनी स्वतन्त्रता की ही रक्षा कर सकते हैं और न अपने सीमित साधनों से देश का आर्थिक विकास।

(६) संघर्ष और युद्ध—अंत में संकुचित राष्ट्रीय भावना से ईर्ष्या उत्पन्न होती है जिससे राज्यों के बीच प्रलयंकारी युद्ध छिड़ जाते हैं। इसीलिए कहा जाता है कि उत्कट राष्ट्रीय भावना साम्राज्यवाद की जननी है। यह छोटे देशों की स्वतन्त्रता की शत्रु है।

निष्कर्ष—राष्ट्रीय भावना के गुण व दोषों को समझ लेने के पश्चात् प्रश्न उठता है कि इस विचार धारा की बुराइयों से किस प्रकार बचा जाय। इस प्रश्न का उत्तर यही है कि राष्ट्रीयता का विशुद्ध रूप संसार की सभ्यता का रक्षक तथा उसकी संस्कृति का पोषक है, परन्तु उसका वीभत्स रूप संसार की शांति के लिए भारी खतरा है। प्रत्येक राष्ट्र को स्वतन्त्रता का पूर्ण अधिकार है परन्तु दूसरे राष्ट्रों की आजादी छीनने का हक हासिल नहीं। संसार के राष्ट्रों को 'जियो और जीने दो' का पाठ सीखना चाहिए। तभी राष्ट्रीय भावना एक श्रेयस्कर गुण बनकर साम्राज्यवाद के सभी दोषों से बची रह सकती है।

साम्राज्यवाद (Imperialism)

उग्र राष्ट्रीयता या संकीर्ण राष्ट्रवाद को जब पूंजीपति और व्यवसायी वर्ग का आश्रय तथा सैनिक बल का सहारा मिल जाता है तो साम्राज्यवाद का जन्म हो जाता है। साम्राज्यवाद का अर्थ है शक्तिशाली राष्ट्रों द्वारा निर्बल राष्ट्रों पर अपने आर्थिक हितों की स्वार्थपूर्ति के लिए प्रभुत्व स्थापित करना। लेनिन ने 'साम्राज्यवाद को पूंजीवाद की अन्तिम अवस्था' का नाम दिया है। उसने बताया कि आधुनिक साम्राज्यवाद प्राचीन कालीन अथवा मध्यकाल के साम्राज्यवाद से बिलकुल भिन्न है। उस काल में साम्राज्यवादी आकांक्षा के पीछे योद्धाओं की व्यक्तिगत प्रेरणा, अथवा राजाओं की नई भूमि प्राप्त करने की इच्छा अथवा धार्मिक प्रचार की भावनाएँ होती थीं। परन्तु आधुनिक साम्राज्यवाद का स्वरूप आर्थिक है। यह उद्योगशील राष्ट्रों के बीच कच्चे माल तथा कारखानों में बनी वस्तुओं के लिए बाजार तलाश करने के संघर्ष का परिणाम है। जब पूंजीपति देश नये-नये बाजार तलाश करने के लिए छोटे देशों की स्वतंत्रता का अपहरण करते हैं तो पूंजीवाद साम्राज्यवाद का रूप ले लेता है। अंध राष्ट्रीय भावना भी साम्राज्यवाद को जन्म देती है, कारण इस भावना के वशीभूत हो उग्र राष्ट्रवादी अपने देश का ऐश्वर्य बढ़ाने के लिए दूसरे निर्बल राष्ट्रों को अपने अधीन कर लेते हैं; नाजी जर्मनी तथा फासिस्ट इटली का पिछले दिनों का इतिहास इसका साक्षी है।

साम्राज्यवाद और विश्व शांति—साम्राज्यवादी विचारधारा के अंतर्गत वह सभी दोष विद्यमान हैं जिनका उल्लेख हम उग्र राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में पहिले कर चुके हैं। यह विचारधारा संसार की शांति तथा प्रगति के लिए भारी खतरा है। जब तक एक शक्तिशाली राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को अपने अधीन कर अपनी स्वार्थ-सिद्धि के स्वप्न देखता है, तब तक संसार में स्थाई शांति कायम नहीं रह सकती। राष्ट्रों की स्वतन्त्रता तथा उनके आत्मनिर्णय के सिद्धान्त की स्वीकृति पर संसार की शांति कायम है। इसीलिए संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र में कहा गया है कि संसार के सब राष्ट्र समान हैं तथा उन्हें अपनी

स्वाधीनता बनाए रखने का पूरा अधिकार है। भारत सरकार भी इसी नीति में विश्वास करती है। उसने सदा उन देशों का साथ दिया है जो आज पद-दलित हैं तथा जो अपनी स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए साम्राज्यवादी शक्तियों के साथ संघर्ष कर रहे हैं।

आधुनिक जगत में कोई अन्तर्राष्ट्रीय संस्था अपने शांति स्थापना के उद्देश्य में उस समय तक सफल नहीं हो सकती, जब तक साम्राज्यवाद का कोई भी अंश बाकी है। पराधीन देश बड़े राज्यों की साम्राज्य-पिपासा को सजग रखते हैं। वह उनके बीच ऐसी डाह को जन्म देते हैं कि एक बड़ा राष्ट्र छोटे को पराजित कर अपने साम्राज्य विस्तार की योजनाएँ बनाता रहता है। पराधीन देशों की जनता भी अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए साम्राज्यशाही शक्ति के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष करती रहती है। इससे संसार की शांति को भारी खतरा बना रहता है। इसलिए आज संसार के समस्त राष्ट्रों का धर्म है कि वह संसार की शांति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए साम्राज्यवादी शक्तियों का मिल कर दमन करें।

अन्तर्राष्ट्रीयता (Internationalism)

अन्तर्राष्ट्रीयता मनुष्य के बन्धुत्व की एक उच्च हार्दिक भावना का नाम है। उग्र राष्ट्रवादिता के समान यह एक संकुचित विचारधारा नहीं। यह इस सिद्धान्त पर आधारित है कि संसार की समस्त जनता एक वृहद् परिवार का रूप है। सब मानव भाई-भाई हैं। उनमें एक दूसरे के प्रति स्नेह और श्रद्धा का भाव निर्माण होना स्वाभाविक है। संसार के समस्त प्राणियों के प्रति प्रेम और सद्भावना के कारण ही मनुष्य अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकता है। संकीर्ण विचार, घृणा, द्वेष, युद्ध और संघर्ष मनुष्य को पीछे ले जाने वाली शक्तियाँ हैं, आगे बढ़ाने वाले गुण नहीं। मानव समाज व्यक्ति, राष्ट्र और देश सब के ऊपर है। मानवता का कल्याण प्रत्येक व्यक्ति और राज्य का परम कर्तव्य है।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीयता एक सम्यक् दृष्टिकोण का नाम है, किसी विश्व संस्था का नहीं। अंतर्राष्ट्रीयता और विश्व सरकार पर्याय शब्द नहीं हैं, यद्यपि अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से ही विश्व सरकार की स्थापना में सहायता मिल सकती है।

हम पहिले देख चुके हैं कि राष्ट्रीयता का शुद्ध रूप अंतर्राष्ट्रीयता को जन्म देता है। इन दोनों भावनाओं में कोई विरोधाभास नहीं है। शुद्ध राष्ट्रवादी अपने देश की तथा अन्य देशों की स्वतन्त्रता का समान रूप से आदर करते हैं, वह सब देशों को समान समझते हैं, किसी देश की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं करते। साम्राज्यवाद का जन्म केवल उसी समय होता है जब राष्ट्रीयता की भावना विकृत रूप धारण कर लेती है।

अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के निर्माण में सहायक तत्व—अन्तर्राष्ट्रीयता का भाव आजकल बहुत व्यापक तथा लोकप्रिय हो रहा है। इसके कई कारण हैं :—

(१) यातायात के साधनों में क्रान्ति—आधुनिक काल में मनुष्य का सामाजिक जीवन केवल राष्ट्र की चहारदीवारियों में ही सीमित नहीं। वह आज विश्वव्यापी बन गया है। संसार में आवागमन के साधनों तथा विज्ञान की उन्नति के कारण क्रान्ति हो गई है जिसके

कारण सारा विश्व एक वृहद् समाज बन गया है। रेलगाड़ी, स्टीमशिप तथा वायुयानों ने उन बाधाओं का नाश कर दिया है जिनके कारण पुराने जमाने में एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से अलग जीवन व्यतीत करता था। टेलीफोन और वायरलेस के आविष्कार ने समस्त संसार को एक ही संगठन में आबद्ध कर दिया है।

(२) आर्थिक निर्भरता—आधुनिक युग में प्रत्येक देश को अपनी आर्थिक उन्नति के लिए दूसरे राष्ट्रों पर आश्रित रहना पड़ता है। कच्चे माल की प्राप्ति अथवा बने हुए माल की बिक्री के लिए अन्य बाजारों की खोज करनी पड़ती है। टेक्निकल तथा आर्थिक सहायता के लिए भी बड़े राष्ट्रों से माँग की जाती है। समूचे संसार का आर्थिक हित एक दूसरे से सन्निहित है। कोई भी राष्ट्र अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं नहीं कर सकता। इस प्रकार आर्थिक अन्योन्याश्रिता अंतर्राष्ट्रीय भावना को जन्म देती है।

(३) सांस्कृतिक एकता—आज सारे संसार की संस्कृति और सभ्यता समान हो गई है। एक देश का उत्कृष्ट साहित्य दूसरे देश के साहित्य को प्रभावित करता है। भारतवासी टाल्स्टाय की कहानियाँ, शेक्सपीयर के नाटक तथा एच० जी० वेल्स के उपन्यास पढ़ते हैं। वह अन्य देशों के चल-चित्रों को देखते हैं। यही हाल दूसरे देशों के निवासियों का भी है। इस प्रकार सारा विश्व सांस्कृतिक एकता के सूत्र में बँधता जा रहा है।

(४) युद्धों का भय—अंतर्राष्ट्रीयता के विकास में अणु बम तथा उद्‌जन बम की सहायता से प्रलयंकारी विश्व-युद्ध का डर भी सहायक हो रहा है। पिछले दो महायुद्धों में जन एवं धन के संहार को संसार की जनता अभी तक नहीं भूली है। वह एक तीसरे महायुद्ध द्वारा संसार की सभ्यता और संस्कृति का पूर्ण विनाश देखना नहीं चाहती।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संसार की जनता शनैः-शनैः यह अनुभव कर रही है कि जब तक स्वतंत्र देश एक दूसरे के साथ प्रेम और सद्‌भावना के साथ रहना नहीं सीखते, संसार का भविष्य अत्यंत अंधकारमय है। इस स्वस्थ भावना को हम अंतर्राष्ट्रीयता की विचारधारा ही कह सकते हैं। इसी विचारधारा का यह फल है कि अब संसार के छोटे-बड़े राष्ट्र परस्पर विश्वास, सद्‌भावना तथा सहयोग में विश्वास करने लगे हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना ने इस विचारधारा को और भी बल प्रदान किया है। यह सच है कि अभी तक इस 'संघ' को हम विश्व सरकार की संज्ञा नहीं दे सकते। इस संस्था में अनेक त्रुटियाँ हैं। अभी तक बहुत से स्वतंत्र राष्ट्र इसकी सदस्यता से भी वंचित हैं, परन्तु यह बात स्पष्ट है कि जो सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक कार्य यह संस्था कर रही है, वह अत्यन्त प्रशंसनीय है, और आगे चल कर यही संस्था विश्व सरकार का रूप धारण करेगी।

पंचशील सिद्धान्त—अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की दिशा में जहाँ संयुक्त राष्ट्र संघ का भाग बहुत महत्वपूर्ण है वहाँ विश्व तनाव की स्थितियों को दूर करने में पंचशील सिद्धान्त का भी भारी योग है। यह सिद्धान्त भारत और चीन सरकार के प्रधान मन्त्रियों के बीच हुई वार्ता के फलस्वरूप निश्चित किया गया था। इन सिद्धान्तों के अंतर्गत यह बतलाया गया है कि विश्व के समस्त राज्यों को दूसरी सरकारों के साथ अपने सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध कायम रखने के लिए किन बातों का ध्यान रखना चाहिए। संक्षेप में यह नियम इस प्रकार हैं :—

(१) अहस्तक्षेप—कोई एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करे।

(२) अनाक्रमणता—कोई एक राष्ट्र दूसरे स्वतन्त्र राष्ट्र की स्वाधीनता का अपहरण करने का प्रयत्न न करे।

(३) समता और पारस्परिक लाभ—सब राष्ट्र दूसरों के साथ बराबरी का व्यवहार करें तथा उनके अधिकारों का सम्मान करें।

(४) एक दूसरे की संप्रभुता तथा क्षेत्रीय एकता के लिए पारस्परिक सम्मान—सब राष्ट्र एक दूसरे की सम्प्रभुता को स्वीकार करें।

(५) शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व—संसार के सब राष्ट्रों को अपनी स्वतंत्र वैदेशिक व गृह नीति अपनाने का अधिकार है। विभिन्न विचारधाराओं के राष्ट्रों को भी एक दूसरे के साथ शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की भावना के साथ रहना चाहिए।

एशिया व यूरोप के अनेक राष्ट्रों ने पंचशील सिद्धान्तों के प्रति अपनी आस्था प्रकट की है। एशिया व अफ्रीकी देशों के पिछले बाडुंग सम्मेलन में भी इन सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया गया था। अन्तर्राष्ट्रीयता की विचारधारा को लोकप्रिय बनाने में इन सिद्धान्तों का योग ऐतिहासिक रहेगा।

विश्व सरकार

पिछले पृष्ठों में हमने अंतर्राष्ट्रीय विचारधारा को विश्व सरकार की स्थापना में सहायक बताया है। यहाँ हम विश्व सरकार के इतिहास तथा उसके पक्ष व विपक्ष की दलीलों के विषय में कुछ कह देना आवश्यक समझते हैं।

इतिहास—विश्व-राज्य प्राप्त कर विश्वविजयी कहलाने और विश्वसम्राट् की पदवी प्राप्त करने का अनेक राजाओं का स्वप्न बड़ा पुराना है। सिकन्दर महान् विश्व-राज्य स्थापित कर उसका शासक बनना चाहता था। रोम के शासकों की भी यही इच्छा थी। मध्य युग के पोप विश्वराज्य स्थापित कर ईसाई धर्म को विश्वधर्म बनाने की बात सोचा करते थे। दांते ने फ्रांस के सम्राट् के अन्तर्गत विश्वराज्य की कल्पना की थी। वह उसे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का साधन बनाना चाहता था। नेपोलियन भी विश्वराज्य के स्वप्न देखा करता था। अंग्रेजों ने तो एक समय ऐसा राज्य स्थापित भी कर लिया था जिसमें कभी सूरज नहीं डूबता था। हिटलर, मुसोलिनी और तोजो भी विश्वराज्य की कल्पना किया करते थे। लेकिन आधुनिक विश्वराज्य का आदर्श उक्त राजाओं, योद्धाओं और तानाशाहों की कल्पना से बिल्कुल भिन्न है। ये लोग निजी स्वार्थ-लिप्सा तथा अन्य हीनतर भावनाओं के वशीभूत होकर विश्वराज्य की कामना करते थे। आज हम विश्वराज्य इसलिए चाहते हैं कि उसके द्वारा राष्ट्रवाद और उसके वीभत्स राक्षसी रूप साम्राज्यवाद की बुराई से बच सकें। आधुनिक विश्वराज्य कल्पना में विश्वबंधुत्व, सहयोग, सद्भावना तथा विश्वशान्ति पर विशेष बल दिया जाता है। ऐसी सरकार की स्थापना का मुख्य उद्देश्य यह है कि अणुबम तथा उद्जन बम आदि जैसे भयानक शस्त्रों से मानवता की रक्षा हो सके और तीसरा प्रलयकारी विश्वयुद्ध न छिड़ने पाये।

विश्व सरकार की आवश्यकता क्यों है ?—जो विचारक विश्व सरकार की स्थापना के पोषक हैं, उनका कहना है (१) कि राष्ट्रवाद ने अंतर्राष्ट्रीय वैमनस्य और शंका का जो वातावरण उत्पन्न कर दिया है वह इससे दूर हो सकेगा। (२) अनेक राज्यों द्वारा अपनी जनता को भूखा मार कर तथा तरह-तरह के नये कर लगा कर जो रुपया सेना तथा शस्त्रीकरण पर व्यय किया जाता है वह विश्व-सरकार के अंतर्गत राष्ट्र-निर्माण कार्यों पर व्यय हो सकेगा। (३) विश्व सरकार की स्थापना के द्वारा एक राज्य के नागरिक दूसरे राज्य में आसानी से आ-जा सकेंगे और अपने विचारों का स्वतंत्रतापूर्वक आदान-प्रदान कर सकेंगे। (४) विश्व सरकार की स्थापना से अणुबम तथा परमाणुबम और उद्जन बम जैसे महाभयानक अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण पर रोक लगायी जा सकेगी। इससे मानवता सुख, सन्तोष और चैन की साँस ले सकेगी। (५) विश्व सरकार के अन्तर्गत व्यापार आदि पर कोई रोक न होगी। इसलिए सभी देशों का समान रूप से आर्थिक विकास हो सकेगा।

विश्व सरकार के विरुद्ध तर्क—विश्व सरकार के विरोधी वस्तुतः वे ही राजनीतिज्ञ हैं जो किसी बड़े राष्ट्र की सत्ता हथियाये बैठे हैं। वह ऐसी सरकार की स्थापना के विरुद्ध निम्न दलीलें देते हैं :(विश्व) सरकार की स्थापना में सबसे बड़ी समस्या यह है कि इस प्रकार की सरकार का संगठन किस प्रकार किया जाय ? यदि विश्व सरकार के सदस्य जनसंख्या के आधार पर चुने जाते हैं तो जनसंख्या प्रधान एशिया के देश—भारत और चीन—बाजी मार ले जायँगे, और यदि संगठन का आधार सभी राष्ट्रों का समान प्रतिनिधित्व रखा जाता है, तो एशिया के देशों के साथ अन्याय होने की सम्भावना है। (२) वर्तमान पश्चिमी शक्तियों का भय है कि उनकी प्रतिष्ठा, श्रेष्ठता, और शक्ति विश्व सरकार के कारण कम हो जायगी। (३) राष्ट्रीयता अब भी प्रभावशील तत्व है। जब तक इस विचारधारा का मोह कम नहीं होता विश्व सरकार की सफलता को खतरा बना रहेगा। लीग आफ नेशन्स की असफलता का मूल कारण भी यही भावना थी। आजकल संयुक्त राष्ट्र संघ को भी इसी संकुचित विचार-धारा के कारण अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। (४) विश्व सरकार की स्थापना से कुछ लोगों को यह भी डर है कि कहीं उनके व्यक्तिगत उद्यम और स्वतंत्रता की भावना नष्ट न हो जाय। इससे प्रगति अवरुद्ध होगी और उन्नति का मार्ग रुकेगा।

यह सच है कि विश्व सरकार के विरोधियों के तर्क अधिकतर स्वार्थ पर आधारित हैं; परन्तु वे कुछ व्यावहारिक कठिनाइयों की ओर भी ध्यान आकर्षित करते हैं। संगठन की समस्या सचमुच कठिन है और इसे सुलझाये बिना विश्व सरकार का निर्माण यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। लेकिन इस दिशा में प्रयत्न की आवश्यकता है भले ही प्रारम्भ में कुछ प्रयत्न विफल ही क्यों न हो जायँ।

क्या संयुक्त राष्ट्र संघ विश्व सरकार है ?

बहुत-से लोग विश्व सरकार की भावना तथा संयुक्त राष्ट्र संघ में भेद नहीं करते और समझते हैं कि यह संघ ही विश्व सरकार का रूप है। वास्तव में ऐसा समझना बिलकुल

गलत है। संयुक्त राष्ट्र संघ के संगठन, उद्देश्य तथा कार्यों का विवरण हम इसी पुस्तक के दूसरे भाग "भारतीय संविधान तथा नागरिक जीवन" में देंगे, परन्तु इतना हम यहाँ भी कह देना आवश्यक समझते हैं कि यह संघ अंतर्राष्ट्रीयता की भावना का प्रतीक है, विश्व सरकार का नहीं। किसी भी सरकार के लिए आवश्यक है कि उसके अधीन अपना विधान मण्डल, कार्यपालिका, न्यायपालिका, पुलिस, सेना तथा प्रशासनिक अधिकार हों। उसके अपने नागरिक हों जो केवल उसी राज्य के प्रति निष्ठा का अनुभव करें, किसी अन्य राज्य के लिए नहीं। उसकी निश्चित भूमि हो जिससे उसके कार्य-क्षेत्र का सही पता लग सके। अंत में उसे संप्रभुता प्राप्त हो, अर्थात् उसके नागरिक पूर्ण रूपेण उसकी आज्ञाओं का पालन करें तथा किसी दूसरी सत्ता के अधीन न हों।

विदित है कि संयुक्त राष्ट्र संघ में इनमें से कोई भी गुण विद्यमान नहीं है। उसकी अपनी साधारण सभा (जनरल ऐसेम्बली), सुरक्षा परिषद् तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अवश्य है, परन्तु इनको संसद, कार्यपालिका और न्यायपालिका समझ लेना भारी भूल है। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर शांतिपूर्ण और सहयोग के वातावरण में विचार करने के लिए इन संस्थाओं का निर्माण किया गया है, उन्हें किसी प्रकार के शासनिक अधिकार प्राप्त नहीं हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रत्येक सदस्य देश पूर्णरूपेण स्वतन्त्र है और यदि वह उसकी आज्ञा न माने तो उसे ऐसा करने के लिए कानून की दृष्टि से विवश नहीं किया जा सकता। जो प्रभाव जनमत का होता है, वैसा ही नैतिक दबाव संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्णयों को भी प्राप्त है। परन्तु जिस प्रकार बहुत से व्यक्ति जनमत की अवहेलना करते हैं, उसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्णयों को भी ठुकराया जा सकता है। दक्षिणी अफ्रीका कितने ही वर्षों से 'संघ' के मूल उद्देश्यों तथा उसके द्वारा रंग-भेद नीति के विरुद्ध प्रस्तावों को ठुकरा रहा है और संयुक्त राष्ट्र संघ इस विषय में कुछ भी नहीं कर पा रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ के पास कोई ऐसी सेना या हवाई शक्ति नहीं है जो सदस्य राष्ट्रों के विरुद्ध प्रयोग की जा सके। यदि किसी राष्ट्र के विरुद्ध कार्यवाही की आवश्यकता पड़ती है तो जिस प्रकार सामाजिक संस्थाओं द्वारा असहयोग तथा बहिष्कार का मार्ग अपनाया जाता है, उसी प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ भी अपने सदस्य राष्ट्रों से प्रार्थना करता है कि वह दोषी राष्ट्र को किसी प्रकार की आर्थिक या सैनिक सहायता न दे। केवल कोरिया के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र संघ ने कुछ देशों की संयुक्त सेना की सहायता से साम्यवादी आक्रमण को विफल करने का प्रयत्न किया था। परन्तु इस कार्यवाही को भी सभी देशों का सहयोग प्राप्त नहीं था।

विश्व सरकार की स्थापना के लिए यह आवश्यक होगा कि समस्त राष्ट्रों की सलाह से एक संघीय सरकार की स्थापना की जाय। प्रत्येक राष्ट्र अपने आंतरिक मामलों में स्वतंत्र हो, परन्तु कुछ सामान्य हितों की रक्षा के लिए वह अपनी संप्रभुता को सीमित करने के लिए उद्यत हो। राष्ट्रों की जनसंख्या के अनुपात से विश्व सरकार की संसद के लिए प्रतिनिधि चुने जायें, वह एक उत्तरदायी सरकार का निर्माण करें। विश्व न्यायालय के निर्णय सबके लिए बाध्य हों। विश्व सरकार के अधीन अपनी सेना हो। हो सकता है कि आगे चलकर संयुक्त राष्ट्र संघ विश्व सरकार का रूप धारण कर ले, परन्तु अभी वह लक्ष्य दूर है।

योग्यता-प्रश्न

१. राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता क्या है ? क्या ये दोनों अविच्छिन्न पारस्परिक सम्बन्ध रखते हैं ? (यू० पी०, १९३०)

२. आप राष्ट्रीयता से क्या समझते हैं ? उसके मुख्य सिद्धान्त क्या हैं ? (यू० पी०, १९३३)

३. राष्ट्रीयता की बुराइयाँ क्या हैं ? वे किस तरह समूल नष्ट की जा सकती हैं ?

४. सामाजिक व्याख्या के आधार पर राष्ट्रीयता के महत्व को समझाइये।

५. कौन से कारण हैं जिन्होंने अंतर्राष्ट्रीयता को जन्म दिया है ? आप राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता में किस तरह मेल स्थापित करेंगे ?

६. राष्ट्रीयता क्या है ? क्या उसे विश्व-अशांति का कारण समझना उचित है ?

७. वह कौन-से तत्व हैं जिनसे किसी राष्ट्र का संगठन होता है ? क्या भारत एक राष्ट्र कहा जा सकता है ? (यू० पी०, १९४७; पंजाब, १९५१, १९५५)

८. स्वदेश प्रेम और राष्ट्रीयता पर संक्षिप्त नोट लिखो। (यू० पी०, १९५२)

९. कोई भी अंतर्राष्ट्रीय संघ उस समय तक शांति की स्थापना नहीं कर सकता जब तक विश्व में "साम्राज्यवाद है।" इस कथन की व्याख्या कीजिये। (यू० पी०, १९५६)

१०. राष्ट्रीयता आधुनिक युग में महत्वपूर्ण भावना है। इस कथन की विवेचना करते हुए राष्ट्रीयता के गुण और दोष का वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १९५८)

११. विश्व सरकार के पक्ष और विपक्ष में अपने विचार प्रकट कीजिए। (यू० पी०, १९५८)

अध्याय २३

नागरिक आदर्श

नागरिक जीवन मे अधिकारो का स्थान

इस पुस्तक के पिछले अध्यायों मे हमने नागरिक जीवन का अर्थ तथा राज्य के सगठन का स्वरूप समझाने का प्रयत्न किया है। परन्तु यह समझने के पश्चात् आवश्यक है कि हम यह जानने का प्रयत्न करे कि वास्तव मे नागरिक जीवन का आदर्श क्या है? हम देख चुके हैं कि समाज का आदर्श नागरिक वही है जिसका जीवन अपने कर्तव्यो के उचित पालन तथा अधिकारो के समुचित ज्ञान पर अवलम्बित हो। हम यह भी देख चुके हैं कि नागरिक जीवन में विचार-स्वतत्रता, भाषण-स्वतत्रता तथा सगठन-स्वतत्रता का क्या महत्व है? जिस नागरिक के जीवन में इन स्वतत्रताओं को कोई स्थान नही मिलता, जो ऐसी सरकार के अन्तर्गत रहता है, जो नागरिको को किसी प्रकार के सामाजिक अधिकार प्रदान नही करती, जिस राज्य के अन्तर्गत सदा जीवन का भय बना रहता है, जहाँ जनता को जीविका उपार्जन के साधन नही मिलते, जहाँ धार्मिक स्वतत्रता नही होती तथा जहाँ जनता स्वतत्रतापूर्वक अपने विचारो को दूसरो पर व्यक्त नही कर सकती, वहाँ की जनता सुखी तथा उन्नतिशील जीवन व्यतीत नही कर सकती।

पिछले महायुद्ध के समय प्रेसीडेन्ट रूजवेल्ट ने कहा था कि प्रत्येक नागरिक को चार स्वतत्रताओ का अधिकार अवश्य मिलना चाहिए :—

(१) Freedom from want (भूखा मरने के भय से स्वतत्रता)।

(२) Freedom from fear (हर प्रकार के जीवन के प्रति भय से स्वतत्रता)।

(३) *Freedom of conscience* (किसी भी धर्म मे विश्वास करने की स्वतत्रता)।

(४) Freedom of speech (भाषण और विचार की स्वतत्रता)।

यदि ससार का सगठन इन चार स्वतत्रताओ के आधार पर किया जाय, यदि कोई एक देश दूसरे देश पर आक्रमण न करे, यदि साम्राज्यवाद की भावना का ससार से लोप हो जाय, यदि प्रत्येक मनुष्य को उसके आर्थिक अधिकार मिल सकें तो इस पृथ्वी पर साक्षात् स्वर्ग की स्थापना हो सकती है। नागरिक शास्त्र उसी विद्या का नाम है जो हमें इस पृथ्वी पर रहते हुए, हमारे सामाजिक जीवन में उन अच्छाइयो का निर्माण कराना सिखाती है, जिससे सारा विश्व निरन्तर बहते हुए झरनें के पानी के समान एक आनन्दमय जीवन का अनुभव कर सके। नागरिकता का आधार इसलिए मनुष्य के उन अधिकारो तथा स्वतन्त्रताओ की रक्षा पर निर्भर है जिनके द्वारा मनुष्य अपने व्यक्तित्व का पूर्ण रूप से विकास कर सकता है।

परन्तु यहाँ यह भी समझ लेने की आवश्यकता है कि मनुष्य जीवन में अधिकारों की रक्षा ही नहीं, कर्तव्य-पालन की भावना भी उतनी ही या शायद उससे भी अधिक आवश्यक है। आदर्श नागरिक को जानना चाहिए कि उसके भिन्न-भिन्न संस्थाओं तथा समुदायों के प्रति क्या कर्तव्य हैं और यदि उसके एक संस्था तथा दूसरी संस्था के प्रति कर्तव्यों में किसी प्रकार का संघर्ष है तो वह किस प्रकार दूर किया जा सकता है।

मनुष्य जीवन का शक्ति आदर्श

परन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि मनुष्य किसलिए अपने अधिकारों तथा स्वतन्त्रता की रक्षा या अपने कर्तव्यों की पूर्ति के झमेले में पड़ता है ? क्या वह अधिकारों के द्वारा संसार का ऐसा व्यक्ति बनना चाहता है जिसकी शक्ति तथा प्रभुता के सामने सारा विश्व थर्राये ? क्या वह शक्ति संचय करके अपने देश के नागरिकों को अपने नीचे दबाना तथा अपनी स्वार्थ-सिद्धि एवं विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करने की इच्छा से उनका शोषण करना चाहता है ? क्या वह अपने देश के नागरिकों के अधिकारों का हनन करके संसार के दूसरे स्वतन्त्र राष्ट्रों की स्वाधीनता को भी छीनना चाहता है ? यदि मनुष्य अपने नागरिक जीवन का यही आदर्श बनाये जिसमें कि साम्राज्यवादी (Imperialist) तथा फासिस्ट (Fascist) लोग ही विश्वास रखते हैं तो ऐसा आदर्श नागरिकशास्त्र द्वारा प्रतिपादित जीवन का नहीं, वरन् एक राक्षसी विद्या के जीवन का आदर्श होगा। इसी शक्ति-सिद्धान्त के कारण संसार में अधिकतर प्रलयंकारी युद्ध होते हैं; इसी सिद्धान्त में विश्वास के कारण पिछले दो महायुद्धों में हजारों और लाखों व्यक्तियों ने रणचण्डी के चरणों में अपने मधुर जीवन के पुष्प चढ़ाये। इसी राक्षसी प्रवृत्ति के कारण असंख्य नारियों और अबोध बालकों ने अपने पति और संरक्षकों का बलिदान किया, इसी भावना के आधार पर आज भी सारा विश्व भूख, महामारी तथा बेकारी की आग में झुलस रहा है।

सेवा या कर्तव्य-पालन का सिद्धान्त

आदर्श नागरिक को इसलिए शक्ति-सिद्धान्त का अवलम्बन नहीं करना चाहिए। उसे अपने जीवन का लक्ष्य संसार के दुखी, अपाहिज, भूख से पीड़ित तथा दरिद्रता से त्रस्त जनता की सेवा बनाना चाहिये। सेवा-धर्म की शिक्षा नागरिकशास्त्र की सबसे अनुपम शिक्षा है। यही अच्छे नागरिक जीवन का आदर्श है। विश्व के सारे धर्म, हमारे प्राचीन धर्मशास्त्र, संसार के सब महान् व्यक्ति, हमारे परम पावन अवतार—सब हमें इसी आदर्श की शिक्षा देते हैं। हमारा धर्म है कि हम अपने जीवन में दूसरे मनुष्यों के अधिकारों की रक्षा, अपने जीवन का ध्येय बनायें। हम अपने अन्दर पाशविकशक्ति का नहीं, वरन् आत्मिक-शक्ति का संचार करें। हमारा सारा जीवन सहयोगपूर्ण, संयमी, अनुशासित, प्रेम से ओतप्रोत, घृणा और स्वार्थपरता से दूर, सेवा और बलिदान की भावना से प्रभावित बने। हमें चाहिए कि हम अपने जीवन में घृणा के स्थान पर प्रेम, संघर्ष के स्थान पर सहयोग, अविश्वास के स्थान पर विश्वास और भेद-भाव के स्थान पर सहिष्णुता का पाठ सीखें। यदि संसार के सारे मनुष्य अपने अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यपालन की भावना पर अधिक

जोर दें तो अधिकारों की रक्षा स्वयं ही हो जायगी, और इससे भी अधिक विश्व समाज एक ऐसे निरन्तर आनन्द का अनुभव कर सकेगा जो केवल स्वर्गीय जीवन में ही मिल सकता है। हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की भी यही शिक्षा थी। उन्होंने संसार के सभी मनुष्यों को प्रेम, अहिंसा, कर्तव्य-पालन तथा एक नैतिक जीवन व्यतीत करने का पाठ पढ़ाया। इस प्रकार हम देखते हैं कि नागरिक आदर्श, नागरिकशास्त्र की शिक्षा, संसार के समस्त धर्म तथा हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के उपदेशों में पूर्ण साम्य है। जीवन में कर्तव्य-पालन तथा सेवा की भावना नागरिक जीवन का सबसे उच्च आदर्श है। यही इस शास्त्र की शिक्षा का निचोड़ है।

योग्यता-प्रश्न

१. स्वाधीन भारत के नागरिक का नागरिक आदर्श क्या होना चाहिये ? (यू० पी०, १९५२)

उपसंहार

Hindi Equivalents of Political Terms used in English

Absent Voting	अनुपस्थित मतप्रदान
Absolute	पूर्ण, अनियन्त्रित
Absolute Majority	स्वतन्त्र बहुमत
Absolute Monarchy	निरंकुश राजतन्त्र
Adjournment Motion	काम-रोको प्रस्ताव
Advisory Council	परामर्श-परिषद्, सलाहकारी मंडल
Agent Polling	उम्मेदवार का एजेण्ट
Anarchism	अराजकतावाद
Anarchist	अराजक
Anarchy	अराजकता
Arbitrary	स्वेच्छाचारी
Arbitration	मध्यस्थ का निर्णय, पंच निर्णय
Aristocracy	कुलीन-तन्त्र
Assembly	सभा
Assembly Constituent	संविधान सभा
,, Legislative	विधान सभा, धारा सभा
Autocracy	निरंकुश तन्त्र, स्वेच्छाचारी तन्त्र
Autocrat	निरंकुश, स्वेच्छाचारी
Autonomy, Provincial	प्रांतीय स्वराज
Award	पंच निर्णय , फैसला
Balance of Power	शक्ति-संतुलन
Ballot	मत-पत्र
Ballot-box	मतपत्र बक्स
Benevolent despot	हितैषी स्वेच्छाचारी
Blue-Book	सरकारी रिपोर्ट
Bonafide	प्रामाणिक, विश्वसनीय
Bourgeoisie	मध्यम श्रेणी का व्यक्ति
Budget	आय-व्यय अनुमान पत्र, आय-व्ययक
Buffer State	उदासीन राज्य

Bureaucracy	नौकरशाही, बाबूशाही
Bye election	उपनिर्वाचन
Bye-law	उपनियम
Cabinet Government	मन्त्रिमंडलात्मक सरकार, संसदीय सरकार
Candidature	उम्मेदवारी
Cast a Vote	मत देना, वोट देना
Casting Vote	निर्णायक मत
Catch word	संकेत शब्द
Caucus	गुप्त चुनाव कमेटी
Censure, Vote of	निन्दात्मक प्रस्ताव
Census	जन-गणना
Civil Government	असैनिक सरकार
,, Law	दीवानी कानून, असैनिक कानून
,, Liberty	नागरिक स्वतन्त्रता
Class Representation	श्रेणी-प्रतिनिधित्व
,, Struggle	श्रेणी संघर्ष
Class War	श्रेणी युद्ध
Classification	श्रेणी विभाग
Clause	धारा
Coalition Ministry	सम्मिलित मंत्री-दल
Commonwealth	राष्ट्रमण्डल
Communal award	साम्प्रदायिक निर्णय
,, Electorate	साम्प्रदायिक निर्वाचक संघ
,, Representation	साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व
Communalism	सम्प्रदायवाद
Communism	साम्यवाद
Constituency	निर्वाचन-क्षेत्र
Constituent Assembly	संविधान सभा
Constitution	संविधान
Constitution Flexible	सुपरिवर्तनशील संविधान
,, ,, Rigid	दुष्परिवर्तनशील संविधान
Constitutional	संविधान सम्बन्धी
Constitutional Law	संवैधानिक विधि या कानून
Constitutional Monarchy	संवैधानिक राजतन्त्र
Constitutionalism	संविधानवाद

Constructive	रचनात्मक
Consul	दूत
Contract theory	समझौता सिद्धांत, संविदा या अनुबंध सिद्धान्त
Co-opted Member	मिलाये हुए सदस्य
Council of State	राज्य-परिषद्
Coup d' etat	आकस्मिक राज्यपरिवर्तन
Court Criminal	फौजदारी अदालत, दंड-न्यायालय
Court Martial	सैनिक न्याय-सभा
Covenant	प्रतिज्ञा-पत्र
Cumulative Voting	एकत्रित मतप्रदान
Customs	आयात-निर्यात कर
De-jure Sovereignty	न्यायविधानानुमोदित सम्प्रभुता
Demogogue	सिद्धान्तहीन नेता
Democracy	प्रजातन्त्र
Despotic	स्वेच्छाचारी
Despotic Government	स्वेच्छाचारी सरकार
Dictator	तानाशाह
Diplomacy	कूटनीति
Diplomat	कूटनीतिज्ञ
Disfranchisement	मताधिकार हरण
Ecclesiastical	धर्म सम्बन्धी
Election	चुनाव
,, Bye	उपचुनाव
Election Direct	प्रत्यक्ष चुनाव
Election Fever	चुनाव की सरगर्मी
,, Indirect	अप्रत्यक्ष चुनाव
Elector	निर्वाचक
Electoral Campaign	निर्वाचन-युद्ध
,, College	निर्वाचक मण्डल
,, List	निर्वाचक सूची
,, Right	निर्वाचक अधिकार
Electoral Roll	निर्वाचक-सूची
Electorate	निर्वाचक
Embassy	दूतावास

Enfranchisement	मताधिकार-प्रदान
Exchequer	कोष
Exchequer, Chancellor of	वित्त मन्त्री
Excluded Area	पृथक् क्षेत्र
External Sovereignty	बाह्य राजसत्ता या बाह्य सप्रभुता
Extraordinary Session	असाधारण अधिवेशन
Federal	संघीय
,, Government	संघ-सरकार
,, Court	संघ-न्यायालय
Federalism	संघवाद
Federalist	संघवादी
Federal Law	संघीय कानून, संघीय विधान
Federal State	संघीय राज्य
Federation	संघ
Female Franchise	स्त्री मताधिकार
Feudal System	सामन्त प्रथा
Finance	राजस्व-शासन
Flexibility	परिवर्तनशीलता, लचीलापन
Franchise	मताधिकार
General Election	साधारण निर्वाचन
Government Popular	लोकप्रिय सरकार
,, Presidential	अध्यक्षात्मक सरकार, राष्ट्रपतिक सरकार
,, Unitary	एकात्मक सरकार
Habeas Corpus	शारीरिक स्वाधीनता-पत्र
Impeachment	सार्वजनिक दोषारोपण
Imperialism	साम्राज्यवाद
Imperialist	साम्राज्यवादी
Import	आयात
Initiative	प्रस्तावाधिकार
Interpellation	प्रश्न
Jurisdiction	अधिकार-सीमा
Jurisprudence	कानून-विज्ञान, विधान विज्ञान
Jus Gentium	अन्य जातियों सम्बन्धी कानून
Jus Naturale	प्राकृतिक कानून
Joint Electorate with reserva-	सुरक्षित स्थानयुक्त संयुक्त

tion of seats	निर्वाचन प्रणाली
Kinship	जाति सम्बन्ध
Law	कानून, विधि
,, Administrative	शासन सबधी कानून, शासनीय विधान
,, Constitutional	सवैधानिक कानून
,, Federal	सघ कानून
,, International	अन्तर्राष्ट्रीय कानून
,, Natural	प्राकृतिक नियम
,, Positive	मानवी कानून
,, Private	निजी कानून
,, Public	सार्वजनिक कानून
Legislative Assembly	विधान सभा
Legislative Council	विधान परिषद्
Limited Vote Plan	सीमित मत-प्रथा
Mandate	शासनादेश
Matriarchal Theory	मातृप्रधान सिद्धान्त
Monarchical	राजतन्त्रीय
Monarchy	राजतन्त्र
Natural Born Citizen	जन्म-जात नागरिक
Naturalized	राज्यदत्त नागरिक
Naturalisation	नागरिककरण
Nominal Sovereignty	नाम मात्र की राजसत्ता,
Ochlocracy	झुण्ड तन्त्र
Opening Ceremony	उद्घाटन समारोह
Paramountcy	सर्वोच्चता
Patriarchal State	पितृ-प्रधान राज्य
Patriarchal Theory	पितृ-प्रधान सिद्धान्त
Plutocracy	धनिक तन्त्र
Plebiscite	लोकमत सग्रह
Polling Agent	निर्वाचन एजेण्ट
Polling Officer	मत लेने वाला अफसर
Portfolio	मन्त्री का कार्य विभाग सरकार
Presidential Government	अध्यक्षात्मक सरकार, राष्ट्रपतिक
Prime Minister	प्रधान-मन्त्री
Proportional Representation	आनुपातिक मतप्रदान प्रथा

Quorum	कार्य निर्वाहक संख्या, गणपूर्ति
Quota	निर्धारित भाग
Republic	लोकतंत्र, गणतंत्र, प्रजातंत्र
Revolution	क्रान्ति
Referendum	जनमत संग्रह
Recall	प्रत्यावर्तन
Secular State	लौकिक राज्य, धर्मनिरपेक्ष राज्य
Socialism	समाजवाद
Sovereignty	संप्रभुता या राजसत्ता
,, Nominal	नामधारी राजसत्ता या संप्रभुता
,, De facto	तथ्यतः राजसत्ता या संप्रभुता
,, De jure	विधानतः संप्रभुता
,, External	बाह्य संप्रभुता
,, Internal	आंतरिक संप्रभुता
,, Legal	कानूनी अथवा वैध संप्रभुता
,, Political	राजनीतिक संप्रभुता
Separate Electorate	प्रथम निर्वाचन-प्रणाली
Theocracy	धर्मतंत्र शासन
Titular Executive	नाम मात्र का शासन
Tyranny	अत्याचारी शासन
Tyrant	अत्याचारी शासक
Universal	सार्वभौम
Universal Suffrage	सर्व मताधिकार
Unwritten Constitution	अलिखित संविधान
Urban Constituency	नगर-निर्वाचन-क्षेत्र
Vote of Censure	निन्दात्मक प्रस्ताव
Vote, Single Transferable	एकल हस्तांतरणीय मत
Voter	मतदाता
Voting by Proxy	प्रतिनिधि द्वारा मतप्रदान
Ways and Means	उपाय और साधन
Weighted Representation	प्रभावयुक्त प्रतिनिधित्व
Whip of party	दल का सचेतक
Wirepullers	सूत्रधार
Women Franchise	स्त्री मताधिकार
Written Constitution	लिखित संविधान